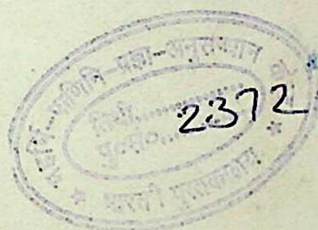
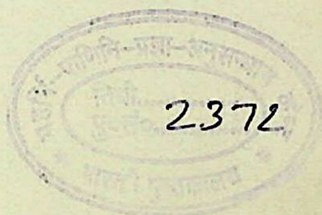
ैलास



सम्पूर्णानन्द


2372

चिद्विलास



ज्ञानमण्डल-ग्रन्थमालाका ३०वाँ ग्रन्थ

चिद्विलास



सम्पूर्णानन्द

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य : [illegible] रुपये

प्रथम संस्करण सं० [illegible]
द्वितीय संस्करण सं० २००८
तृतीय संस्करण सं० २०१६

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस)—१
मुद्रक—ओम्‌प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५५०२-१६


2372



श्री गुरुदेव



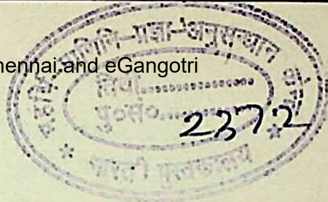
ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो यो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं यो जनयामास पूर्वं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

सत्यनामरसज्ञाय, मायाध्वान्तापसारिणे ।
देशिकेन्द्र नमस्तुभ्यम्, निःशेषानन्दमूर्तये ॥

धर्म्मव्रतचरो लोके, सर्वो भवतु सर्वदा ।
अस्तु सर्वः स्वरूपस्थः, सर्वः श्रेयांसि पश्यतु ॥



उपोद्घात

आजसे तीन वर्ष पहिले मैंने कारागृहमें 'जीवन और दर्शन' नामकी पुस्तक[1] लिखी थी। उसमें यह दिखलानेका प्रयत्न किया गया था कि विचारशील मनुष्यके सामने ऐसी बहुत-सी समस्याएँ आती हैं जिनको सुलझाये बिना वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं हो सकता। समस्याएँ नयी नहीं हैं, इसलिए इनके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे इस समयतक बहुत-से मत प्रतिपादित किये गये हैं। उपर्युक्त पुस्तकमें इनमेंसे मुख्य मतोंका दिग्दर्शन करा दिया गया था। इनमें कौन-सा समीचीन है अर्थात् व्यापक रूपसे हमारे सब प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है, इसका निर्णय पाठकपर छोड़ दिया गया था। मुझे स्वयं कौन-सा मत ठीक जँचता है यह स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा गया था, यद्यपि कोई भी पाठक पुस्तक देखकर मेरे स्वारस्यका कुछ-कुछ अनुमान कर सकता है।

प्रश्नोंको उठानेके कारण मेरा एक प्रकारसे कर्तव्य हो गया कि उनके वह उत्तर भी उपस्थित करूँ जो मुझको ठीक प्रतीत होते हैं। पहिली पुस्तकको पढ़नेके बाद कई मित्रोंने मुझे इस कर्तव्यकी याद दिलायी। मैंने इसे स्वीकार किया। सच तो यह है कि इस प्रकारकी एक पुस्तक लिखनेका मेरा बहुत दिनोंसे विचार था। कई वर्ष हुए महात्मा गान्धीने मेरी लिखी 'समाजवाद' नामक पुस्तक पढ़कर मुझको लिखा था कि उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि समाजवादी होते हुए भी मैं मार्क्सके दार्शनिक मतका पूरा समर्थन नहीं करता। मैंने यह बात स्वीकार की और उनसे निवेदन किया कि मेरा दर्शनके सम्बन्धमें एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखनेका विचार है। उन्होंने कृपा करके मुझको इस प्रयासके लिए प्रोत्साहित किया।

---

१. इण्डियन प्रेस, प्रयागसे प्रकाशित।

इसको छ वर्ष हो गये। अबतक उस विचारको कार्यमें परिणत करनेका अवसर नहीं मिलता था। ब्रिटिश सरकारकी कृपासे अब समय मिला है। पिछले तीन वर्षोंमें दो वर्ष और चार महीने कारवासमें बीते हैं। अभी और दिन इसी प्रकार जायँगे। भारतकी राजनीतिक परिस्थिति-पर इससे अच्छी और क्या टिप्पणी हो सकती है कि दर्शनके सम्बन्धमें अध्ययन और मनन करने तथा पुस्तक लिखनेका अवकाश बन्दीगृहमें ही मिलता है।

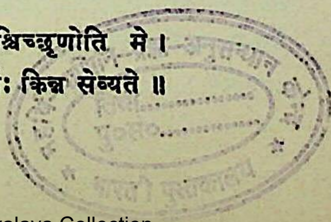
दर्शनका विषय पुराना है, समस्याएँ पुरानी हैं, परन्तु आज इन समस्याओंने नया रूप धारण किया है। एक महासमरके घाव सूखने न पाये थे कि दूसरा छिड़ गया। युद्धकी भीषणता इतनी बढ़ गयी है कि यदि ऐसे ही एकाध संग्राम और हुए तो सभ्यताका नाम मिट जायगा और जहाँ जनसंकुल नगर बसे हैं वहाँ श्वापदाकीर्ण जङ्गल देख पड़ेंगे। मनुष्यने प्रकृतिपर विजय पायी, परन्तु धर्मबुद्धिको विकसित करना भूल गया। परिणाम यह हुआ कि वह अपने ज्ञानको अपने संहारका साधन बना बैठा है। विज्ञानकी उन्नतिने यह सम्भव बना दिया है कि प्रत्येक मनुष्य सुखसे रह सके, परन्तु जितना दैन्य, दारिद्रय और दुःख आज है, उतना स्यात् ही कभी रहा होगा; यन्त्रोंके द्वारा थोड़े समयमें बहुत काम हो जाता है, परन्तु किसीके पास अवकाश देख नहीं पड़ता और जिसके पास अवकाश है वह उसका उपयोग नहीं जानता; मनुष्य एक-दूसरेके जितने निकट आज हो सकते हैं उतना कभी पहले सम्भव नहीं था, परन्तु जितना कलह, द्वेष, पार्थक्य, शोषण आज हो रहा है उतना पहले कभी भी न था। विश्वसंस्कृति और विश्वशान्तिका सुयोग आया-सा प्रतीत होता है, परन्तु बर्बर युगकी सूचना देनेवाले अपशकुनोंसे दिगन्त आच्छन्न है।

यह सब समस्याएँ भारतवासियोंके भी सामने हैं। इनके अतिरिक्त हमारे कुछ दूसरे प्रश्न भी हैं। इस समय भारत परतन्त्र है। पारतन्त्र्य सदा बुरा होता है, पर इस युद्धकालमें भारतीयोंको अपनी जघन्य दशाका जैसा कटु अनुभव हुआ है इसके पहिले कभी नहीं हुआ था। कोई-न-कोई

विजेता होगा; युद्धोत्तर कालमें पृथिवीकी नयी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था होगी; परन्तु इस पुनर्निर्माणमें भारतके निवासियोंका कोई हाथ न होगा। उनसे इस विषयमें कोई सम्मति माँगने नहीं आता। जो अपना घर नहीं सँभाल सकता वह पृथिवीभरका क्या प्रबन्ध करेगा? भारतीयोंके हृदयपर इसकी चोट है। वह इस दैन्यका अन्त करना चाहते हैं। ऐसी आशा होती है कि अनतिदूर भविष्यमें उनकी इच्छा पूर्ण होगी। उस दिन क्या होगा? भारत अपनी स्वतन्त्रताका क्या उपयोग करेगा? आभ्यन्तर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाका क्या आधार होगा और अन्ताराष्ट्रीय प्रश्नोंपर भारतका क्या दृष्टिकोण होगा?

इन प्रश्नोंके उत्तर कई प्रकारसे दिये जा सकते हैं। एक प्रकार तो वह है जिसका अबतक अवलम्बन किया गया है। उसका एक नाम समयोपयोगिता या अवसरवाद है; दूसरा नाम अतन्त्रवाद है। लोग अपनेको अवसरवादी कहना पसन्द नहीं करते, परन्तु उनके आचरण पुकार-पुकारकर उनके अवसरवादी होनेका साक्ष्य देते हैं। अपना स्वार्थ एक-मात्र लक्ष्य है; यदि दूसरेका हित उसकी तृप्तिमें बाधक होता है तो उसे कुचल डालना होगा। इसका यह परिणाम है कि वैयक्तिक और सामूहिक जीवनमें कोई दृढ़ सूत्र मिलता ही नहीं। जैसा व्यवहार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके साथ नहीं करता वैसा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके साथ कर सकता है; जो मनुष्य लाखों रुपये लगाकर औषधालय और धर्मशाला खोल सकता है वही अपने कारखानेमें काम करनेवाले श्रमिकका रक्त चूस लेना बुरा नहीं समझता; जो अध्यापक विद्यार्थियोंके चरित्रको शुद्ध करनेके लिए नियुक्त किया गया है वह रुपयोंके लालचसे झूठा इतिहास और समाजशास्त्र पढ़ाकर उनके चित्तमें द्वेष और ईर्ष्याका विष भर देता है। और फिर हम इस बातपर आश्चर्य करते हैं कि पृथिवीतलपर शान्ति क्यों नहीं है। व्यासने एक बार कहा था—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च, स धर्म्मः किन्न सेव्यते॥



(मैं हाथ उठाकर कहता हूँ परन्तु कोई सुनता नहीं कि धर्मसे अर्थ और काम प्राप्त होते हैं, उस धर्मका सेवन क्यों नहीं किया जाता ?) व्यासका यह कथन पाँच सहस्र वर्ष पुराना हुआ। बीच-बीचमें और लोगोंने भी इस बातको दुहराया, परन्तु जगत्का व्यवहार न बदला। कोई अपनी इच्छापर तन्त्र माननेको तैयार नहीं है।

इस उपायकी परीक्षा हो ली। यह शान्ति नहीं ला सकती। तब मनुष्यको दूसरा उपाय ढूँढ़ना पड़ता है। दूसरे उपायका बीजक सहयोग ही हो सकता है। उसमें वैयक्तिक और सामुदायिक आचारको एक ही सूत्रमें बाँधना होगा और इसी सूत्रपर जीवनके सभी अङ्गोंका ग्रथन करना होगा। आज एक ओर तो यह आशा की जाती है कि मनुष्य इतना उच्चाशय है कि दूसरोंकी सम्पत्ति और स्वाधीनताकी रक्षाके लिए अपने प्राणोंको न्योछावर कर देगा, दूसरी ओर वह इतना नीच समझा जाता है कि एक-एक टुकड़े रोटीके लिए दूसरोंका गला काटनेको तैयार हो जायगा। दोनों बातें होती हैं : वह प्राण भी देता है और गला भी काटता है। यह असामञ्जस्य दूर होना चाहिये। जिसके लिए प्राण दिया जाता है उसके साथ मिलकर रोटी खाना भी सीखना चाहिये।

यह बात कोरे उपदेशोंसे नहीं हो सकती। साधु-महात्मा सहस्रों वर्षोंसे ऐसे उपदेश देते आये हैं। कुछ लोगोंने उनकी बात मानी, शेषने अनसुनी कर दी। स्वार्थ और सङ्घर्षका चक्र पूर्ववत् चलता रहा। सहस्र-सहस्र व्यासपीठोंसे घोषणा होती रही—

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः॥

और साथ ही जाति-भेद, वैभव-भेद, बल-भेद, अधिकार-भेदके आधार-पर कोटि-कोटि मनुष्योंका उत्पीड़न भी जारी रहा और तमाशा यह कि समदर्शनका शुकपाठ पढ़ानेवाला विद्वत्समुदाय यह सब खड़ा-खड़ा देखता रहा। इतना ही नहीं, जलती झोपड़ियोंपर उसने भी अपने हाथ सेंके।

यदि समाजको ठीक तरहसे चलाना है तो उसका सङ्घटन किसी सिद्धान्तके आधारपर होना चाहिये; राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति, शिक्षा, आचार, अन्ताराष्ट्रीय व्यवहार, सबको किसी एक आधारपर खड़ा करना चाहिये। यह आधार तब निश्चित हो सकता है जब जगत्का स्वरूप समझ लिया जाय। यह जगत् क्या है ? जगत्में जीवका क्या स्थान है ? जीवका स्वरूप क्या है ? मनुष्य-जीवनका लक्ष्य क्या है ? इन प्रश्नोंके उत्तरपर ही समाजके संव्यूहनका आधार निश्चित किया जा सकता है और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय हो सकता है। जो शास्त्र इन मौलिक प्रश्नोंको अपना विषय बनाता है उसको दर्शन कहते हैं।

दर्शनका यह महत्त्व है कि वह ज्ञान और जीवनके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डालता है। उसका सम्बन्ध विचारके ऊँचेसे ऊँचे स्तर और व्यवहारके नीचेसे नीचे स्तरसे है। वह थोड़े-से पण्डितोंके वाग्युद्धकी सामग्री नहीं है। दर्शन जगत्को समझने और उसको उन्नत बनानेका श्रेष्ठ-तम साधन है।

मैंने दर्शनका सदैव इसी दृष्टिसे अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तकमें मेरे अध्ययनका फलितार्थ पाठकके सामने है।

पुस्तक समाप्त करनेपर या स्यात् विषय-सूचीको पढ़कर किसी ओरसे यह आक्षेप किया जा सकता है कि इसमें वही पुराना सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है जिसको शाङ्कर अद्वैतवाद या मायावाद कहते हैं। मैं इसको स्वीकार करता हूँ। मेरा यह दावा नहीं है कि मैं किसी नये वादका प्रवर्तक हूँ। यदि मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि शाङ्कर अद्वैतवाद हमारी पहेलियोंको सुलझाता है और हमको कर्तव्यका पथ दिखलाता है तो उसका समर्थन करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। आजकल माया शब्द कुछ लोगोंमें एक विचित्र विभीषिका उत्पन्न कर देता है। जो सत्यका अन्वेषण करना चाहता है उसको यह जानना चाहिये कि पसन्द-नापसन्दसे सत्यके स्वरूपपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि जगत् मिथ्या है तो उसको सत्य मानना अपनेको धोखेमें डालना

है। केवल हाथ-पाँव हिलाते रहना कर्म भले ही हो, पर उसको बुद्धिमत्ता-का काम नहीं कह सकते। प्रशंसनीय कर्म वही हो सकता है जो किसी प्रशंसनीय उद्देश्यका साधक हो और उद्देश्यकी प्रशंसनीयता परिस्थितिसे पृथक् नहीं की जा सकती। मरुभूमिमें पानीकी खोजमें इधर-उधर दौड़ना बुद्धिमान्का काम नहीं है। जगत्के स्वरूपको पहिचाननेका यत्न करना चाहिये और यदि वह मिथ्या प्रमाणित हो तो अपनी कर्मशैलीको भी तदनुरूप बनाना चाहिये।

यह पूछा जा सकता है कि अद्वैतवादपर नयी पुस्तक लिखनेकी क्या आवश्यकता थी। इसका पहिला उत्तर तो वही है जो प्रत्येक ग्रन्थकार अपनी पुस्तकके सम्बन्धमें दे सकता है। पुस्तक स्वान्तःसुखाय लिखी गयी है। ग्रन्थकारका भाव अपनी पुस्तकके प्रति वही होता है जो कलाकारका अपनी कृतिके प्रति होता है। कमलके परिमल, मयूरके नृत्य, पिकके कलकण्ठके विषयमें किस कविने नहीं लिखा है? सबमें कालिदास जैसी प्रतिभा नहीं होती, परन्तु जब पहिले-पहिले सौन्दर्यकी अनुभूति होती है तो प्रत्येकको वैसा ही रस मिलता है जैसा कभी किसी महाकविको मिला होगा। उसके लिए वह आनन्द अपूर्व होता है और व्यञ्जन चाहता है। बीजमें निहित सर्जन-शक्ति अंकुरित और पल्लवित होकर ही कृतार्थ होती है। इसी प्रकार यदि किसीको जगत्के रहस्यका कुछ भी परिचय मिल जाता है तो वह ज्ञान व्यक्त होकर, कृति-रूपमें मूर्त होकर ही चैन लेने देता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने, शङ्करने, विद्यारण्य और वाचस्पतिने उसी बातको बहुत सुन्दर शब्दोंमें कह दिया है, बड़े ही अकाट्य प्रमाणोंसे पुष्ट किया है, फिर भी उनके बहुत-से परवर्तियोंने इस विषयपर लेखनी उठायी है, आगे भी उठायेंगे। इसमें संसारका कल्याण है। यदि नये विचारक उन सनातन सत्योंको समय-समयपर नयी वेशभूषामें उपस्थित न करते रहें तो ज्ञानका स्रोत सूख जाय। नये प्रतिपादककी भूलें भी प्रतिपाद्य विषयकी उत्तमताकी ओर ध्यान आकृष्ट कर सकती हैं।

पुस्तक स्वान्तःसुखाय लिखी गयी है, इसलिए इसमें कुछ ऐसी बातें

हैं जो पुराने आचार्योंके ग्रन्थोंमें न मिलेंगी। उनके सामने वह प्रश्न नहीं थे जो हमको व्यथित करते हैं, इसलिए हमारी अनुशीलन-पद्धतिका भी उनसे भिन्न होना स्वाभाविक है। पाश्चात्य देशोंमें दर्शन अबतक बौद्धिक रञ्जनका विषय रहा है। भारतके विद्वानोंने उसको मोक्षशास्त्र माना है। मैं भी ऐसा ही मानता हूँ, परन्तु मेरे लिए विषयका प्रवेशद्वार पहिलेसे भिन्न है। बार-बार जन्म और मरणका भय दिखलाना, माताके उदरमें पड़े अर्भकके कल्पित कष्टोंकी जुगुप्सित कहानी सुनाते रहना, मुझे अच्छा नहीं लगता। यह बातें भी ध्यान देनेकी हैं। जो मूढ़धी बारम्बार जन्म-मरण, दुःख और अविद्यासे छुटकारा पानेकी बात नहीं सोचते वह दयनीय हैं, दुर्लभ और अमूल्य नरदेहको फेंक रहे हैं। परन्तु प्रायशः मृत्यु उतनी भयानक घटना नहीं होती जितना कि कुछ साधु-महात्माओंकी पोथियोंमें दिखलाया जाता है। हाथ-पाँव ऐंठना इस बातका सूचक तो है कि प्राण शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे खिंच रहा है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मुमूर्षुको गहरी पीड़ा हो रही है। बहुधा नाडिसंस्थान शिथिल पड़ जाता है और मस्तिष्क काम नहीं करता, इसलिए अनुभूति होती ही नहीं। ऐसी पोथियोंमें प्रायः यह भी लिखा रहता है कि प्रसववेदनासे व्यथित होकर गर्भस्थ शिशु भगवान्से प्रतिज्ञा करता है कि अब धर्माचरणरत रहूँगा और तुम्हारी भक्ति करूँगा। यह सब कथन कल्पनामात्र है। बार-बार जन्म-मरणका होना अर्थात् बार-बार शरीर धारण करना जीवके अज्ञानका परिणाम है। अज्ञान स्वतः हेय है, उससे कई प्रकारकी हानि होती है, परन्तु जन्ममरणके दुःसह दुःखके अतिरञ्जित चित्र किसी विचारशील मनुष्यको प्रभावित नहीं कर सकते। अविचारशील हठी स्वभाववाले भी ऐसी बातोंसे नहीं घबराते। इसी प्रकार वैराग्यको दृढ़ करनेके लिए ऐसी पोथियोंमें बहुत-सी ऐसी बातें कही जाती हैं जो निःसार और निन्द्य होती हैं। स्त्रियोंकी निन्दा और उनके शरीरके गोप्य अङ्गोंका विस्तृत वर्णन करके बुरा-भला कहना कुरुचि और अभद्रताका द्योतक तो है ही, उससे यह भी ध्वनि निकलती है कि कहनेवाला स्वयं विरक्त

नहीं है और गाली देनेके बहाने उन वस्तुओंका वर्णन करके अपनेको तृप्त कर रहा है जिनके लिए उसका चित्त लालायित है। स्त्रियोंकी निन्दा करनेवालोंको यह नहीं सूझता कि पुरुषकी निन्दा भी प्रायः उन्हीं शब्दोंमें की जा सकती है। ऐसी दुर्बल नींवपर ज्ञानका सुदृढ़ दुर्ग नहीं उठ सकता।

मेरी समझमें पुरुषार्थोंकी विवेचना मोक्षाभिमुख ले जानेका प्रशस्ततर मार्ग है। अर्थ और काम मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। यह शास्त्रकी अपेक्षा नहीं करतीं। विचारशील मनुष्यको इन्हीं प्रवृत्तियोंसे धर्मकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है और धर्म उसको मोक्षकी ओर ले चलता है। ज्ञान स्वतः उपादेय है; क्षुद्र प्रलोभन और भय उसकी उपादेयताको बढ़ा नहीं सकते।

विज्ञानने जगत्के प्रतीयमान रूपपर बहुत प्रकाश डाला है। दार्शनिक इस वैज्ञानिक प्रगतिकी उपेक्षा नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दर्शन विज्ञानका अनुचर बन जाय। दर्शन विज्ञानके विभिन्न अङ्गोंका स्वामी है। वह उनकी सामग्रीका उपयोग करता है, उनका समन्वय करता है और उनकी भूलें भी दिखलाता है। दर्शन स्वयं विज्ञानकी शाखा नहीं है, परन्तु वैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर उससे प्रकाश पड़ना चाहिये। ज्यों-ज्यों विज्ञान आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसके सामने ऐसे प्रश्न आते हैं जिनको दर्शन अपना क्षेत्र मानता रहा है। यहाँ दर्शन और विज्ञान मिलते हैं। दर्शनमें हमको वह सेतु मिलना चाहिये जो भौतिक-अभौतिक, दृश्य-अदृश्य, ज़ड़-चेतनको मिलाता है।

क्षिति, अप, तेज, वायु, आकाश, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्राचीन शब्द हैं। इनकी सहायतासे भारतीय विद्वान् भौतिक जगत्के स्वरूपको समझाते रहे हैं। परन्तु यदि इन शब्दोंके वही अर्थ हैं जो सांख्य, न्याय और वैशेषिकके प्रचलित वाङ्मयमें किये जाते हैं तो ऐसा मानना होगा कि जो लोग इन शब्दोंसे काम लेते हैं वह सत्यसे बहुत दूर हैं। इस क्षेत्रका विज्ञानने भी मन्थन किया है। अभी उसकी खोज समाप्त नहीं हुई है। सम्भव है वह आगे चलकर अपने कई सिद्धान्तोंको बदल दे। फिर भी

जितना निश्चित रूपसे ज्ञात है उतनेसे ही हम इस बातके लिए विवश हो जाते हैं कि या तो इन शब्दोंको और उस विचारधाराको, जिसमें इनको स्थान मिलता है, छोड़ दें या फिर इनकी नयी निरुक्ति करें।

नयी निरुक्ति करनेमें किसी दार्शनिकको लज्जित होनेकी बात नहीं है, परन्तु मेरी यह धारणा है कि इन शब्दोंका प्राचीनतम अर्थ हम आज भूल गये हैं। इस अर्थका निरूपण मैंने अंशतः 'भारतीय सृष्टिक्रम-विचार'-में किया था। प्रस्तुत पुस्तकमें उसका विशदीकरण किया गया है। यह निरुक्ति विज्ञानके अनुकूल है। निःसन्देह मेरे ऊपर वैज्ञानिक सिद्धान्तोंका प्रभाव पड़ा है, परन्तु मेरा विश्वास है कि वैज्ञानिक मतमें कभी संशोधन हुआ तब भी यह मीमांसा रह जायगी। यहाँ दर्शनको विज्ञानके पीछे नहीं चलना है, परन्तु जहाँ विज्ञान नहीं पहुँच सका है वहाँ अपना प्रकाश डालना है। यदि कहीं विज्ञान दार्शनिक मतकी पुष्टि करता है तो विज्ञान और दर्शन दोनोंको इस सुयोगका स्वागत करना चाहिये।

दर्शन और विज्ञानका विरोध नहीं है। एकसे दूसरेको सतत सहायता मिलनी चाहिये। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय विद्वानोंका इस साहचर्यकी ओर ध्यान नहीं गया। विज्ञानके और अङ्ग चाहे न रहे हों, परन्तु गणितमें इस देशने बड़ी उन्नति की थी। गणित और दर्शनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। दिक्, काल और कार्यकारणशृङ्खला दोनोंके विचारणीय विषय हैं। परन्तु न तो हमारे प्रमुख गणिताचार्योंमें कोई उल्लेख्य दार्शनिक हुआ और न दार्शनिकोंमें कोई गणितका ज्ञाता हुआ। अभीतक यही परम्परा चली आ रही है कि जो पण्डितगण दर्शनका अध्ययन करते हैं वह साहित्य और व्याकरण तो पढ़ते हैं, परन्तु गणितसे दूर रहते हैं। मैंने इस पुस्तकमें स्थल-स्थलपर गणितशास्त्रसे जो उदाहरण लिये हैं उनसे विषयको समझनेमें सहायता मिलती है। विज्ञानके अङ्गोंमें गणितका विषय सबसे सूक्ष्म है। तर्कशास्त्र और गणितमें बहुत सादृश्य है। भारतीय दार्शनिकोंको इस ओर ध्यान देना चाहिये।

हमारे प्राचीन दार्शनिक वाङ्मयमें दो बड़ी त्रुटियाँ हैं। एक तो यह है कि उसमें कलाके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा गया है। यह मान लिया गया है कि दर्शन शुष्क विषय है, उसका कलासे कोई सम्बन्ध नहीं है। साहित्यके विद्वानोंने रसका विचार करते हुए सौन्दर्यानुभूतिके सम्बन्धमें कुछ कहा है, पर उनका निरूपण अधूरा है। वस्तुतः यह दर्शनका विषय है। मैंने इसीलिए सौन्दर्यानुभूति और कलाके विवरणका समावेश किया है।

पुराने वाङ्मयमें सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें आचारके विषयमें कहीं विवेचन नहीं किया गया है। धर्मकी चर्चा तो बहुत हैं, परन्तु धर्मके स्वरूपके विषयमें तात्त्विक विचार नहीं मिलता। धर्मकी कोई सार्वभौम परिभाषा भी नहीं दी गयी है। जैमिनि कहते हैं— 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म्मः'—जिसकी घोषणा, आज्ञा, वेदमें की गयी है वह धर्म है। यह धर्मकी परिभाषा नहीं है। 'जो खानमें मिलता है वह सोना है' कहनेसे सोनेके उद्गमका पता चलता है, उसके स्वरूपका बोध नहीं होता। कणाद 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः'—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो वह धर्म है—कहकर जैमिनिसे तो आगे जाते हैं, परन्तु वस्तुतः यह वाक्य भी धर्मका स्वरूप नहीं वरन् उसका फल बतलाता है। कर्मके परिणामके सम्बन्धमें तो बहुत शास्त्रार्थ मिलता है, परन्तु सत्कर्मके सम्बन्धमें इतना सङ्केत पर्याप्त समझ लिया गया था कि जो श्रुति कहे वह धर्म, सत्कर्म, कर्तव्य है। तैत्तिरीय उपनिषद्में गुरु शिष्यसे कहता है—'यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः'—यदि तुमको कर्म (श्रौतस्मार्त यज्ञादि कर्म) या वृत्त (आचार) के सम्बन्धमें विचिकित्सा हो तो जो विचारशील मृदुस्वभाव धर्मकाम कर्मरत ब्राह्मण हों उनका अनुकरण करना। यह आदेश व्यवहारमें भले ही काम दे जाय, परन्तु शङ्काकी निवृत्ति करनेका इसमें कोई उपाय नहीं

बतलाया गया है। इसी प्रकार जब मनुस्मृति कहती है कि आचारके सम्बन्धमें 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः'—श्रुति, स्मृति, सदाचार और जो अपनेको प्रिय लगे प्रमाण है, तब भी यही कहना पड़ता है कि यह कर्तव्यकी ठीक परख नहीं हुई। अपनेको जो प्रिय लगता हो—यह तो ऐसा मार्ग है जिसमें पदे-पदे शङ्का होती है।

यह सब आदेश आज पर्याप्त नहीं माने जा सकते। लोग दार्शनिकसे वैयक्तिक और सामूहिक धर्म, सदाचारका स्वरूप पूछते हैं। वह जानना चाहते हैं कि सत्कर्म क्या है? कर्मकी अच्छाईकी क्या परख है? धार्मिक आचरणके पक्षमें क्या हेतु है? आज दार्शनिकको राजनीति और अर्थनीति, दण्डविधान और शिक्षाके सम्बन्धमें सम्मति देनी होगी और मार्ग दिखलाना होगा। यदि वह स्वतन्त्र रूपसे ऐसा नहीं कर सकता तो उसका दर्शन निकम्मा है।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि दर्शन इन प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है। इसके लिए उसको किसी श्रुति या आप्त पुरुषकी शरणमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। इस पुस्तकके एक बड़े अंशमें इन्हीं प्रश्नोंपर विचार किया गया है।

दर्शनके स्वरूपको ठीक-ठीक न समझनेका ही यह परिणाम हुआ है कि आज वेदान्तका अर्थ अकर्मण्यता हो गया है। गीताके भगवद्वाक्य होनेका ढिंढोरा पीटनेवाले उसमें प्रतिपादित नैष्काम्यको अकर्मण्यता समझते हैं। विदेहराज, राम और कृष्णके कर्मठ जीवनोंकी कथा पढ़ते हैं; यह जानते हैं कि व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र, बुद्धदेव, महावीर, शङ्कराचार्य, कबीर, नानक आदिने संसारको मिथ्या मानते हुए भी कर्ममय जीवनको अपनाया, फिर भी, कर्मसे भागना ही त्याग समझ लिया गया है। इसलिए लोकसंग्रह-बुद्धि शिथिल पड़ गयी है। कुछ न करना, लोगोंके दुखी जीवनोंको सुधारनेका सक्रिय उपाय न करना, अपना पेट भर लेना तप माना जाता है; जो लोकसेवामें लगता है उस-पर अँगुलियाँ उठती हैं। लोग इस बातको भूल गये हैं कि देवगण

अपने आध्यात्मिक सुखको छोड़कर निरन्तर लोकहितमें लगे रहते हैं, वशिष्ठ जैसे योगीश्वर ब्रह्मज्ञानी लोकहितके लिए मोक्षसे मुँह मोड़कर पुनः मनुष्य-शरीर धारण करते हैं, बोधिसत्त्व निर्वाणकी ओरसे मुँह फेरकर लोकहितके लिए एक बार माताके गर्भमें प्रवेश करते हैं। इन पुराने आदर्शोंकी विस्मृतिने हमको कहींका न रखा। योगी और सच्चा दार्शनिक होना तो कठिन है ही, हम कर्मशील सद्गृहस्थ, अच्छे नागरिक भी न रह पाये। जिन तपोधनोंने उपायान्तरके अभावमें लोकहितके लिए राजा वेणको अपने हाथों मारा उनकी कथा हम भूल गये; आज वही महासाधु है जो समाजके धक्‌धक् जलते हुए विशाल भवनपर एक छींटा पानी डालनेका दायित्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहता।

मैंने कई स्थलोंपर साग्रह कहा है कि योगाभ्यासके बिना दार्शनिक ज्ञान नहीं हो सकता। आज निदिध्यासनकी परिपाटी उठ गयी है। वेद-विद्यालयों, विश्वविद्यालयों और पाठशालाओंमें पुस्तकें रटी जाती हैं। आजसे कई सौ वर्ष पहिलेके शास्त्रार्थोंमें जो तर्क काम आते थे वह आज भी कण्ठस्थ कर लिये जाते हैं। दर्शनका कर्म और साक्षात्कारसे इतना विच्छेद हो गया है कि अपने सम्बन्धमें 'ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'की उक्ति करनेवाला श्रीहर्ष भी वेदान्तकी शिक्षा देनेका अधिकारी समझा जाता है। संन्यासी तो बहुधा ग्रन्थ पढ़नेका भी श्रम नहीं उठाते। उनको चारों महावाक्योंको दुहरा लेनेसे ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है! जो लोग सायंप्रातः सन्ध्या करते समय ठीकसे तीन प्राणायाम नहीं कर सकते वह छात्रोंको योगशास्त्रके रहस्य समझानेका दुःसाहस करते हैं।

मैं यह नहीं कहता कि पुस्तकोंको न पढ़ना चाहिये। यदि ऐसा समझता तो इस पुस्तकको लिखता ही क्यों। पुस्तक श्रवण और मननकी सामग्री है, परन्तु केवल श्रवण और मननसे काम नहीं चल सकता। साक्षात्कारके लिए, अपना और जगत्‌का स्वरूप जाननेके लिए, योगाभ्यास अनिवार्यतया आवश्यक है। इसमें विभाषाके लिए स्थान ही

नहीं है। समाधिमें ही साक्षात्कार होता है। जो इस मार्गपर जितना ही आगे बढ़ता है उसको उतना ही विशद, विशङ्क, ज्ञान होता है। समाधिके एक क्षणकी तुलनामें पठन-पाठन और मननका सहस्र वर्ष भी नहीं ठहरता। शर्कराके सम्बन्धमें एक पुस्तकालयभर ग्रन्थ लिखे और पढ़े जा सकते हैं, परन्तु उसका स्वाद वही जानता है जिसकी जिह्वापर कभी एक बताशा पड़ा है। श्रोत्रियताकी कमीसे वह दूसरोंतक अपने ज्ञानका कोई भी अंश चाहे न पहुँचा सके, परन्तु वह स्वयं उस आनन्दका अनुभव करता है जो ज्ञानका नित्य आनुषङ्गिक है। सच तो यह है कि कोई भी अनुभव दूसरेतक यथार्थरूपमें नहीं पहुँचाया जा सकता। मेरे जैसे अल्पज्ञ जिस बातको कहनेमें बिगाड़ देंगे उसीको जो बहुश्रुत मेधावी होगा वह सुबोध बना देगा, परन्तु जो तत्त्व अवाङ्मनसगोचर है उसको स्वयं भारती भी शब्दबद्ध नहीं कर सकतीं। भारतके बाहरके विद्वानोंने दर्शनका योगसे कोई सम्बन्ध नहीं माना है। यदि दर्शन कोरा बुद्धिविलासका विषय होता तो यह विभाजन ठीक हो सकता था। दार्शनिक मत या तो साक्षात्कारका परिणाम है या कल्पनामात्र है। जगत्‌के स्वरूपको समझनेके प्रयत्नमें कई ऐसी ग्रन्थियाँ मिलती हैं जिनको तर्क नहीं खोल सकता। वह या तो प्रत्यक्ष अनुभवसे खुलती हैं या बँधी ही रह जाती हैं।

मुझे बारम्बार योगकी प्रशंसा और कोरे पाण्डित्यकी निन्दा करते देखकर यह प्रश्न मुझसे पूछा जा सकता है कि क्या तुम स्वयं योगी हो? मैं इस सम्बन्धमें इतना ही निवेदन करूँगा कि सद्गुरुकी कृपाने मुझमें योगके प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न कर दी है। मैंने योग और ज्ञानके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है वह सबका सब मेरे अनुभवका परिणाम हो या न हो, किन्तु मेरे दृढ़ विश्वासका व्यञ्जक निःसन्देह है। इतना ही और कहना चाहता हूँ कि आजकल जो यह विश्वास फैल गया है कि हम एतत्कालीन मनुष्य योगाभ्यास करनेके योग्य नहीं हैं, इसके लिए कोई आधार नहीं है। आजका मनुष्य भी योग कर सकता है; योगका स्थान कोई दूसरी उपासना-शैली नहीं ले सकती।

यह न तो मनोविज्ञानकी पुस्तक है, न कर्तव्यशास्त्रकी, न उपासना, धर्मशास्त्र, योग या कलाकी। इसमें इन सब विषयोंका थोड़ा-बहुत सन्निवेश हुआ है, परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। अध्यात्मशास्त्र वह प्रकाश देता है जिसकी सहायतासे अज्ञानका अन्धकार दूर किया जा सकता है। जगत्के स्वरूपको पहिचान लेनेसे सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओंका निर्ग्रन्थन हो जाता है। अध्यात्मज्योति समस्त जीवनको विशङ्क और शुभ्र बना सकती है। मुझको विश्वास है कि जो दार्शनिक सिद्धान्त इस पुस्तकमें प्रतिपादित है वह सभी दृग्विषयोंको, विज्ञानके सभी अङ्गोंको, योग, आचार, उपासना और कलाको, एक सूत्रमें बाँधनेमें समर्थ है। जो लोग इन प्रश्नोंमें रुचि रखते हों उनको गम्भीर मननसे काम लेना चाहिये। शङ्काओंका उत्थापन और निराकरण तथा आध्यात्मिक प्रकाशमें विभिन्न शास्त्रोंका विस्तार न केवल बुद्धिविलास और व्यक्तिकी मानस तुष्टिका साधन होगा प्रत्युत इससे लोकका भी बहुत कल्याण होगा।

पुस्तक तीन खण्डोंमें विभक्त है। पहिले खण्डमें प्रायः ऐसे विचार हैं जिनका उपयोग सारी पुस्तकमें हुआ है। इसीलिए उसको आधारखण्ड कहा गया है। इसमें प्राप्त हुए कुछ निर्णीतार्थोंको विस्तृत विचारके बाद द्वितीय खण्डमें बदलना भी पड़ा है। दूसरे खण्डका नाम ज्ञानखण्ड है। इसमें ही मुख्य विषयका प्रतिपादन है। तीसरे खण्डमें, जैसा कि उसके नाम धर्मखण्डसे प्रकट होता है, धर्म-सम्बन्धी विमर्श है।

दो शब्द पारिभाषिक शब्दोंके विषयमें कहना है। कुछ नये शब्द तो मुझको बनाने पड़े हैं, परन्तु अधिकतर शब्द वही हैं जो भारतीय दर्शनके सभी विद्यार्थियोंको परिचित हैं। परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि संवित्, प्रत्यय, प्रज्ञान आदि पुरानी पुस्तकोंमें सर्वत्र ठीक उन्हीं अर्थोंमें व्यवहृत हुए हैं जिनमें मैंने उनका प्रयोग किया है। वस्तुस्थिति यह है कि इन शब्दोंके सर्वतन्त्रसम्मत अर्थ हैं ही नहीं। विपर्यय और अध्यास जैसे शब्दोंको मैंने समानार्थक मान लिया है, यद्यपि इनके प्रतितन्त्र प्रयोगोंमें भेद है।

सत्य सार्वदेशिक है। उसको भौगोलिक सीमाओंमें नहीं बाँधा जा सकता। सांस्कृतिक क्षेत्रको पक्षपातसे कलुषित न होने देना चाहिये। सत्य न तो प्राचीके हाथ बिका है, न प्रतीचीके। दर्शनको प्राच्य और पाश्चात्य नामके दो विभागोंमें बाँटना भ्रामक और कृत्रिम है।

इसी प्रकार दर्शनका किसी सम्प्रदाय-विशेषसे नित्य सम्बन्ध नहीं है। मैं ऐसा मानता हूँ कि सभ्यता और संस्कृतिका समुदय सबसे पहिले आर्य जातिमें हुआ और पूर्व युगोंके तपस्वियोंने ऋषियों और मनुओंका शरीर धारण करके सबसे पहिले आर्य जातिको आत्मज्ञानका मार्ग दिखलाया। इसलिए ज्ञान और योगका सबसे प्राचीन और परिपूर्ण भण्डार वेद है। इस देशमें यह परम्परा कभी लुप्त नहीं होने पायी, आप्त पुरुष बराबर अवतरित होते रहे। उन लोगोंने ऐसे कुलोंमें जन्म लिया जो सनातनधर्मावलम्बी थे, उनके श्रोता भी प्रायः इसी सम्प्रदायके अनुयायी थे। इसलिए स्वभावतः उनकी भाषा और निरूपणशैलीपर वह छाप पड़ी जिसको लौकिक व्यवहारमें हिन्दुत्व कहते हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञानी होनेके लिए हिन्दू-कुलमें जन्म लेना, संस्कृतको पवित्र भाषा मानना या हिन्दू ढङ्गकी उपासना करना आवश्यक नहीं है। इस देशके महाभाग आचार्योंने योगाधिकारमें जाति, कुल या सम्प्रदायको स्थान नहीं दिया है। मोक्षपदवी इन क्षुद्र भेदोंसे ऊपर है, उसका पथ असंकीर्ण है।

दर्शन शुष्क शास्त्र माना जाता है। जो लोग अपने भावुक हृदयोंकी तृप्ति ढूँढ़ते हैं उनके लिए दर्शन सचमुच नीरस है। अद्वैतवाद किसी ऐसे लोककी आशा नहीं बँधाता जहाँ पहुँचकर जीव दिव्य सङ्गीत, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूपका नित्य अनुभव करेगा, वह तो जीवकी सत्ताकी अनुभूतिको भी नहीं रहने देना चाहता; वह तप, विरति और योगाभ्यासका आदेश करता है। यह सब बातें कहने, सुनने और करनेमें कड़ुवी हैं, परन्तु परमश्रेयस्का यही रूप है कि वह आदिमें विषवत् प्रतीत होता है परन्तु अन्तमें अमृतोपम देख पड़ता है। घूँट कड़ुआ है,

परन्तु पीनेके साथ ही प्राण पीयूषमय हो जाते हैं। यही वह सोमरस है जिसकी महिमा वेद गाते हैं। पराविद्या परमानन्दरूपा है।

मैं अपनी त्रुटियोंको जानता हूँ। बहुत-से स्थलोंपर निबन्ध दुरूह और दुर्बोध हो गया होगा, बहुत-सी शंकाएँ अनिवारित रह गयी होंगी; मेरी अल्पज्ञता, अल्पमेधाविता और प्रमादके कारण कहीं-कहीं विषयका अन्यथा प्रतिपादन हो गया होगा; विमत-प्रतिवचनमें कहीं-कहीं दुर्विनीत भाषाका प्रयोग हो गया होगा और शास्त्रोंकी निरुक्ति और मीमांसा करनेमें वितथाख्यान हो गया होगा। इसके लिए क्षमायाची हूँ। इन दोषोंके रहते भी यदि यह पुस्तक किसी पाठकमें सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न करने और किसीको कर्तव्यका मार्ग दिखलानेमें समर्थ हुई तो मैं अपनेको धन्य मानूँगा।

अपने विदित अविदित अपराधोंके लिए क्षमाकी प्रार्थना कर चुका हूँ। यदि पुस्तकमें कुछ भी उपादेय है तो उसके लिए मैं पुराकालके पथिकृत् ऋषियोंसे लेकर आजतकके सभी सत्यसाक्षात्कर्ताओं और विचारकोंका ऋणी हूँ। इन्हीं लोगोंने हमारे ज्ञानकोषको रत्नपूरित करके मनुष्यको सभ्य और संस्कृत बनानेका और परमपुरुषार्थ प्राप्त करनेका अवसर दिया है। जिन श्रीगुरुचरणोंकी प्रभाने अपने शीतल स्पर्शसे मेरे जीवनको पुनीत किया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए धृष्टता होगी।

मेरे पुराने छात्र डाक्टर ब्रह्मानन्द अग्निहोत्रीने इसकी पाण्डुलिपिको पढ़ा था। वह पढ़ते जाते थे और मैं सुनता जाता था। उनको इससे कोई लाभ हुआ या नहीं यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु उनकी उक्त-अनुक्त शंकाओंके निराकरण करनेमें बीच-बीचमें कई बातें मेरे ध्यानमें आती गयीं जिनका मैंने यथास्थान सन्निवेश कर दिया है। देवगण डाक्टर अग्निहोत्रीका कल्याण करें।

सेण्ट्रल प्रिज़न, बरेली
२३ वृश्चिक, २०००

सम्पूर्णानन्द

विषय सूची

ज्ञानखण्ड

धर्मखण्ड

आधारखण्ड

पहिला अध्याय

दर्शनशास्त्रका विषय

१. पुरुषार्थाधिकरण

मनुष्य चेतन है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको चेतन जानता है। मैं चेतन हूँ या नहीं, इस सम्बन्धमें कोई मनुष्य किसी साक्षीकी आवश्यकता नहीं समझता। स्वानुभूतिको ही इस क्षेत्रमें प्रमाणका पद प्राप्त है। हम चेतन हैं इसलिए हममें अनेक प्रकारकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, वासनाएँ, एषणाएँ—यह सब शब्द मिलते-जुलते अर्थोंमें विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं—समय-समयपर उठती रहती हैं; राग एक ओर खींचता है, द्वेष दूसरी ओर; सुख ऊपर उठाता है, दुःख नीचे डुबाता है। चित्तके इन परिणामोंके फलस्वरूप हम शरीरसे विभिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं। चेष्टा-सादृश्यसे ही अपनेसे बाहर चेतनाके अस्तित्वका अनुमान करते हैं। जिस शरीरकी चेष्टाएँ जितनी ही हमसे सदृश होती हैं हम उस शरीरमें उतनी ही अधिक चेतना या चेतनाका उतना ही अधिक विकास मानते हैं।

हमारी एषणाओंमें एक ऐसी है जो यावज्जीवन बनी रहती है। इसका रूप है—मैं न मरूँ। कीटाणुसे लेकर मनुष्यतकमें यह पायी जाती है और प्रतिक्षण विद्यमान रहती है। साधु हो या राक्षस, कोई यह नहीं सोचता कि मेरे जीनेसे क्या लाभ है, बस जीता रहना चाहता है। जीवन-प्रदीपका जलता रहना कुछ उपकरणोंपर निर्भर करता है। इनमें भोजन, वस्त्र और घर मुख्य हैं। इनको सामूहिक रूपसे धन या सम्पत्ति कह सकते हैं। सम्पत्ति आकर भी छिन सकती है, इसलिए स्वभावतः यह भी इच्छा होती है कि सामाजिक व्यवस्था ऐसी हो जिसमें जीवन और सम्पत्तिकी रक्षा हो और सम्पत्ति-उपार्जन किया जा सके। स्वास्थ्य, सम्पत्ति,

सामाजिक सुव्यवस्था—इन सबका अधिकसे अधिक उपयोग और उपभोग मैं करूँ, यह मनुष्यमात्रकी प्रबलतम इच्छा रहती है। सम्पत्ति और व्यवस्थाके रूपमें परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इच्छाका मूल रूप ज्योंका त्यों रहता है। इस पुरुषार्थ—पुरुषके अर्थ या लक्ष्य—को अर्थ कहते हैं।

मनुष्यमें प्रायः इतनी ही प्रबल एक दूसरी एषणा है। इसकी पूर्ण रूपसे अभिव्यक्ति प्रायः चौदहसे अठारह वर्षके वयमें होती है। इसको रति-एषणा या कामवासना कह सकते हैं। वयस्क पुरुषको स्त्री और वयस्क स्त्रीको पुरुषकी खोज होती है। यह वासना बहुतसे पशुपक्षि-कीटादिमें भी पायी जाती है और कभी-कभी तो जीवितेच्छासे भी प्रबल हो उठती है। इसीसे संलग्न सन्तानेषणा होती है। पुरुष और पुरुषसे भी बढ़कर स्त्रीको सन्तानकी भूख होती है। पुरुषके बिना स्त्री अधूरी रहती है, स्त्रीके बिना पुरुष अधूरा रहता है। खाना-पीना सब-कुछ हो, पर अकेले पुरुष और अकेली स्त्रीको अपनेमें कुछ सूना-सूना-सा लगता है। स्त्री-पुरुषका मिलना केवल दो शरीरोंका मिलना नहीं होता, दो चित्त मिलकर एक होते हैं, एककी कमी दूसरेसे पूरी होती है, दोनों मिलकर एक अपूर्व योग प्रस्तुत होता है। यदि वर-वधूका चुनाव ठीक हुआ है तो दम्पतीको जिस सुखका अनुभव होगा वह उनको अन्यथा कदापि नहीं मिल सकता था। खान-पीना, विश्राम करना, घूमना-फिरना, घरका प्रबन्ध करना, सभी कामोंमें एक विलक्षण रस मिलता है। परन्तु, यदि दम्पतीकी गोद सूनी हो, घरमें बच्चे न हों, तो गृहस्थी फिर भी फीकी रह जाती है। मनुष्य, विशेषतः स्त्रीके स्वभावमें कई ऐसे गुण हैं जो बच्चोंके अभावमें खिलते ही नहीं। सन्तानमें माता-पिता अपने 'स्व'का संवृद्ध रूप देखते हैं; सन्तानके सुख-दुःख, जय-पराजयमें अपने आत्माका विकास और सङ्कोच प्रतीत होता है। जिस प्रकार अपने लिए स्वास्थ्य और सम्पत्तिकी अभिलाषा की जाती है उसी प्रकार सन्तानके लिए भी की जाती है। इस पुरुषार्थको काम कहते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। कुछ विशेष व्यक्ति कुछ विशेष

अवस्थाओंमें भले ही कुछ कालके लिए समाजसे दूर चले जायँ, परन्तु सामान्यतः मनुष्यको समाजमें रहना अच्छा लगता है। इससे कुछ तो प्रत्यक्ष लाभ होते हैं। सबको अपना हित, अपना ही अर्थ और काम, भले ही अभीष्ट हो, परन्तु इस इच्छाकी पूर्ति भी समुदायमें अच्छी होती है। शत्रुओंपर आक्रमण और उनसे बचाव, जंगल काटकर खेत और घर बनाना, बड़े बनैले पशुओंको भगाना—यह सब काम मिलकर ही किये जा सकते हैं। इसके सिवाय, मनुष्यके स्वभावकी कई ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो समाजमें ही सफल हो सकती हैं। यदि उनको प्रस्फुटित होनेका अवसर न मिले तो मनुष्यका चरित्र अपूर्ण रह जायगा। दया, करुणा, सहानुभूति, उदारता, त्याग, क्षमा, सहिष्णुताने मनुष्यको मनुष्य बनाया है, पर इन गुणोंका विकास समाजमें ही हो सकता है। जब कई मनुष्य एक साथ रहेंगे तो यह असम्भव है कि सब केवल अपने-अपने अर्थ और कामकी बात सोचें। एक-एक फलके पीछे लड़ाई होगी, एक स्त्रीके पीछे बीसों पुरुषों और एक पुरुषके पीछे बीसों स्त्रियोंके प्राण चले जायँगे। समाजमें पागलखाने और कसाईखानेका सम्मिलित दृश्य देख पड़ेगा। इससे सबके स्वार्थोंकी हानि होगी। इसलिए आरम्भिक कालमें ही कुछ व्यावहारिक नियम बन गये जिनका परिणाम सामाजिक जीवनको सम्भव बनाना हुआ। इस कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि उस आरम्भिक कालके मनुष्योंने पञ्चायत करके ऐसे नियम बनाये। इन नियमोंके बीज तो मनुष्यकी प्रकृतिमें वर्तमान थे। बहुतसे तिर्यक् प्राणी भी समाज बनाकर रहते हैं। उनमें भी कुछ व्यावहारिक नियम देख पड़ते हैं। जिस बौद्धिक विकासने समाजमें रहनेको प्रेरित किया उसीने दूसरोंके साथ रहना भी सिखाया। पीछेसे मनुष्यने इन प्रवृत्तियोंको अधिक उन्नत रूप दिया और समाजको सभ्य और संस्कृत समाज बनाया।

समाजमें सब अपना अर्थ और काम सिद्ध करना चाहते हैं, इसीसे अधिकारों और कर्तव्योंकी शृङ्खलाएँ बन जाती हैं। जो कुछ दूसरोंको हमारे साथ करना है, जो हमको दूसरोंसे पाना है, वह हमारा अधिकार

है; जो हमको दूसरोंके साथ करना है, जो दूसरोंको हमसे पाना है, वह हमारा कर्तव्य है। यदि सम्भव होता तो मनुष्य अपने अधिकारोंकी मात्रा बढ़ा देता और कर्तव्योंकी घटा देता। परन्तु कर्तव्य ही अधिकारकी रक्षा करते हैं, इसलिए जिसके जितने अधिकार होते हैं, उसके उतने ही कर्तव्य होते हैं। बुरे लोग अपने अधिकारों और दूसरोंके कर्तव्योंको बराबर ध्यानमें रखते हैं। इससे दौर्मनस्य फैलता है और संघर्ष बना रहता है। अच्छे लोग इसके विपरीत करते हैं। वह अपने कर्तव्योंका ही विचार सामने रखते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करे तो सबको अपने-अपने अधिकार अनायास प्राप्त हो जायँ। जो कर्तव्यका पालन करना चाहता है उसके लिए कर्तव्यको पहचानना परमावश्यक है। कर्तव्यका क्षेत्र संकुचित नहीं है। समाज शब्दका संकीर्ण अर्थ भी लिया जा सकता है, परन्तु वस्तुतः वह सब प्राणी जिनके सहयोगसे हमारी जीवनयात्रा हो रही है, हमारा अर्थ और काम सिद्ध हो रहा है, हमारे समाजके अङ्ग हैं। उन सबका हमारे ऊपर उपकार है, उन सबके हमारे प्रति अधिकार हैं, उन सबके प्रति हमारे कर्तव्य हैं। जहाँतक कि हम इन कर्तव्योंको पहिचाननेका यत्न नहीं करते वहाँतक हमारी कृतघ्नता है और हम चोरीके अपराधी हैं। यदि एक बार यह भाव दृढ़ हो जाय तो बुद्धिमें अधिकारों-का, अपने अर्थ और कामका स्थान गौण हो जाता है और कर्तव्योंका, पूर्णरूपेण सर्वतोमुख कर्तव्यपालनका, स्थान श्रेष्ठ हो जाता है। कर्तव्यपालन अधिकार-प्राप्तिके साधनके पदसे उठकर स्वतः साध्य बन जाता है। हमारा सम्बन्ध कीट-पतङ्ग-पशु-पक्षियोंसे है, मनुष्योंसे है, अपने कुटुम्बियोंसे हैं; यदि किसी प्रकारके देवशरीरी हैं तो उनसे है। वह सब अपने-अपने ढङ्गसे हमको प्रभावित कर रहे हैं, सबका भिन्न-भिन्न प्रकारका ऋण हमपर है, इसलिए सबके साथ प्रत्युपकार, सबकी सेवाका प्रकार भी एक-सा नहीं हो सकता। परन्तु यदि अपना कर्तव्य सम्यक्रूपेण पहिचाना जा सके और उसका सम्यक्रूपेण पालन किया जाय तो जगत्-में निःसीम सुख-समृद्धिका राज्य हो और प्रत्येक व्यक्तिका अनायास

सर्वतोमुख अभ्युदय हो। जो अपने अर्थ और कामको जितना ही भुला सकेगा वह कर्तव्यको पहचानने और उसका पालन करनेमें उतना ही सफल होगा। इसलिए कर्तव्यको पहिचानना और उसका पालन करना जीवनका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस पुरुषार्थको धर्म कहते हैं।

हम देख चुके हैं कि धर्मके दो अङ्ग हैं, उनको पहिचानना और पहिचानकर पालन करना। पहिले प्रथम अङ्गको लीजिये। यों तो लोकाचार, शिष्टाचार, कुलाचार और शास्त्रादेशसे व्यवहारके लिए मार्ग मिल ही जाता है और इस मार्गपर चलनेवालेसे लोग प्रायः प्रसन्न भी रहते हैं, परन्तु गम्भीर विचारक इतनेसे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह आचरणके पीछे 'क्यों' पूछे विना रह नहीं सकता। वह यह जानना चाहता है कि उसका इस विश्वमें किस-किसके साथ कैसा सम्बन्ध है। तभी धर्मका स्वरूप स्थिर हो सकता है। परन्तु जगत्‌में दूसरोंके साथ अपना सम्बन्ध, विश्वमें अपना स्थान जानना वस्तुतः जगत्‌के स्वरूपको पहिचानना है। इस स्वरूपको पहिचाननेमें कई शास्त्र सहायता देते हैं। गणित, भौतिक विज्ञान, ज्योतिष, प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान विश्वके भिन्न-भिन्न अङ्गोंपर प्रकाश डालते हैं। यह प्रकाश उपयोगी है परन्तु पर्याप्त नहीं है। जगत् अयुतसिद्धावयव वस्तु है। अयुतसिद्धावयव ऐसी वस्तुको कहते हैं जिसके अवयव पृथक् रहकर सजीव नहीं रह सकते, उनकी उपयोगिता अङ्गीके अङ्ग होने, कुलके भाग होनेमें ही है। हमारा शरीर ऐसी ही वस्तु है। उसका एक अवयव हाथ ले लीजिये। शरीरसे पृथक् रहकर हाथ जीवित नहीं रह सकता। उसकी सार्थकता भी शरीरमें रहकर ही है, पृथक् होकर वह व्यर्थका मांसपिण्डमात्र है।

इसी प्रकार यह विश्व अयुतसिद्धावयव है। इसका प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गोंसे मिलकर सार्थकता पाता है। हम सुविधाके लिए टुकड़ोंका भले ही अलग-अलग अध्ययन करें परन्तु किसी टुकड़ेका ज्ञान तबतक पूरा नहीं हो सकता जबतक यह न जान लिया जाय कि कुलमें उसका क्या स्थान है। विभिन्न विज्ञानोंके क्षेत्रोंका बँटवारा भी वस्तुतः कृत्रिम है।

एक चींटीको लीजिये। उसका शरीर पार्थिव तत्त्वोंका बना है, इसलिए रसायन और भौतिक विज्ञानका विषय है। इसी शरीरसे चींटी दौड़ती है, बोझ उठाती है, उसका तापमान घटता-बढ़ता है। यह सब गणितका विषय है। वह जीवित है, उसकी देह और इन्द्रियोंका विशेष प्रकारसे विकास हुआ है, यह सब जीवविज्ञानका विषय है। वह कुछ पसन्द करती है, कुछ नापसन्द करती है, क्रोध करती है, यह सब मनोविज्ञानके क्षेत्रमें है। चींटीको पूरा-पूरा समझनेके लिए इन पृथक् शास्त्रोंका ज्ञान तो होना ही चाहिये, वह बुद्धि भी होनी चाहिये जो इन सबका समन्वय कर सके। कोई भी अयुतसिद्धावयव वस्तु हो, उसका वास्तविक रूप अपने अवयवोंके योगसे बड़ा होता है। अवयवी प्रत्येक अवयवमें व्याप्त रहता है और सब अवयवोंके ऊपर भी रहता है। हाथ-पाँव-कान-आँखके जोड़ मात्रका नाम मनुष्य नहीं है। हाथ मनुष्यका हाथ है, आँख मनुष्यकी आँख है। प्रत्येक अवयवमें मनुष्य विद्यमान है और इन सबसे बड़ा भी है। इसी प्रकार विश्व अपने चराचर जड़-चेतन अवयवोंके भीतर भी है और बाहर भी, विश्वका पूर्ण रूप पहिचाननेके लिए विभिन्न शास्त्रोंका ज्ञान तो चाहिये, पर साथ ही वह बुद्धि चाहिये जो टुकड़ोंके बीचमें सम्पूर्णताको पकड़ सके। यदि वह सूत्र न पकड़ा जा सका जो अनेकोंको एक बनाता है, तो यह जगत् मलबेका ढेर रह जायगा। जब हम इस सूत्रको पकड़नेका प्रयत्न करते हैं तब अपने अज्ञानका पता लगता है। अज्ञानके कई रूप हैं। इस दृष्टिसे हमारा अज्ञान बहुत बड़ा है। जबतक यह दूर नहीं होता तबतक धर्मका स्वरूप पहिचाना नहीं जा सकता।

एक और कठिनाई है। जो कुछ थोड़ी-बहुत पहिचान हो भी जाती है उसके अनुसार काम करना सुकर नहीं होता। धर्मका पालन करना दुष्कर होता है। पदे-पदे विघ्नबाधा पड़ती है। हम इतने दुर्बल हैं कि इन विघ्नोंसे दब जाते हैं और अनिच्छन्नपि अधर्म कर बैठते हैं। इस अशक्तिके मूलमें भी अज्ञान है। ज्यों-ज्यों मनुष्यका ज्ञान बढ़ता

है त्यों-त्यों वह परिस्थितियोंको स्ववशवर्ती बनानेमें समर्थ होता है। जो पूर्ण ज्ञानी होगा वह सर्वशक्त भी होगा। ज्यों-ज्यों जगत्के स्वरूपका ज्ञान बढ़ेगा त्यों-त्यों धर्मका ज्ञान बढ़ेगा और उसको पालन करनेकी क्षमता बढ़ेगी। यह निश्चित है कि जो तीनों पहिलेके पुरुषार्थोंको जितना ही भुला सकेगा वह ज्ञान-सम्पादनमें उतना ही सफल होगा।

हम देख चुके हैं कि मनुष्य चाहे अर्थ और कामको ही लक्ष्य मानकर चला हो, परन्तु ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धिमें यह बात बैठती जाती है कि धर्मके बिना अर्थ और काम सिद्ध नहीं हो सकते, त्यों-त्यों उसका ध्यान इनकी ओरसे हटकर धर्मकी ओर लग जाता है और क्रमशः धर्म साधन न रहकर साध्य बन जाता है। संस्कृत बुद्धिकी यह पहिचान है। इसी प्रकार जब यह बात समझमें बैठ जाती है कि अज्ञानसे छुटकारा पाये बिना धर्मका सम्पादन सम्भव नहीं है तो क्रमशः अज्ञाननिवृत्ति स्वयं साध्य हो जाती है। इस स्थितिके उत्पन्न होनेमें और बातें भी सहायक होती हैं। जिज्ञासा हमारे चित्तका स्वाभाविक धर्म है। मैं क्या हूँ? जगत् क्या है? मेरे सिवाय और भी चेतन व्यक्ति हैं या नहीं? इस प्रकारके प्रश्न चित्तमें उठते हैं। इनके उत्तर जाननेकी उत्कट इच्छा होती है। वैयक्तिक और सामूहिक धर्मका पालन उसका व्यावहारिक परिणाम है, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति अर्थात् ज्ञानसे जो एक अपूर्व आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होती है वह उसका सबसे बड़ा फल है। जिस किसीको विज्ञानके अध्ययनके द्वारा कभी जगत्के रहस्यका थोड़ा-सा भी परिचय मिला होगा उसको इस आनन्द और शान्तिकी एक झलक देख पड़ी होगी। अतः अज्ञानसे छुटकारा पाना और ज्ञानके द्वारा जगत्के स्वरूप और अपने स्वरूपको पहिचानना मनुष्यका श्रेष्ठतम लक्ष्य होना चाहिये। इस पुरुषार्थको मोक्ष कहते हैं।

२. शास्त्रक्षेत्राधिकरण

जो शास्त्र सम्पूर्ण विश्वको, समूचे जगत्को एक मानकर उसके स्वरूपको, उसके अवयवोंके पारस्परिक सम्बन्ध और कुलमें अर्थात् अवयवीमें

उनके स्थानको, और उसके विकास और सङ्कोचको अपना विषय बनाता है उसको अध्यात्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र कहते हैं। दर्शनशास्त्रको विभिन्न एकदेशीय शास्त्रोंसे निष्पन्न सामग्रीसे काम लेना पड़ता है परन्तु वह सामग्री दर्शनके लिए पर्याप्त नहीं है। उसको मिलाकर एकमें ग्रथित करना पड़ता है तभी सार्वदेशिक चित्र बन सकता है। यह समन्वय-कार्य दार्शनिकका अपना क्षेत्र है। सर्वका ज्ञान ही अज्ञानकी निवृत्ति है, इसलिए दर्शन मोक्ष-शास्त्र है। जो मुमुक्षु हो उसे दर्शनका अध्ययन करना चाहिये।

यदि विश्वपर दृष्टि डाली जाय तो उसके दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—

अस्मत् (मैं)—ज्ञाता या द्रष्टा

युष्मत् (तुम)—ज्ञेय या दृश्य

अस्मत्-युष्मत्के योगसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यह विभाग एक प्रकारसे काल्पनिक है। सच्चा विभाग तो उसको कहते हैं जिसमें टुकड़े एक-दूसरेसे पृथक्, पूर्णतया अलग हों। कागजके दो टुकड़े करके अलग-अलग फेंक दिये जायँ तब तो विभाजन हुआ, परन्तु यदि कागजपर एक रेखा खींचकर दो टुकड़े करिये तो विभाग काल्पनिक होगा। रेखामें गणितकी परिभाषाके अनुसार चौड़ाई नहीं होती। इसलिए इस विभाजक रेखाके प्रत्येक विन्दु-पर दोनों भाग एक-दूसरेको स्पर्श करते हैं और कागजकी सत्ता अखण्डित बनी रहती है। ऐसी रेखा कहीं और खींची जा सकती है। वैसे ही दो भाग हो जायँगे, परन्तु कागज ज्योंका त्यों अविभक्त बना रहेगा। रेखाका खींचना, न खींचना हमारी सुविधापर निर्भर करता है। यही बात विश्वमें है। मेरे लिए जो कुछ मेरे अतिरिक्त है वह सब युष्मत्, ज्ञेय, दृश्य, मेरे बाहर हैं। आपकी सत्ता मेरे लिए युष्मत् है। परन्तु आप इस विश्वका विभाग दूसरी प्रकार करते हैं। आप अपने लिए अस्मत् हैं, और सब-कुछ आपके लिए युष्मत् है। अस्मत्-युष्मदात्मक जगत् उभयतः ज्योंका त्यों, अविभक्त, अखण्डित है। द्रष्टाके बिना दृश्य नहीं हो सकता, दृश्यके बिना

द्रष्टा नहीं हो सकता। द्रष्टा तभीतक द्रष्टा है जबतक उसके सामने कोई दृश्य है; दृश्य तभीतक दृश्य है जबतक उसका कोई द्रष्टा है। द्रष्टाहीन दृश्य और दृश्यहीन द्रष्टा हमारे लिए अचिन्त्य हैं। जिस बिन्दुपर द्रष्टा और दृश्य मिलते हैं, अस्मत् और युष्मत्का जहाँ संस्पर्श होता है, उसको ज्ञान या दर्शन कहते हैं।

जब दर्शनशास्त्रका विषय सम्पूर्ण विश्व है तो फिर उसको तीन प्रकारके प्रश्नोंपर प्रकाश डालना चाहिये। जैसे—

(क) युष्मत् एक है या अनेक? यदि एक है तो अनेकवत् कैसे प्रतीत होता है? उस एक पदार्थका स्वरूप क्या है? यदि अनेक है तो उसका स्वरूप वही है जो प्रतीत हो रहा है या कुछ और? अन्यथा प्रतीति क्यों होती है?

(ख) अस्मत्का स्वरूप क्या है? वह एक है या अनेक? एक है तो अनेकवत् क्यों प्रतीत होता है?

(ग) अस्मत्-युष्मत्का योग कैसे होता है? इस तीसरे प्रश्नके तीन रूप हो सकते हैं—

१. ज्ञाता और ज्ञानका क्या सम्बन्ध है?

२. ज्ञान और ज्ञेयका क्या सम्बन्ध है?

३. ज्ञाता और ज्ञेयका क्या सम्बन्ध है?

इन सब समस्याओंके सुलझ जानेपर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयात्मक विश्वके स्वरूपका सम्यग्बोध हो सकता है। यह बोध ही दर्शनके अध्ययनका प्रयोजन है।

इन प्रश्नोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके उत्तर दिये जा सकते हैं। उत्तरोंमें क्यों भेद होता है इस सम्बन्धमें अगले अध्यायमें विचार होगा। इसीलिए दार्शनिक विचारोंमें कई धाराएँ होती हैं। इनको ही विभिन्न 'वाद' कहते हैं। विश्वके स्वरूपको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखा जा सकता है इसीलिए इस शास्त्रको दर्शनशास्त्र और प्रत्येक वादको दर्शन कहते हैं। यह हो

सकता है कि कोई वाद नितान्त निराधार हो, परन्तु अधिक सम्भावना इस बातकी है कि सभी वादोंमें सत्यका कुछ-न-कुछ अंश है। हाथी हाथी ही है, पर जो उसके कान या सूँड़ या टाँग या पूँछको ही जानता है वह भी नितान्त अँधेरेमें नहीं है। कोई अवयव सम्पूर्ण हाथी नहीं है परन्तु प्रत्येक अवयवमें हाथी है।

दूसरा अध्याय

ज्ञान और सत्य

१. नयभेदाधिकरण

जिन विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विश्वके स्वरूपका अध्ययन किया जा सकता है उनको नय कहते हैं। हमने पिछले अध्यायमें चींटीके शरीरका उल्लेख किया था। साधारण मनुष्यके लिए यह शरीर त्वक्, रोम, लोहू जैसी धातुओंसे बना है। रासायनिक विश्लेषण इन धातुओंके भीतर जल, नमक, कई प्रकारके अम्ल और क्षार तथा सत्त्वमूल (प्रोटोप्लाज्म) को पाता है। यदि शुद्ध रासायनिक दृष्टिसे देखा जाय तो चींटीका शरीर आर्द्रजन, नाइट्रोजन, आक्सिजन, गन्धक, फासफरस और कार्बनके परमाणुओंका समूह है। भौतिक-विज्ञानी उसे पहिले तो धन और ऋण विद्युत्कणोंका पुञ्ज और फिर शुद्ध वायुतत्त्वका भेद बना देता है। एक ही वस्तुको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विभिन्न प्रकार देखा, समझा और समझाया जा सकता है। बहुतसे विचारक जगत्के उसी रूपको विज्ञानसामग्री बनाते हैं जो जाग्रत् अवस्थामें हमारे अनुभवमें आता है। यही जगत् सच्चा जगत्, वास्तविक जगत् समझा जाता है। पर ऐसा माननेका कोई पुष्ट कारण नहीं है। जगत्की सम्पूर्णताके अन्तर्गत स्वप्नावस्था और निद्रावस्थाको भी लेना चाहिये। स्वप्न अपने अनुभूतिकालमें सत्य होता है, वह भी स्मृति छोड़ जाता है। सबको एक-से स्वप्न नहीं देख पड़ते। स्वप्नभेद चरित्र और बुद्धिभेदका उसी प्रकार सूचक होता है जिस प्रकार हमारे जाग्रत् अवस्थावाले विचार और कार्य होते हैं। यदि जाग्रत्की दृष्टिसे स्वप्न मिथ्या माना जाय तो स्वप्नकी दृष्टिसे जाग्रत् मिथ्या है,

क्योंकि जबतक एक अवस्था रहती है तबतक दूसरी नहीं होती। थोड़ी देरके स्वप्नमें हम बहुत-से ऐसे काम कर डालते हैं जिनको करनेमें बरसों लगने चाहिये। पर इससे भी स्वप्नकी उपेक्षणीयता सिद्ध नहीं होती, यह बात तो कालकी सापेक्षताकी ओर सङ्केत करती है। यह हो सकता है कि स्वप्नकालीन कालका प्रवाह जाग्रत्कालीन कालके प्रवाहसे भिन्न हो। कालके सम्बन्धमें आगे सातवें अध्यायमें विचार होगा, पर यह तो हमारे सामान्य अनुभवकी बात है कि आन्तरिक कालकी गति कभी-कभी बाह्य काल, घड़ीके कालकी गतिसे भिन्न प्रतीत होती है। सुखके दिन जल्दी बीतते हैं, दुःखकी रातें लम्बी हो जाती हैं। स्वप्नके मिथ्यात्वके पक्षमें सबसे बड़ा तर्क यह है कि स्वप्नानुभूति वस्तुशून्य होती है। यह बात इस अर्थमें सच हो सकती है कि जो भाँति-भाँतिके प्राणी देख पड़ते हैं या जो घटनाएँ घटती प्रतीत होती हैं उनका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो वरन् जाग्रत् अवस्थाके कतिपय अनुभव ही विकृत रूपसे फिर सामने आ जाते हों, पर राग, द्वेष, क्रोध, काम, लोभ आदि भाव जो उस समय जागरित होते हैं वह झूठे नहीं हैं। विश्वविषयक विचारमें स्वप्नावस्थाकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। सुषुप्तिमें बाहरी वस्तुओंका ज्ञान नहीं होता, वासनाएँ और स्मृतियाँ भी नहीं उठतीं, सब प्रज्ञान घनीभूत होकर जम-से जाते हैं परन्तु चेतना काम करती रहती है। जागनेपर उसकी स्मृति सुखनिद्रा या दुःख-निद्राके रूपमें रह जाती है। स्वप्न और सुषुप्तिको छोड़ देनेसे विश्वका जो रूप जाना जायगा वह एकाङ्गी होगा। केवल जाग्रत्का एक दृष्टिकोण है, तीनों अवस्थाओंको ध्यानमें रखनेसे दूसरा ही दृष्टिकोण हो जाता है। परन्तु अस्मत्की एक चौथी अवस्था भी है जिसे तुरीयावस्था कहते हैं। इस अवस्थाके अस्तित्वको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सभी देशोंमें ऐसे लोग हो गये हैं और हैं जिनको यह अवस्था प्राप्त होती है। इसका दूसरा नाम समाधि है। उनका कहना है कि इस अवस्थामें उनको जगत्के शुद्ध रूपकी प्रतीति होती है। निष्पक्ष विचारके लिए यह भी एक

दृष्टिकोण है। प्रत्येक दृष्टिकोण, प्रत्येक नय, हमको विश्वस्वरूपका थपृक् ज्ञान देगा। यह ज्ञान एक-दूसरेके विरोधी नहीं हो सकते।

२. सत्यभेदाधिकरण

सच्चे ज्ञानको प्रमा कहते हैं। यथावस्तु, यथार्थ, ज्ञानको सच्चा ज्ञान कहना चाहिये। वही ज्ञान सत्य होगा। पर हम देख चुके हैं कि वस्तु अर्थात् विश्व को कई नयोंसे, कई दृष्टिकोणोंसे देखा जा सकता है। किसी एक ओरसे देखनेपर हाथीकी सूँड़ हमारे सामने होगी, दूसरी ओरसे कान, तीसरी ओरसे पाँव। हाथी एक होते हुए भी तीनों दृष्टिकोणोंपर तीन भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, अतः स्वरूपज्ञान भी भिन्न-भिन्न होगा, भिन्न-भिन्न सत्य मिलेंगे। जो वस्तु व्यावहारिक दृष्टिमें मिस्रीका टुकड़ा है वही रासायनिक दृष्टिमें कार्बन, आर्द्रजन और आक्सिजनके चञ्चल परमाणुओं-का ढेर है और वही भौतिक विज्ञानकी दृष्टिमें पिण्डीभूत वायु है। एक ही वस्तु दृग्बिन्दु-भेदसे तीन वस्तु है और उससे सम्बन्ध रखनेवाला यथा-वस्तु, यथा-अर्थ, ज्ञान भी तीन प्रकारका होगा। यह तीनों ज्ञान सत्य होंगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचारक जगत्के सम्बन्धसे आंशिक सत्योंका प्रतिपादन करते आये हैं। इनमें कुछ सत्य एक-दूसरेके पूरक हैं और कुछ एक-दूसरेके अन्तर्गत हैं। हाथीके हाथ-पाँवके ज्ञान एक-दूसरेके पूरक हैं परन्तु मिस्रीका व्यावहारिक स्वरूप उसके रासायनिक स्वरूपके अन्तर्गत है। जो मनुष्य विश्वके स्वरूपको समझना चाहता हो उसमें इतनी उदारता होनी चाहिये कि विभिन्न दर्शनोंके सत्यांशोंको पहिचान सके। इसके साथ ही उसमें इन सत्यांशोंका समन्वय करने तथा स्वयं व्यापक सर्वग्राही दृष्टिकोणसे निरीक्षण करनेकी क्षमता होनी चाहिये। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान, परम सत्यका अनुभव हो सकेगा।

३. सत्याधिकरण

ऊपरके प्रकरणमें हमने कई वार 'सत्य' शब्दका प्रयोग किया है। इसके अर्थको समझ लेना उचित है। वस्तुतः, इस शब्दके दो अर्थ हैं।

मुख्यतः, उस पदार्थको सत्य कहते हैं जिसकी सत्ता नित्य हो, अर्थात् जो अभावरहित हो। अभाव चार प्रकारका होता है। किसी वस्तुका अपनी उत्पत्तिसे पूर्व अभाव होता है। दूध जमनेके पहिले दहीका अभाव रहता है। इस प्रकारके अभावको प्रागभाव कहते हैं। किसी वस्तुका विनाशके पीछे अभाव हो जाता है। जल जानेपर लकड़ीका अभाव हो जाता है। इसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। एक वस्तुके स्थानमें दूसरेके अभावको अन्यो-न्याभाव कहते हैं। जहाँ क है वहाँ ख नहीं है। सर्वथा सम्पूर्ण अभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे, गधेके सींगका अत्यन्ताभाव है। जो पदार्थ इन चार प्रकारके अभावोंसे रहित हो, अर्थात् जो सदा और सर्वत्र पाया जाय, वह सत्य है। सत्यका दूसरा लक्षण अविक्रियशीलता है। सत्य वस्तु एकरस रहती है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह दर्शनशास्त्रके लिए विचारणीय प्रश्न है कि इस परिभाषाके अनुसार कोई सत्य पदार्थ विश्वमें है या नहीं। असत्य वस्तुओंमेंसे जो स्थान या कालविशेषमें पायी जाती हैं उनको हम चाहें तो अंशतः सत्य कह सकते हैं। जिनका अत्यन्ताभाव है वह पूर्णतया असत्य हैं।

यथार्थ ज्ञानको भी सत्य कहते हैं। अयथार्थ ज्ञान असत्य है। ज्ञान, यथार्थ हो या अयथार्थ, स्वसंवेद्य होता है। एकका ज्ञान दूसरेके अनुभव-का विषय नहीं होता। दूसरेतक पहुँचानेके लिए ज्ञानकी जो व्यञ्जना होती है उसको भी सत्य कहते हैं। यदि ज्ञान अयथार्थ हो या व्यञ्जना ज्ञानानुकूल न की जाय तो वह असत्य होगी। झूठा इसी दृष्टिसे असत्य-वादी होता है कि वह यथाज्ञान नहीं बोलता। किसी 'वाद'को असत्य कहनेका तात्पर्य यह नहीं होता कि उसका प्रतिपादन करनेवाला यथाज्ञान नहीं कह रहा है प्रत्युत यह कि किसी कारणसे उसको यथार्थ ज्ञान नहीं हो सका।

४. अज्ञानाधिकरण

यथार्थ ज्ञानका प्रतियोगी अयथार्थ ज्ञान या अज्ञान है। अज्ञान शब्दके कई अर्थ होते हैं। एक अर्थ तो ज्ञानाभाव, ज्ञानका न होना,

है। इस अर्थको मानकर यह समझ लेना चाहिये कि यदि कोई वस्तु मेरे विचारका विषय है तो मुझे उसके सम्बन्धमें अज्ञान, ज्ञानका पूरा अभाव हो ही नहीं सकता। या तो वह मेरे चित्तके सामने नहीं है, ऐसी दशामें मेरे लिए उसका अस्तित्व ही नहीं है, इसलिए ज्ञानका प्रश्न ही नहीं उठता; या फिर वह मेरे चित्तमें है, ऐसी दशामें मुझे कमसे कम उसके अस्तित्व-का ज्ञान तो है ही, इसलिए अज्ञान नहीं है। साधारणतः अज्ञान शब्दका प्रयोग अपूर्ण ज्ञान, मिथ्या ज्ञान या संशयके अर्थमें किया जाता है। ज्ञानके साधनोंका विचार अगले अध्यायमें किया जायगा, पर इतना तो स्पष्ट होना ही चाहिये कि उन साधनोंका ठीक-ठीक प्रयोग न होनेसे ही ज्ञानसम्बन्धी यह दोष उत्पन्न होते हैं। यदि ज्ञातव्य वस्तुपर ज्ञानसाधन पूरी शक्तिभर न लगाये जा सकें तो अपूर्ण ज्ञान होगा। बहुत दूरकी वस्तु अस्पष्ट देख पड़ती है। यदि जो वस्तु जहाँ नहीं है वहाँ उसकी प्रतीति हुई तो मिथ्या ज्ञान होगा। एक रस्सी पड़ी है। रस्सीके कुछ लक्षण सर्पसे मिलते हैं। हमको उनका ज्ञान हुआ और सर्पके उन विशेष गुणों-का ज्ञान हुआ जो रस्सीमें नहीं पाये जाते। बस, हमको वहाँ सर्पका ज्ञान होगा। मिथ्या ज्ञानको अध्यास और विपर्यय भी कहते हैं। कोई ज्ञान-विशेष यदि मिथ्या हो तो उसका हमारी सञ्चित ज्ञानसामग्रीसे सामञ्जस्य न होगा, पर अकेला असामञ्जस्य पर्याप्त परख नहीं है, क्योंकि यह सन्देह किया जा सकता है कि पूर्वार्जित ज्ञान ही मिथ्या रहा हो। पक्की परख व्यवहारसे ही हो सकती है।

यदि एक स्थलमें दो वस्तुओंका एक साथ आंशिक ज्ञान हो तो वहाँ संशय होगा। अँधेरेमें कुछ दूरपर कोई ऊँची-सी वस्तु देख पड़ती है। उसमें वह लक्षण देख पड़ते हैं जो मनुष्योंमें भी पाये जाते हैं और वृक्षोंमें भी। पर मनुष्य और वृक्षके व्यावर्तक लक्षण जो एकमें पाये जाते हैं दूसरेमें नहीं मिलते, नहीं देख पड़ते। अतः यह संशय रह जाता है कि यह मनुष्य है या वृक्ष। अपूर्ण ज्ञानादिकी भाँति विकल्प भी ज्ञानका बाधक होता है। विकल्प उस निराधार ज्ञानाभासको कहते हैं जिसका

२

मूल केवल शब्दाडम्बर होता है। हमारे प्रौढ़ विचार शब्दात्मक ही होते हैं। इस बातका सदा डर रहता है कि हम शब्दोंके प्रयोग करनेमें बहक कर वास्तविकतासे दूर न जा पड़ें। जीवनमें कल्पनाका भी स्थान है, परन्तु काल्पनिक रचनाको बराबर वस्तुस्थितिकी कसौटीपर परखना होगा। अन्यथा, हम अपने शब्दोंके ही जालमें फँस जायँगे। हमको गधेका भी अनुभव है और सींगका, भी परन्तु 'गधेके सींग'का अनुभव नहीं है। ऐसा शाब्दिक प्रयोग सुनकर जो एक प्रकारका ज्ञान होता है वह विकल्प है। विक्षेप का एक और रूप होता है। कभी-कभी किन्हीं शब्दोंको सुनकर एक प्रकारका ज्ञानाभास हो जाता है, परन्तु विचार करनेसे प्रतीत होता है कि उन शब्दोंसे ज्ञानकी बिलकुल वृद्धि नहीं होती। 'सज्जनमें सज्जनता होती है' का क्या अर्थ है? दूसरे शब्दोंमें इसे यों कह सकते हैं, 'जिसमें सज्जनता होती है उसमें सज्जनता होती है'।

५. शास्त्रमीमांसाधिकरण

किसी शास्त्र या किसी विद्वान्‌की कही हुई बातको यथार्थ-अयथार्थ मान लेनेके पहिले उसका तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। कहनेवाला क्या कहना चाहता है, यह जानना पहिला काम है। बहुत-सा शास्त्रार्थ और दूसरोंपर दोषारोपण इसीलिए होता है कि उनके कथनको समझनेका पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया जाता। न समझनेके दो कारण हो सकते हैं— एक तो समझनेवालेका प्रमाद, दूसरे कहनेवालेकी अयोग्यता, अज्ञान या जान-बूझकर ऐसी शैली अपनाना जिससे अर्थ सहसा प्रकट न हो जाय।

कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि शब्दोंका जो समूह व्याकरणकी दृष्टिसे साधु वाक्य हो उसका कुछ अर्थ न लगता हो। 'उसने गन्नेके खेतको नहरके पानीसे सींचा' और 'उसने संगमर्मरके खेतको गन्धकके तेजाबसे सींचा', दोनों व्याकरणकी दृष्टिसे निर्दोष वाक्य हैं, परन्तु दूसरेका अर्थ समझमें नहीं आता। इसको अनर्गल प्रलाप माना जा सकता है। परन्तु ऐसा मान बैठनेके पहिले अर्थ लगानेका कुछ और प्रयास करना चाहिये। शब्दोंके अभिधार्थ, कोशमें दिये अर्थसे तो काम नहीं चलता,

ऐसा तो नहीं है कि इनका कोई ध्वनितार्थ, वरसोंसे इनके साथ सम्बद्ध अर्थ, वक्ताके सामने रहा हो ? पीताम्बर किसी भी पीले कपड़ेको, विशेषतः पीले रंगकी रेशमी धोतीको कह सकते हैं, परन्तु 'उसने पीताम्बरकी पूजा की' जैसे वाक्यमें इस शब्दका ध्वनितार्थ विष्णु, लक्षित है। सम्भव है, संगमर्मर और गन्धकके तेजावके भी ध्वनितार्थ हों। यदि इससे भी काम न चले तो यह देखना चाहिये कि समाधि या प्रतीक भाषाका प्रयोग तो नहीं किया गया है। ऐसी भाषाका एक उदाहरण देता हूँ। किसी तन्त्र-ग्रन्थमें यह श्लोक आया है—

आजैर्मैपैश्च वैडालैर्नारैरौष्ट्रैश्च माहिषैः।
पलैरेभिर्यजेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥

—जो मनुष्य बकरे, भेंड़, बिल्ली, मनुष्य, ऊँट और भैंसके मांससे यज्ञ करता है वह निश्चय ही मुक्त हो जाता है।

सुननेमें पागलपनकी बात लगती है। परन्तु इस बातकी ओर ध्यान देनेसे कि बकरा, भेंड़, बिल्ली, मनुष्य, ऊँट और भैंसा शब्द क्रमात् काम, मोह, लोभ, अभिमान, मत्सर और क्रोधके प्रतीकके रूपमें व्यवहृत हुए हैं, अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

कभी-कभी वाक्यार्थका निश्चय करनेके लिए यह देखना पड़ता है कि किसी लक्षणासे तो काम नहीं लिया गया है। लक्षणाएँ तीन हैं। कहीं तो व्यवहारमें आये हुए शब्दको बिलकुल छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी दूसरे शब्दको लाना पड़ता है। यदि कोई कहे कि 'कमरा बोल रहा था' तो वहाँ संकेत कमरेमें रहनेवाले मनुष्योंकी ओर है। इसे जहत् लक्षणा कहते हैं। कहीं व्यवहृत शब्दके साथ कुछ और शब्दोंको जोड़ना पड़ता है। यदि यह कहा जाय कि 'लाल पगड़ियाँ बढ़ी आ रही थीं' तो तात्पर्य पगड़ीधारी मनुष्योंसे है। इसे अजहत् लक्षणा कहते हैं। कभी कुछ जोड़ना, कुछ छोड़ना पड़ता है। इसे जहदजहत् लक्षणा कहते हैं। कोई कहता है 'यह वही गंगा-सिंह है जिसे आपने पन्द्रह वर्ष पहिले गोदमें खिलाया था'। यह स्पष्ट है कि पन्द्रह वर्षोंमें बहुत-सा परिवर्तन हुआ होगा। शरीर बड़ा हो गया,

मूँछें नहीं थीं अब निकल आयीं, कई प्रकारकी अनुभूतियाँ होती हैं जो उस वयमें सम्भव नहीं थीं। 'वही व्यक्ति'का विचार करते समय इन सबको छोड़ना होगा, कुछ ऐसी बातें हैं जो तब भी थीं अब भी हैं, उनको ही सामने रखना होगा।

यह भी देखना होगा कि प्रस्तुत वाक्य विकल्पके द्वारा केवल अर्थाभास तो नहीं दे रहा है, लेखक अर्थके अभावको शब्दाडम्बरकी आड़में छिपा तो नहीं रहा है।

कभी-कभी कहना कुछ होता है, कहा कुछ और जाता है। वास्तविक अर्थको जो इस दशामें व्यङ्ग्यार्थ कहलाता है, प्रसंगपर विचार करके ढूँढ़ना पड़ता है। मुझसे कोई व्यक्ति मिलने आता है। मैं जानता हूँ कि वह किसी कामके लिए पैसा माँगने आया है। मैं उसको सुनाकर कहता हूँ आजकल व्यापार बहुत मन्दा है। यह बात सच हो या झूठ, परन्तु मेरा वास्तविक उद्देश्य उस व्यक्तिको व्यापारविषयक जानकारी कराना नहीं है, पैसा माँगनेसे रोकना है। कभी-कभी वास्तविक अर्थ अर्थवाद यानी प्रशंसामें छिपा रहता है। यदि कहीं लिखा हो कि 'इस यज्ञका अनुष्ठान करके गौएँ स्वर्ग गयीं' तो वहाँ तात्पर्य केवल यह है कि यज्ञ करणीय और फलदायक है।

इस अधिकरणको उपस्थित करनेका तात्पर्य यह दिखलाना है कि गम्भीर विषयोंका चर्चा करनेवाले वाक्योंकी मीमांसा करते समय बहुत सतर्क रहना पड़ता है, नहीं तो ज्ञानके स्थानमें किसी-न-किसी प्रकारका अज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

६. विक्षेपाधिकरण

यदि ज्ञान प्राप्त करना है तो अज्ञानको दूर करना होगा। अज्ञानके कई कारण होते हैं। एक कारण यह हो सकता है कि इन्द्रियाँ दूरी या व्यवधान या अधिष्ठान-दोषके कारण ठीक-ठीक काम न कर सकती हों। बीचमें किसी वस्तुका आ जाना व्यवधान और आँख, कान आदिका रुग्ण या विकल होना अधिष्ठान-दोष है। परन्तु इन सब बाधाओंसे

बढ़कर वह बाधा है जिसका स्थान द्रष्टाके भीतर, अस्मत्के भीतर, चित्तमें है। चित्त किसी वस्तुकी ओर लगाया जाता है, पर वहाँ देरतक टिकता नहीं, दूसरी वस्तुओंकी ओर खिंच जाता है। उसमें रागद्वेष, पहिलेकी स्मृतियाँ, इस समयकी इच्छाएँ, सब भरी रहती हैं और इसी मलिन पीठिकामें ज्ञानोपार्जनका प्रयत्न किया जाता है। भीरुको प्रत्येक झाड़ीमें बाघ देख पड़ता है, माताको पत्तियोंके हिलनेमें अपने खोये बच्चेके पाँवकी आहट सुन पड़ती है, भूखेको सर्वत्र रोटियाँ ही देख पड़ती हैं। चित्तकी इस अवस्थाको, जिसमें वह किसी विषयपर स्थिर नहीं होता वरन् एक विषयसे दूसरे विषयपर फिंकता फिरता है, विक्षेप कहते हैं। एक तो चित्त निर्मल नहीं, दूसरे विक्षिप्त रहता है। इसीलिए उसमें यथार्थ ज्ञानका प्रतिष्ठित होना बहुत कठिन हो जाता है।

तीसरा अध्याय

प्रमाण

१. सेन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरण

प्रमाके साधनोंको प्रमाण कहते हैं। शुद्ध ज्ञानका नाम प्रमा है। इसके साधन तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके दुष्प्रयोगसे अयथार्थ ज्ञान होता है।

प्रमाणोंमें सबसे महत्त्वका स्थान प्रत्यक्षका है। शेष दोनों प्रमाण इसीपर निर्भर करते हैं। साधारणतः ऐसा कहा जाता है कि विषय और इन्द्रियके सन्निकर्षसे प्रत्यक्ष होता है। युष्मत् प्रपञ्च, दूसरे शब्दोंमें बाहरी वस्तुओंको ग्रहण करने अर्थात् बाहरी वस्तुओंसे प्रभावित होने और उनको प्रभावित करनेकी योग्यता या शक्तिका नाम इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ बाहरी जगत्से सम्पर्कका द्वार हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा युष्मत्का प्रवेश अस्मत्में और कर्मेन्द्रियोंके द्वारा अस्मत्का आघात युष्मत्पर होता है। किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होनेके लिए यह आवश्यक है कि उसका किसी इन्द्रियसे संयोग हो। हम किसी वस्तुको तभी जान सकते हैं, जब वह वस्तु जिस इन्द्रियका विषय हो सकती है वह इन्द्रिय उसके सम्पर्कमें आये। जो वस्तु रूपरहित है अर्थात् प्रकाशयुक्त नहीं है वह चक्षुरिन्द्रियका विषय नहीं हो सकती, देखी नहीं जा सकती। रूपवान् वस्तु भी तभी देखी जा सकती है जब उसका चक्षुरिन्द्रियसे सम्पर्क हो अर्थात् इस इन्द्रियका अधिष्ठान, आँख और मस्तिष्कका चाक्षुष्केन्द्र, उसके सामने हो। परन्तु इतनेसे ही प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। ऐसा भी हो सकता है कि आँख नीरोग हो, चक्षुरिन्द्रिय पुष्ट हो और रूप सामने हो, फिर भी प्रत्यक्ष न हो, वस्तु देख न पड़े। देख पड़नेके लिए अन्तःकरणका भी योग होना चाहिये।

अन्यमनस्क होनेकी दशामें, चित्त कहीं और लगे रहनेकी अवस्थामें, सामनेकी वस्तु नहीं देख पड़ती, पासका स्वर नहीं सुन पड़ता। अतः प्रत्यक्षके लिए विषय, इन्द्रिय और अन्तःकरणका सन्निकर्ष आवश्यक है।

प्रत्यक्षकी प्रणालीको समझ लेना आवश्यक है। शरीरपर बाहरी वस्तुओंके बराबर आघात होते रहते हैं और उनके प्रत्याघात भी होते रहते हैं, परन्तु हमको इन सबका पता नहीं लगता। आँखके सामने तीव्र प्रकाश आया, सिर फिर गया या आँख बन्द हो गयी; सिरकी ओर कोई भारी वस्तु आयी, हाथ उसे रोकनेके लिए उठ गया, कोई छोटा कीड़ा या अन्य वस्तु कहीं आ पड़ी, हाथने उसे हटा दिया; मुँहके सामने कोई खाद्य वस्तु आयी, मुँहमें रस आ गया। ऐसी कई प्रतिक्रियाएँ निद्रावस्थामें भी होती रहती हैं। इनका तत्काल सम्पन्न होना शरीरके लिए आवश्यक है, इसलिए नाडिसंस्थान इनको स्वतः कर लेता है; यह काम इतने सरल हैं कि इनके लिए विचारकी अपेक्षा भी नहीं है। परन्तु जब आघात तीव्र होता है तब विचारकी आवश्यकता पड़ती है। उसी अवस्थामें प्रत्यक्षके लिए अवकाश होता है। मच्छड़ शरीरपर बैठा, सोतेमें भी हाथ उसे हटा देगा। यदि न भी हटा तो कोई बड़ी क्षति न होगी। सिरको ओर कोई भारी वस्तु आ रही है, उस समय एक ही क्रिया सम्भव है। उसके लिए हाथ स्वतः उठ जाता है। परन्तु यदि सामने सिंह आ जाय तब कई प्रकारकी क्रियाएँ परिस्थिति-भेदसे सम्भव हैं। कभी सिंहसे लड़ना ठीक हो सकता है, कभी भागना, कभी पेड़पर छिप जाना। इनमेंसे कौन-सा काम किया जाय इसका निश्चय सिंहके प्रत्यक्ष होनेपर, अर्थात् उसको देखने या उसकी दहाड़ सुनने या उसकी गन्ध मिलनेपर ही सम्भव है।

अन्तःकरण जिस रूपसे इन्द्रियगृहीत विषयके सम्पर्कमें आता है उसे मन कहते हैं। मनमें विषयका जो रूप प्रतिष्ठित होता है वह संवित् कहलाता है। परन्तु यह अनुभूति अकेली नहीं है। इसके पहिले भी अनुभूतियाँ हो चुकी हैं। अन्तःकरणका दूसरा रूप अहङ्कार है। वह इस नयी अनुभूतिको पहिलेकी अनुभूतियोंके संस्कारोंसे मिलाता है

और उसका वर्गीकरण करके अनुभूतियोंमें यथास्थान स्थापित करता है। अहङ्कारका काम है नयी अनुभूतिको अहं (अस्मत्) में मिलाना। अब वह विषय प्रत्यय कहलाता है। बाहरी विषयोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच संवित् होते हैं। तब अन्तःकरणका तीसरा रूप उसके सम्बन्धमें अध्यवसाय करता है अर्थात् यह निश्चय करता है कि यह विषय कैसा है, इसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये, इत्यादि। अन्तःकरणके इस तीसरे रूपका नाम बुद्धि है। बुद्धिमें आनेके पश्चात् वह विषय विचार-सामग्री बन जाता है। फिर तो उसके आधारपर अनेक प्रकारके तर्क किये जा सकते हैं और दूसरे विचारोंसे मिलाकर अनेक कल्पनाएँ की जा सकती हैं। वस्तुतः अन्तःकरण या चित्त एक है, पर वह क्रमात् तीन प्रकारके काम करता है इसलिए उसे तीन नाम दिये गये हैं। प्रत्यक्षके विषयमें ऊपर जो कहा गया है वह एक उदाहरणसे अधिक स्पष्ट हो सकेगा। एक जगह एक विद्वान् और एक वनवासी बैठे हैं। उनके सामने एक पुस्तक आती है। उसका रङ्ग, उसकी आकृति, उसकी लम्बाई-चौड़ाईका भान दोनोंको एक-सा होगा। दोनोंके मनपर एक-सा प्रभाव पड़ेगा अतः दोनोंके संवित् एक-से होंगे। परन्तु वनवासीने कभी पुस्तक देखी नहीं, वह पुस्तकका उपयोग नहीं जानता। सम्भवतः वह उसके लिए किसीके सिरपर दे मारनेके योग्य भारी वस्तुमात्र है। परन्तु विद्वान्ने सैकड़ों पुस्तकें पढ़ी हैं। पुस्तकें बड़ी, छोटी, मोटी, पतली, हस्तलिखित, छपी, अनेक प्रकारकी, अनेक विषयोंकी होती हैं। परन्तु इन सबमें कुछ समान गुण हैं जिनके कारण इनको एक ही नामसे पुकारा जाता है। इन्हीं गुणोंको अपने सामनेकी वस्तुमें पाकर वह विद्वान् उसे पुस्तक मानता है। उसे दर्शनसे अधिक अभिरुचि है, किन्हीं और विषयोंसे कम। फिर एक ही विषयकी सब पुस्तकें एक ही कोटिकी नहीं होतीं। इन सब बातों अर्थात् पुस्तकके विषय, उसकी शैली, उसकी कोटि आदिका विश्लेषण करके अहङ्कार उसको विद्वान्के अनुभव-भण्डारमें एक विशेष स्थान देता है। इसलिए वनवासी और विद्वान्के प्रत्ययोंमें अन्तर

होगा। फिर बुद्धि निर्णय करेगी कि इस पुस्तकका क्या किया जाय। सम्भव है, विद्वान्‌की बुद्धि जिस वस्तुको बहुमूल्य पुस्तक मानकर संग्रह करनेका निश्चय करे उसीको वनवासीकी बुद्धि निकृष्ट हथियार समझकर फेंकनेका निर्णय करे। दूसरा उदाहरण लीजिये। सामने एक आम रखा है। हम उसके रूपको ही देखते हैं, संवित् रूपका ही हो रहा है, परन्तु स्मृतिरूपसे उसकी गन्ध, स्पर्श और स्वाद भी विद्यमान हैं। इसलिए हमको आमका प्रत्यक्ष होता है। जिस देशमें आम नहीं होता वहाँके निवासीको रूपमात्रका संवित् होगा। अधिकसे अधिक उसको यह प्रत्यक्ष होगा कि सामने एक फल है। अस्तु, अन्तःकरणके तीनों स्तरोंकी क्रिया समाप्त होनेपर पूरा प्रत्यक्ष होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि एक ही विषयका प्रत्यक्ष सबको एक-सा नहीं हो सकता। यदि इन्द्रिय-बल एक-सा हो तो पहिला मानस-चित्र तो एक-सा होगा, संवितोंमें सादृश्य होगा। अधिकांश मनुष्यों, कमसे कम अधिकांश सभ्य मनुष्योंके अनुभव बहुत-कुछ मिलते-जुलते होते हैं, इसलिए प्रत्ययोंमें भी बहुत-कुछ सादृश्य होता है। परन्तु पूरा सादृश्य नहीं होता और बुद्धिभेदके कारण प्रत्यक्ष तो एक-सा नहीं ही होता। वही वस्तु किसीके लिए सुन्दर, किसीके लिए कुरूप, किसीके लिए भली, किसीके लिए बुरी, किसीके लिए उपादेय, किसीके लिए हेय होती है। वस्तुका उपयोग या अनुपयोग भी उसके प्रत्यक्षका अङ्ग होता है। यह भी स्मरणीय है कि जो वस्तु एक परिस्थितिमें एक प्रकारकी प्रतीत होती है वही दूसरे समयमें दूसरे प्रकारकी प्रतीत होती है। एक ही व्यक्तिको किसी विषय-विशेषका प्रत्यक्ष सदा एक-सा नहीं होता। जो स्वरसमूह पुत्रजन्मके अवसरपर सङ्गीत प्रतीत होता है उसीका पुत्र-निधनके अवसरपर चीत्कारके रूपमें प्रत्यक्ष होता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मानी जाती हैं—श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन और घ्राण और इनके विषय हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बाह्य जगत् हमपर पाँच प्रकारके ही प्रहार करता है और हम उसको इन पाँच द्वारोंसे ही जान सकते हैं। वस्तुतः स्पर्शका

अर्थ बहुत व्यापक है। उससे छूकर केवल ठंढा-गरम या कड़ा-नरम जाननेसे तात्पर्य नहीं है। देखने, सुनने, चखने और सूँघनेके सिवाय बाहरी जगत्‌का जो भी ज्ञान हमको होता है वह स्पर्श है। सम्भव है किन्हीं अन्य प्राणियोंको स्पर्शके ऐसे अनुभव होते हों जो हमको अलभ्य हैं, क्योंकि हमारे शरीरकी बनावट भिन्न प्रकारकी है।

२. सन्निकर्षाधिकरण

हम देख आये हैं कि प्रत्यक्षके लिए अन्तःकरण और इन्द्रिय, दोनों-का विषयके साथ सन्निकर्ष या संयोग होना चाहिये। बहुत-से दार्शनिकों-को यह सन्निकर्ष एक प्रकारका रहस्य प्रतीत होता है। सामने कोई वस्तु है। उसने आकाशमें किसी प्रकारकी लहरी उत्पन्न की जो आकर आँखके नाडिजालसे टकरायी। नाडियोंमें एक विशेष प्रकारका प्रकम्पन हुआ, वह प्रकम्पन मस्तिष्कके उस केन्द्रतक पहुँचा जो चक्षुरिन्द्रियका मुख्य अधि-ष्ठान है। यहाँतक जो कुछ क्रिया हुई वह भौतिक जगत्‌में हुई। लहरी, आकाश, नाड़ी, मस्तिष्क, कम्पन यह सब भौतिक शास्त्रोंके अध्येतव्य विषय हैं। यहाँपर नये जगत्‌का परिचय होता है। अन्तःकरणमें लाल या हरे रंग की प्रतीति होती है। कम्पनादि भौतिक जगत्‌में होते हैं, रंग-गन्ध-शब्दकी प्रतीति अन्तःकरणको होती है। इसके विपरीत उस समय होता है जब चित्तमें कोई संकल्प उठता है और उसके फलस्वरूप मस्तिष्कमें क्षोभ होता है, नाडियोंमें कम्पन होता है और शरीरका कोई भाग कोई काम कर बैठता है। विद्वानोंके सामने प्रश्न यह होता है कि यह भौतिक जगत् आन्तरिक जगत्‌को और आन्तरिक जगत् भौतिक जगत्‌को कैसे प्रभावित करते हैं। सजातीय सजातीयको प्रभावित कर सकता है, परन्तु चित्त और भौतिक जगत् अत्यन्त विजातीय हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। इन दोनोंके बीच गहरी खाई है। प्रतिक्षण उसपर पुल बनता रहता है, परन्तु कैसे ? यह प्रत्यक्ष ज्ञानकी कठिन पहेली है।

इस पहेलीसे घबरानेकी आवश्यकता नहीं है। रहस्य कुछ तो है ही—जो बात ठीक-ठीक समझमें नहीं आती उसीमें रहस्य है—परन्तु

बहुत-सा रहस्य अपनेसे बढ़ा लिया गया है। जड़-चेतन जैसे विरोधी शब्दों-का प्रयोग करके खाई गहरी कर दी गयी है। यह उस विकल्प नामक अज्ञानका उदाहरण है जिसका उल्लेख पिछले अध्यायके अज्ञानाधिकरणमें किया गया है। जैसा कि आगे चलकर द्वितीय खण्डके पाँचवें अध्यायके भूतविस्ताराधिकरणमें दिखलाया जायगा, चित्त और भौतिक जगत् विजातीय नहीं हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण नामके तीन पदार्थोंसे चित्त और भौतिक जगत् दोनोंकी उत्पत्ति हुई है। यह तीनों गुण सदा मिले रहते हैं, परन्तु इनकी उद्दीप्तिमें भेद रहता है। एक उद्दीप्त रहता है, दूसरे दबे रहते हैं, एक अधिक उद्दीप्त रहता है, दूसरे कम। इसी तार-तम्यके कारण वस्तुओंमें भेद होता है। यदि सुविधाके लिए गुणोंको उनके नामोंके प्रथमाक्षरोंके अनुसार स, र, त कहें तो चित्त भी 'सरत' है और बाह्य जगत्की प्रत्येक वस्तु—आकाश, नाड़ी, मस्तिष्क—भी सरत है। केवल स, र और त की मात्राओंमें भेद है। अतः वस्तु और चित्तके बीचमें कोई गहरी खाई नहीं है; दोनों सजातीय हैं; दोनों ओर 'सरत' हैं जो एक-दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकते हैं।

एक और विचार है जो इस रहस्यको सुलझाता है। विश्व वस्तुतः एक है। हमने अपनी सुगमताके लिए उसको अस्मत्-युष्मत्, ज्ञाता-ज्ञेयमें, बाँट रखा है। यदि सारा विश्व कागद माना जाय तो चित्त और भौतिक जगत् उसके दोनों पृष्ठ हैं। दोनों पृष्ठ बराबर हैं, दोनों पृष्ठोंका नित्य सम्पर्क है, दोनों पृष्ठोंमें कागद अन्तर्हित है। समूचे कागदमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस कहनेका तात्पर्य यह है कि दोनों पृष्ठोंमें युगपत् परिवर्तन होता है, दोनों पृष्ठ परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील हैं। यदि हममें सामर्थ्य हो तो हम उभय पृष्ठ अर्थात् समूचे कागदके परिणाम-प्रवाहको देख सकें। ऐसा न करके हम कभी एक पृष्ठका अध्ययन करते हैं, कभी दूसरेका। जिसका अध्ययन करते हैं उसमें परिवर्तन होता प्रतीत होता है। दूसरे पृष्ठके सिवाय और तो कुछ है नहीं, अतः हम यह समझ लेते हैं कि यह दूसरा पृष्ठ ही परिवर्तनकी जड़ होगा और तब यह ढूँढ़ना

आरम्भ करते हैं कि एक पृष्ठ दूसरे पृष्ठको कैसे प्रभावित करता है। हमारे उपमेयमें ठीक यही बात घटती है। अस्मद्युष्मदात्मक जगत् प्रतिक्षण परिणत होता रहता है। उसके अस्मदंशमें, जिसे हम यहाँ चित्तांश कहेंगे, निरन्तर परिणाम हो रहा है और साथ ही युष्मदंशमें भी, जिसे भौतिकांश कहेंगे, बराबर परिवर्तन हो रहा है। यदि हममें सामर्थ्य हो तो हम इस सारे परिवर्तनको एक साथ देखें और समझें। ऐसा न करके कभी तो हम चित्तपर अपना ध्यान केन्द्रीभूत करते हैं। चित्तको परिणत होता देखकर हमको ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक जगत् इन परिणामोंका कारण है। इसी प्रकार यदि भौतिक जगत्पर ध्यान दिया जाय तो उसके परिवर्तनोंका कारण चित्तमें ढूँढ़ना पड़ेगा। फिर हम सोचने लगते हैं कि चित्त और भौतिक जगत्, जो स्वभावतः एक-दूसरेसे भिन्न हैं, एक-दूसरेको किस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं। वस्तुतः दोनोंके परिवर्तन उस परिवर्तनके दो पटल हैं जो समूचे विश्वमें हो रहा है। यह प्रश्न फिर भी रह जायगा कि समूचे विश्वमें क्यों और कैसे परिवर्तन होता है। इस प्रश्नपर आगे चलकर विचार होगा, परन्तु यहाँ प्रत्यक्षके स्वरूपको समझनेके लिए वह विचार अप्रासंगिक है।

३. वस्तुस्वरूपाधिकरण

मेरे सामने फूल है। मैं कहता हूँ कि मुझे इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। मैं इसे देखता हूँ, छूता हूँ, सूँघता हूँ। चक्षुरिन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रियके द्वारा चित्तमें गुलाबी रङ्ग, कोमलता और एक विशेष प्रकारकी महँककी प्रतीति होती है। फूलके तीनों लक्षण तीन इन्द्रियोंके विषय हैं। कोमलता चित्तमें है, गन्ध चित्तमें है, रङ्ग चित्तमें है। इन तीनों गुणोंके योगके सिवाय फूल और क्या है? तो फिर सारा फूल चित्तमें है। फूल ही क्यों, सारा भौतिक जगत् चित्तमें है, मनोराज्य है। परन्तु जिस प्रकार हमको अपने विचार या अपनी स्मृतियाँ चित्तके भीतर प्रतीत होती हैं उस प्रकार फूल भीतर प्रतीत नहीं होता। वह बाहर प्रतीत होता है, इसीलिए हम कहते हैं कि वह बाह्य जगत्में है। हमारे विचार

जगह नहीं घेरते परन्तु फूल जगह घेरता है, वह दिक्, आकाशके किसी प्रदेशमें है। रङ्ग, गन्ध, कोमलता जैसे लक्षण चित्तमें हैं और इनके सिवाय हमारे लिए फूल और कुछ है नहीं। इन लक्षणोंको छोड़ दीजिये तो फिर बचता क्या है जिसे हम फूल कहें? इसी प्रकार जगत्की सभी वस्तुओंके लिए कह सकते हैं। हमें उनकी सत्ताका पता लक्षणोंके रूपमें ही मिलता है और लक्षण चित्तमें हैं। लक्षणोंके अतिरिक्त किसी पदार्थका हमको परिचय नहीं मिलता। पर केवल इतनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि चित्तके सिवाय कुछ है ही नहीं। अभी ऐसा मानना ठीक जँचता है कि कुछ है निःसन्देह जो हमारे चित्तमें कोमलता, गन्ध और लाल रङ्गके संवेदन प्रकट करता है जिनसे हमको फूलकी प्रतीति होती है। कुछ है जो फूल-रूपसे प्रतीत होता है, कुछ है जो कुर्सी-रूपसे प्रतीत होता है, कुछ है जो कागद-रूपसे प्रतीत होता है, कुछ है जिसकी सत्ता है। हमको कागद या कुर्सी या फूलका प्रत्यक्ष होता है; यह उन 'कुछों'के व्यावहारिक रूप हैं। पर कुछोंका जो वास्तविक स्वरूप है उनका हमको प्रत्यक्ष नहीं होता। इस सम्बन्धमें दूसरे खण्डमें पुनः विचार होगा, तबतक यह समझ लेना चाहिये कि हम कुछके, वस्तुके, स्वरूप अर्थात् पारमार्थिक सत्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त करते। प्रत्यक्षका विषय उसकी व्यावहारिक सत्ता होती है। अध्यासकी अवस्थामें व्यावहारिक रूपकी जगह कोई और रूप देख पड़ता है। इस रूपको प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। रस्सीमें कभी-कभी अध्याससे सर्पका प्रतिभास होता है। हम यन्त्रोंके द्वारा इन्द्रियोंकी शक्तिको चाहे जितना बढ़ा लें, परन्तु ऐन्द्रिय ज्ञान वस्तुके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता।

जो बात जड़ वस्तुओंके लिए कही गयी है वही चेतनोंके लिए भी लागू है। चेतनका शरीर तो बाहरी खोलमात्र है, उसका अस्मत्, उसकी वह सब अनुभूतियाँ जो उसको दूसरे चेतनोंसे भिन्नता प्रदान करती हैं, अगोचर हैं, किसी इन्द्रियका विषय नहीं हैं। चेष्टासे भी उनका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। एक ही प्रकारकी चेष्टा भिन्न-भिन्न प्रेरणाओंके

प्रभावमें की जा सकती है। हमारा जो अंश ऐन्द्रिय प्रत्यक्षका विषय है वह हमारे 'कुल'का बहुत छोटा अंश है। इन्द्रियाँ हमारे वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं करा सकतीं। इस स्वरूपका ज्ञान उस अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा भी सामान्यतया नहीं हो सकता जिसका चर्चा अगले अधिकरणमें किया गया है।

४. अतीन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरण

ऐसी भी ज्ञातव्य बातें होती हैं, जो किसी इन्द्रियका विषय नहीं होतीं। चित्त केवल बाहरी वस्तुओंको ही नहीं जानता, अपनी वृत्तियोंको भी जानता है। अपने सङ्कल्प, अपनी इच्छाएँ, अपने राग, अपने द्वेष, अपनी आशा, अपना भय, यह सब चित्तके परिणाम हैं और चित्त इनको जानता है। इनका ग्रहण किसी इन्द्रियके द्वारा नहीं होता। जिस प्रकार दीपक दूसरी वस्तुओंको प्रकाशित करता है और अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है इसी प्रकार अन्तःकरण दूसरी वस्तुओंका भी प्रत्यक्ष करता है और अपना भी प्रत्यक्ष करता है। यह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। यह प्रत्यक्ष भी सुकर नहीं है। यों कहना चाहिये कि बाह्य वस्तुओंकी भाँति चित्तका भी यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। बहुत-सी वृत्तियाँ दबी रहती हैं। अपनेमें जो दुर्बलताएँ हैं वह सामने आने नहीं पातीं। कभी-कभी स्वप्नमें, मानस रोगमें, उन्मादमें या ऐसे व्यवहारमें जो तीव्र भावावेशके कारण बुद्धिके नियन्त्रणके बाहर निकल गया हो, इन दुर्बलताओंका पता चल जाता है, नहीं तो हम इनको दबाये रहते हैं। बहुत-सी स्मृतियाँ हैं जो हमारे अन्तःकरणमें सुरक्षित हैं, परन्तु हम उनको हठात् पीछे रखते हैं। अपने विचारोंपर हमने कई पहरेदार बैठा रखे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि चित्तको अपने पूरे स्वरूपका, अपनी पूरी गहराईका ज्ञान नहीं हो पाता। सेन्द्रियकी भाँति इस अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा जो प्रमा उत्पन्न होती है वह भी पूर्ण नहीं होती, सम्पूर्ण ज्ञेय उसका विषय नहीं हो सकता।

साधारणतः हम दूसरोंके स्वभावकी परख उनके आचरणोंसे करते हैं,

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि न केवल दूसरे मनुष्यका स्वभाव और हमारे प्रति उसका मैत्री या शत्रुत्व या भयका भाव वरन् उसके विचारोंतककी झलक यकायक हमको मिल जाती है। यह भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। बाहरी वस्तुओंका ज्ञान तो हमको सेन्द्रिय प्रत्यक्षसे होता है परन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उनको परिचालित करनेवाले नियमोंका ज्ञान सामान्यतः तर्क द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु कभी-कभी वैज्ञानिक या अन्य विचारकको ऐसे तथ्योंका यकायक भान हो उठता है। पीछेसे तर्क और अनुसन्धान इस तात्कालिक ज्ञानकी पुष्टि करते हैं। यह भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ऊँचे कलाकारके चित्तमें भी विश्वके रहस्यका इसी प्रकार न्यूनाधिक ज्ञान स्फुरित होता है।

५. अनुमानाधिकरण

प्रमाका दूसरा साधन अनुमान है। यदि अनुमानपर विश्वास न किया जाय तो जगत्का बहुत-सा व्यवहार बन्द हो जाय। अनुमानसे वहीं काम लिया जाता है जहाँ प्रत्यक्ष सुकर नहीं होता परन्तु उसकी सचाईकी कसौटी प्रत्यक्ष ही है। हमको यह निश्चय रहता है कि प्रत्यक्ष अनुमानका समर्थन करेगा। अनुमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। वह प्रत्यक्षमूलक है। जिस व्याप्तिके आधारपर अनुमान किया जाता है वह पिछले प्रत्यक्षोंका ही निष्कर्ष होगी और इस अनुमानकालमें भी अनुमेयके लिङ्गका प्रत्यक्ष होना चाहिये। तभी अनुमान हो सकता है। हमने पहिले कई बार यह देखा है कि जहाँ धुआँ था वहाँ आग भी थी। यह हमारा अन्वयी प्रत्यक्ष रहा है। यह भी देखा गया कि जहाँ आग नहीं थी वहाँ धुआँ नहीं था। वह व्यतिरेकी अनुभव रहा है। इससे हमने इस व्याप्ति, व्यापक नियम-का ग्रहण किया कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है। हमने सारे जगत्की छानबीन तो की नहीं, दस-पाँच जगहोंमें ऐसा अनुभव किया। जितनी अधिक संख्यामें धुएँके साथ आगका प्रत्यक्ष हुआ होगा उतनी ही अधिक सम्भावना व्याप्तिके ठीक होनेकी होगी। थोड़े अनुभवमें भूलके लिए अधिक अवकाश है। ऐसे कई स्थल हैं जहाँ आगके साथ

धुआँ होता है, परन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं हैं कि जहाँ-जहाँ आग हो वहाँ धुआँ भी हो। प्रत्यक्षके आधारपर कोई भी व्यापक नियम बनाया जाय, इस बातकी सम्भावना बराबर बनी रहेगी कि स्यात् कोई ऐसा दृष्टिपथ मिल जाय जिसमें वह नियम न घटता हो। यदि ऐसा एक भी उदाहरण मिला तो नियम न रह जायगा। अस्तु, यदि हम किसी दूरके स्थानमें आगके अस्तित्वका अनुमान करते हैं तो आगके लिङ्ग अर्थात् धुएँका प्रत्यक्ष होना चाहिये। प्रत्यक्षमूलक होनेसे अनुमानमें वह सब भूलें हो सकती हैं जो प्रत्यक्षमें होती हैं। यदि पहिले ही भूल हुई हो तो व्याप्ति ही ठीक न होगी। यदि इस समय लिङ्गके सम्बन्धमें भूल हो रही हो तो भी अनुमान ठीक न निकलेगा। उदाहरणके लिए मान लीजिए कि किसीको दूरके पहाड़परका कुहरा धुएँके रूपमें देख पड़ता है। यहाँ उसे लिङ्गके सम्बन्धमें मिथ्या ज्ञान हुआ है, कुहरेमें धुएँका अध्यास हुआ है। अतः यदि पहाड़पर आगका अनुमान किया जाय तो वह अनुमित ज्ञान झूठा निकलेगा, इस कारण अनुमानसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके भ्रान्त होनेकी सम्भावना रहती है और यह सम्भावना प्रत्यक्षकी अपेक्षा अधिक होती है।

६. शब्दाधिकरण

प्रमाका तीसरा साधन शब्द है। व्यवहारमें इसका परित्याग नहीं किया जा सकता। हम बहुत-सी बातें दूसरोंके कहनेके आधारपर मान लेते हैं। सारी पृथिवीका भूगोल इसी प्रकार पढ़ते हैं। यह विश्वास रहता है कि जो बात बतलायी जा रही है उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, परन्तु प्रत्येक बातकी इस प्रकार परख की नहीं जाती। कोई कहता है अमुक सड़कपर पागल हाथी खड़ा है, उधर मत जाओ। समझदार लोग इस बातको मान लेंगे। यदि कोई निश्चय करनेके लिए उधर जायगा तो उसको प्रत्यक्ष अनुभवका सुख तो मिलेगा, परन्तु हाथीके पाँव बहुत देरतक यह सुख भोगने न देंगे। रोगी वैद्यकी इस बातको मान लेता है कि अमुक औषधके पीनेसे व्यथाका उपशम होगा। इससे उसका कल्याण होता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि शब्दकी कसौटी भी प्रत्यक्ष है। तर्कसे शब्दकी चाहे जितनी भी सिद्धि की जाय, पर अन्ततोगत्वा शब्दकी पुष्टि प्रत्यक्षसे होनी ही चाहिये। शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञानके यथार्थ होनेके लिए दो बातें आवश्यक हैं—कहनेवाला आप्त हो और हम उसकी बात समझनेमें भूल न करें। आप्त उस मनुष्यको कहते हैं जो वस्तुका यथार्थ ज्ञाता हो, यथाज्ञान वक्ता हो और समझानेकी शक्ति रखता हो। ज्ञान जिन कारणोंसे अपूर्ण या मिथ्या हो जाता है उनकी ओर हम ऊपर कई स्थलोंमें सङ्केत कर आये हैं। यदि इनमेंसे किसी भी कारणसे स्वयं कहनेवालेका ज्ञान समीचीन अर्थात् यथा-वस्तु नहीं है तो सुननेवालेका ज्ञान कैसे ठीक हो सकता है? फिर कहने-वालेमें अपने भावको स्पष्ट रूपसे व्यक्त करनेकी योग्यता तो होनी ही चाहिये, उसका चित्त राग-द्वेष-भय आदिसे मुक्त होना चाहिये, अन्यथा वह अपने ज्ञानको यथावत् प्रकट न करेगा, कुछ छिपा रखेगा, कुछ बढ़ाकर कहेगा। जो इन तीनों दोषोंसे रहित हो वही आप्त पुरुष है। उसका वाक्य प्रमाण हो सकता है। परन्तु इस प्रमाणसे लाभ तभी उठाया जा सकता है जब सुननेवालेका चित्त भी निर्मल हो। जिसका चित्त किसी दुराग्रहसे युक्त है वह शब्दप्रमाणको तोड़-मोड़कर उसकी व्याख्या अपने पुराने अशुद्ध विचारोंके अनुसार करेगा। इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी असन्दिग्ध न होगा।

विभिन्न शास्त्रकारोंने इन तीनके अतिरिक्त कुछ और प्रमाणोंका भी उल्लेख किया है, परन्तु वस्तुतः उन सबका इन तीनोंमें, मुख्यतया अनुमान और शब्दमें, अन्तर्भाव हो जाता है।

चौथा अध्याय

ज्ञानमें तर्कका स्थान

१ तर्कपारतन्त्र्याधिकरण

हमने पिछले अध्यायमें प्रमाणों, अर्थात् यथार्थ ज्ञानके साधनोंमें तर्कका नाम नहीं लिया है। इसपर स्यात् किसीको आश्चर्य होगा परन्तु आश्चर्यके लिए स्थल नहीं है। हमने जिन तीन प्रमाणोंका उल्लेख किया है, तर्क उनसे पृथक् नहीं है। तर्क शब्दका प्रयोग प्रायः दो अर्थोंमें किया जाता है। बहुधा जिसे तर्क कहते हैं वह अनुमानका ही दूसरा नाम है। दूरपर धुआँ देखकर आगकी सत्ता निश्चय करनेका पारिभाषिक नाम अनुमान है; इसको तर्क भी कहा जाता है। अध्यवसायको भी तर्क कहा करते हैं। यह बुद्धिका धर्म है। कभी तो बुद्धि किसी तत्कालीन प्रत्यक्षज प्रत्ययके सम्बन्धमें निर्णय करती है, कभी कई प्रत्यक्षज प्रत्यय या प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दसे उत्पन्न प्रत्यय अध्यवसायकी सामग्री बनते हैं। उनको एक-दूसरेसे मिलानेसे ऐसी बातें निष्पन्न हो सकती हैं जो पहिले ज्ञात नहीं थीं परन्तु अज्ञात होते हुए भी यह बातें पुराने प्रत्ययोंके भीतर निहित थीं। अध्यवसाय उनको केवल प्रकट करता है। मेरे सामने एक ज्यामितिक चित्र बना है। इस बातका पता तो मुझको प्रत्यक्ष रूपसे होता है कि यह त्रिभुज है। अध्यवसाय या तर्क द्वारा मैं त्रिभुजके कई गुणोंको जान सकता हूँ। बिना नापे ही तर्क मुझे यह बतलाता है कि इस त्रिभुजके तीनों कोणोंका योग दो समकोणोंके बराबर है। यह मेरे लिए नया ज्ञान है। ऐसा नया ज्ञान तर्कसे प्राप्त होता है। मनुष्यके ज्ञानका बहुत बड़ा अंश तर्कके द्वारा ही प्राप्त, वस्तुतः अनावृत, हुआ है। मनुष्यकी यह महत्ता है कि वह तर्क कर सकता है। परन्तु तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

वह अन्य प्रमाणोंसे प्राप्त सामग्रीके बुद्धि द्वारा उपयोगका नाम है।

२. तर्काप्रतिष्ठाधिकरण

तर्कमें एक दोष यह है कि वह अप्रतिष्ठित है, अर्थात् उसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अन्तिम और निर्णायक नहीं होता। तर्कको प्रत्यक्ष-से पदे-पदे मिलाना और सुधारना पड़ता है। छोटी बातोंमें, ऐसी बातोंमें जो थोड़ी देर या थोड़े क्षेत्रमें समाप्त हो जाती हैं, तर्क वस्तुस्थितिके अनुकूल होगा, परन्तु बड़ी बातोंमें वस्तुस्थिति उससे दूर पड़ जा सकती है। प्राण-धारियोंके सम्बन्धमें तो तर्क बहुत धोखा देता है। यदि १० श्रमिक किसी कामको ८ दिनमें करते हैं तो तर्कके अनुसार २० श्रमिक उसे ४ दिनमें करेंगे। स्यात् ऐसा हो भी जाय पर तर्क यह भी कहता है कि १,१५,२०० श्रमिक उसे १ मिनटमें पूरा कर देंगे। वस्तुतः ऐसा कदापि नहीं हो सकता। एक सीमाके उपरान्त श्रमिकोंकी बढ़ती संख्या काममें बाधक होने लग जायगी। किसी मनुष्यको सीधा समझकर लोग नित्य चिढ़ाया करते हैं। उसका स्वार्थ भी स्यात् इसीमें है कि चिढ़ानेवालोंकी बात सहता जाय। परन्तु एक दिन न जाने क्या हो जाता है कि वह भड़क उठता है और ऐसे काम कर बैठता है जो हमारे सारे तर्क और उसके सारे हितोंको तोड़-फोड़ डालते हैं। ऐसा माननेकी आवश्यकता नहीं है कि कोई दैवी या दानवी शक्ति तर्कको झूठा सिद्ध करनेपर तुली बैठी है। बात यह है कि बुद्धिको जैसी और जितनी सामग्री मिलेगी वैसा ही व्यापक और ग्राहक् उसका अध्यवसाय होगा। यदि कोई सर्वज्ञ हो अर्थात् किसी-को समस्त विश्वका युगपत् प्रत्यक्ष हो रहा हो तो उसका तर्क भी असन्दिग्ध परिणामवाला होगा। साधारणतः हमको किसी भी परिस्थितिके सब पटलोंका ज्ञान नहीं होता। थोड़ी सामग्रीके बलपर अध्यवसाय करते हैं इसलिए उसका परिणाम भी यथार्थ नहीं निकलता। प्रत्यक्ष द्वारा उसको बराबर ठीक करना पड़ता है। यदि कोई नया अनुभव, नया हेतु मिला तो नया अध्यवसाय करना पड़ता है। सैकड़ों वर्षोंतक मङ्गलादि ग्रहोंकी नाक्षत्र गतिविधि देखकर विद्वानोंने उनकी चालके सम्बन्धमें नियम

बनाये। इन नियमोंके आधारपर तर्कसे यह निश्चय किया जा सकता है कि अमुक तिथिको अमुक कालमें अमुक ग्रह आकाशमें अमुक स्थानपर होगा। देखनेपर ग्रह ठीक उस स्थानपर नहीं मिलता। जितनी ही लम्बी अवधिके लिए गणना की जाती है उतनी ही बड़ी भूल मिलती है। कारण स्पष्ट है। यदि किसी समीपस्थ पिण्डके आकर्षण या किसी ऐसी ही अन्य बातके सम्बन्धमें रत्तीभर भी भूल रह गयी तो वह काल पाकर बढ़ती जाती है। ऐसी भूलको बराबर प्रत्यक्षसे मिलाकर शोधना पड़ता है। एक समय था जब विद्वान् लोग खवर्ती पिण्डोंकी गतिविधि देखकर यह मानते थे कि सूर्यादि पृथिवीकी परिक्रमा करते हैं। नये हेतुओंके मिलनेपर यह मत पलट गया और ऐसा माना गया कि पृथिवी आदि ग्रह सूर्यकी परिक्रमा करते हैं। आजकल यह कहना अधिक ठीक जँचता है कि प्रत्येक ग्रह सूर्य और अपने संयुक्त गुरुत्वकेन्द्रकी परिक्रमा करता है, पर यह केन्द्र सूर्यके पिण्डके भीतर है इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्यका परि-क्रमण हो रहा है। सर्वज्ञ परीक्षकका तर्क सदैव ठीक होगा, परन्तु साधारण मनुष्य सर्वज्ञ नहीं होता। सब सम्भव हेतु उसके सामने उपस्थित नहीं होते, इसलिए उसका तर्क पूर्णतया सत्यप्रतिष्ठ नहीं हो सकता।

तर्कमें एक और कारणसे बाधा पड़ती है। मनुष्यके लिए अपनी वासनाओंसे पीछा छुड़ाना बड़ा कठिन होता है। जो वासनाएँ अव्यक्त रहती हैं उनसे बचना और भी कठिन है। वासना बुद्धिको कलुषित कर देती है और उससे ऐसे हेतु स्वीकार करा लेती है जो अन्यथा अग्राह्य प्रतीत होंगे। तृप्त और भूखे, निर्धन और धनिक, साधु और कामीके तर्कमें भेद होता है। जो बात एकको बुद्धिसङ्गत प्रतीत होती है वही दूसरेको तर्कविरुद्ध लगती है। जो एकके लिए सद्व्याप्ति है वह दूसरेको अव्याप्ति या अतिव्याप्तिके रूपमें देख पड़ती है। निर्दोष तर्कके लिए सर्व-ज्ञताके साथ-साथ पूर्ण वासनाशून्यता भी चाहिये।

एक और बात है। तर्क करते समय प्रौढ़ और शिक्षित मनुष्य पुरानी अनुभूतियोंके व्यञ्जक शब्दोंको या आप्त पुरुषोंसे प्राप्त शब्दोंको मिलाते

हैं। इसमें सावधानीकी आवश्यकता है। यदि व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंकी यथार्थ मीमांसा न की गयी तो उनके मेलसे जो निष्कर्ष निकलेगा वह सारहीन होगा। किसीके मुँहसे यह सुनकर कि अमुक व्यक्तिके घरमें आग लग रही है पानीकी बाल्टी लेकर दौड़नेके पहिले यह निश्चय कर लेना अच्छा है कि आग शब्द शोक, अर्थकष्ट या गृहकलहके लिए तो नहीं प्रयुक्त हुआ है। अर्थका निश्चय होनेपर ही उचित कार्यका निश्चय हो सकता है।

३. अतर्क्याधिकरण

हम पिछले अध्यायके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरणमें देख आये हैं कि ऐसे कई विषय हैं जिनका ज्ञान हमको इन्द्रियव्यवधानके बिना ही होता है। अपने राग, द्वेष, क्रोध और इनके अवान्तर भेदोंके ज्ञानके लिए हमको न तो इन्द्रियोंका माध्यम काम देता है, न किसी तर्ककी आवश्यकता होती है। यह तर्कका विषय ही नहीं है। माता अपने बच्चेको चाहती है। यह स्नेह किसी तर्कके आश्रित नहीं है। स्त्री हो या सिंहिनी, दोनोंके लिए मातृस्नेह अतर्क्य है। सौन्दर्य भी अतर्क्य है। समुद्रकी उत्ताल तरंग, अभ्रचुम्बी गिरिशिखर, निर्झर, प्रपात, आकाशगंगामें मणि-मालाकी भाँति पिरोयी हुई तारावली, शरत्की ज्योत्स्ना, पुष्करमें खिली कमलराजी, कोयलकी कुहू, कोमल कण्ठसे निकली भैरवी—इन सबमें जो सौन्दर्य है वह संवेद्य है, परन्तु तर्क द्वारा दूसरेके पास नहीं पहुँचाया जा सकता। शिवात्मक कार्योंके भीतर जो सह-अनुभूति होती है वह भी इसी प्रकारका पदार्थ है। किसीको जलते या डूबते देखकर दूसरा मनुष्य जब उसे बचानेके लिए कूद पड़ता है उस समय उसको उस विपद्ग्रस्त व्यक्ति-के साथ जिस तादात्म्यका अनुभव होता है वह अतर्क्य है। 'हत्या करना बुरा है'—यह बात मनमें बैठ जाती है; प्रमाण नहीं ढूँढ़ती। गणित-शास्त्रको मूर्तिमान तर्क कह सकते हैं पर उसकी इतनी बड़ी अट्टालिका जिन तथ्योंके आधारपर खड़ी है वह अतर्क्य हैं। 'यदि दो वस्तुएँ किसी तीसरी वस्तुके बराबर हों तो वह एक-दूसरीके बराबर होंगी', 'अंशी अपने

अंशसे बड़ा होता है', '२ + २ = ४'—यह बातें स्वयंसिद्ध मानी जाती हैं। इनकी सत्यताका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया जा सकता। हमको ऐसा लगता है कि यह सच होंगी ही। इनके आधारपर हम तर्क करके बहुधा ठीक परिणामोंपर पहुँचते हैं। पर यह ज्ञान हमको तर्क द्वारा नहीं हुआ है। ऐसे तथ्य अतर्क्य हैं। सारे अनुभवोंका मूल जो 'मैं' है वह स्वयं अतर्क्य है। वह अपनेको अपनेसे जानता है, किसी तर्क द्वारा नहीं।

मैं यह फिर स्पष्ट करना चाहता हूँ कि हम तर्ककी अवहेलना नहीं कर सकते। बहुत-सा ज्ञान जो अन्यथा अप्रकट रह जाता, तर्क द्वारा ही प्रकट होता है। तर्कके अभावमें हमको प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटनाका पृथक् अनुभव करना पड़ता, सबके लिए अलग-अलग प्रत्यक्ष प्रमाण ढूँढ़ना पड़ता। तर्क हमको इस श्रमसे बचाता है और ज्ञानको प्रगतिशील बनाता है। 'वह पर्वत धूमयुत है'। इस वाक्यमें 'वह पर्वत' नाम और 'धूमयुत है' आख्यात है। आख्यातमें नामके सम्बन्धमें जो कहा गया है वह अतर्क्य है, हमको धुएँका प्रत्यक्ष हो रहा है, ऐसा संवित् हो रहा है। परन्तु तर्कके द्वारा हमको यह विदित होता है कि पर्वतपर आग है, क्योंकि जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। यह ज्ञान हमको वहाँ जानेपर प्राप्त हो सकता था, परन्तु तर्कने इस श्रमसे बचा दिया। पुराने आख्यातके भीतरसे नया आख्यात निकला और हम कह सकते हैं 'वह पर्वत अग्निमान् है'। ऐसा जाननेसे हम निर्णय कर सकते हैं कि कैसा व्यवहार किया जाय। यदि हमको भोजन पकाना है या सर्दी लग रही है तो हम पर्वतकी ओर जायँगे, अन्यथा दूसरे काममें प्रवृत्त होंगे। तर्कके अभावमें केवल धूमदर्शन व्यवहारके लिए मार्ग-प्रदर्शक नहीं हो सकता था। जो प्रत्यक्ष हो रहा था वह चित्तका विकारमात्र होकर रह जाता। अतः यह स्पष्ट है कि तर्ककी सहायतासे ही हम अपने ज्ञानका उपयोग कर सकते हैं। परन्तु ज्ञानका बहुत-सा ऐसा अंश है जो हमको बिना तर्क, बिना अध्यवसायके प्राप्त होता है। वह तर्कके लिए कुछ सामग्री दे सकता है, परन्तु स्वयं अतर्क्य है।

हमने यहाँ उस ज्ञान-सामग्रीकी अतर्क्यतापर मुख्य ध्यान दिया है जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होती है, परन्तु वस्तुतः अतर्क्यताका क्षेत्र बहुत बड़ा है। सेन्द्रिय प्रत्यक्ष और शब्दमें भी तर्कको स्थान नहीं है। यदि मान लिया जाय कि वक्ता आप्त पुरुष है तो शब्द-प्रमाणसे हम जानते हैं कि काशीमें त्रिपुराभैरवी नामका एक मुहल्ला है। यह बात हमारे लिए अतर्क्य है। किसी तर्कसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काशीमें त्रिपुराभैरवी नामका मुहल्ला होना ही चाहिये। हमको सामने एक फूल देख पड़ता है। यह पुष्पदर्शन तर्कका विषय नहीं है। हम पिछले अनुभवोंके आधारपर एतत्कालीन अनुभवके सम्बन्धमें यह तर्क तो कर सकते हैं कि ऐसा अनुभव न होना चाहिये—यह युक्तिसङ्गत नहीं है; इस तर्कके फलस्वरूप हमको अपने प्रमाणोंके सम्बन्धमें शङ्का उत्पन्न हो सकती है, परन्तु जबतक अनुभव हो रहा है तबतक वह स्वयं अतर्क्य है। दोपहरको आकाशमें सूर्य देख पड़ता है। यदि किसी दिन किसीको चन्द्रमा देख पड़ जाय तो उसको यह शङ्का होनी चाहिये कि यह भ्रान्तदर्शन है। ज्योतिषके अमुक-अमुक नियमोंके अनुसार इस समय चन्द्रमा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। मेरी आँखोंमें कोई दोष आ गया है या किसी अन्य कारणसे यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। वह यह सब तर्क कर सकता है परन्तु जबतक चन्द्रमा देख पड़ता है तबतक उसका देख पड़ना उतना ही अतर्क्य है जितना कि सूर्यका देख पड़ना। प्रत्येक प्रतीयमान सत्ता ही अतर्क्य होती है परन्तु यदि उसका हमारे दूसरे अनुभवोंसे सामञ्जस्य न हो तो हमको यह शङ्का करनेका स्थल रहता है कि जिस प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान हुआ था उसका ठीक-ठीक प्रयोग नहीं हुआ।

इन अधिकरणोंका उद्देश्य तर्कपरसे श्रद्धा उठाना नहीं वरन् तर्ककी सीमाओं और मर्यादाओंको सामने रखना है। तर्कके आधारस्वरूप जो मान्यताएँ होती हैं यदि उनको पहिचाननेमें भूल हुई है तो तर्कका सारा परिणाम दूषित हो जायगा। एक इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है। तर्क यह

मानकर ही चलता है कि कार्यकारणकी शृङ्खला अविच्छिन्न है। प्रत्येक घटनाका निश्चित कारण होना चाहिये। किसी स्थितिविशेषको देखकर उसके पहिले और बादकी स्थिति बतायी जा सकनी चाहिये। यह तभी हो सकता है जब जगत् अपवादरहित नियमोंके अधीन चलता हो। यदि जगत् ऐसे अपरिवर्तनशील नियमोंके अधीन नहीं चल रहा है या वह नियम इतने सर्वग्राही हैं कि हमको उनका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता तो हमारा तर्क ठीक परिणामपर न पहुँचेगा।

पाँचवाँ अध्याय

दार्शनिक पद्धति

१. वर्गीकरणाधिकरण

दार्शनिक समूचे विश्वके स्वरूपको पहचानना चाहता है परन्तु विश्व तो बहुत बड़ा है, इसके किसी एक अङ्गका भी पूरा-पूरा अध्ययन एक जन्ममें नहीं हो सकता। एक-एक कीटाणुकी जीवनचर्याको समझनेमें बरसों लग जाते हैं; फिर भी काम पूरा नहीं होता। इसलिए पहिला काम जो दार्शनिक करता है वह वर्गीकरण है। अन्य शास्त्रोंमें भी इसी उपायसे काम लिया जाता है। जीवनशास्त्री प्राणियोंको वर्गोंमें बाँट देता है, इससे सुविधा होती है। प्रत्येक व्यक्तिके साथ कम समय लगाना पड़ता है। अमुक प्राणी अश्व-वर्गका है, इतना जान लेनेसे हम उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें बतला सकते हैं। अमुक वस्तु त्रिकोणाकृति है या ताँबेकी बनी है इतना जान लेना हमको उसके कई गुणोंसे परिचित कर देता है। वर्गके कुछ व्यक्तियोंको विस्तारपूर्वक समझ लेनेसे उनके सवर्गीयोंका समझना सुकर होता है।

वर्गके सब व्यक्तियोंमें जो लिङ्ग पाया जाता है, जिसके कारण उनको एक वर्गमें रखते हैं, उसको सामान्य कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति उस सामान्यका विशेष है। सब मनुष्य एक-से नहीं होते। उनके बल, बुद्धि, वैभव आदिमें बड़ा अन्तर होता है फिर भी उन सबमें कुछ ऐसे गुण होते हैं जो उनका जगत्की और सब वस्तुओंसे व्यावर्तन करते हैं। उन गुणोंके समुच्चयको मनुष्यत्व या मनुष्यजाति कह सकते हैं। मनुष्यजाति सामान्य है, प्रत्येक मनुष्य उसका विशेष है। प्रत्येक पृथक् मनुष्यकी अपनी अलग ऊँचाई, मोटाई, रङ्ग, आकृति, आचार, विचार आदि होता है,

परन्तु मनुष्यत्वमें ऊँचाई आदि सब गुण होते हुए कोई विशेष ऊँचाई, कोई विशेष रङ्ग आदि नहीं होता। वह एक ऐसी टोपी है, जो प्रत्येक मनुष्यके सिरपर बैठ जाती है। इसी प्रकार लाल वस्तुओंमें लालपन, मोटी वस्तुओंमें मोटाई, चल वस्तुओंमें क्रियाशीलता आदि सामान्य हैं। यह स्पष्ट होना चाहिये कि सामान्य बुद्धि-निर्माण हैं। नीली वस्तुओंसे पृथक् नीलापन, लम्बी वस्तुओंसे पृथक् लम्बाई, बिल्लियोंसे पृथक विडालत्वकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जब कई वस्तुओंसे एक ही प्रकारकी अनुभूति होती है तो बुद्धि उस अनुभूतिको उन दूसरी अनुभूतियोंसे पृथक् कर लेती है जो उन वस्तुओंसे मिलती हैं। यह अनुभूति उन सब वस्तुओंकी, जो दूसरी बातोंमें एक-दूसरेसे भिन्न हैं, पहिचान हो जाती है। इसको उनका मुख्य गुण और उन दूसरे गुणोंको जिनके कारण उनके व्यक्तित्वोंमें भेद प्रतीत होता है, आकस्मिक गुण मान लिया जाता है। इस प्रकार उनको देखनेसे बुद्धिको सुविधा होती है। पर यह सामान्य, जिनके आधारपर वर्गीकरण किया जाता है, वस्तुगत नहीं वरन् बुद्धिनिर्मित है।

इतना बराबर ध्यानमें रखना चाहिये कि वर्गीकरण अपने सुभीतेके लिए किया जाता है। वर्गभेद कृत्रिम होता है। उन्हीं वस्तुओंका नय-भेदसे अनेक प्रकारसे वर्गीकरण किया जा सकता है। जो वस्तु एक दृष्टिसे एक वर्गमें पड़ती है, वही दूसरी दृष्टिसे दूसरे वर्गमें पड़ेगी। वही मनुष्य जो राजनीतिक विचारसे कट्टर राष्ट्रवादी है, धार्मिक विचारसे ईसाई सम्प्रदाय-जैसी अन्ताराष्ट्रीय संस्थाका सदस्य हो सकता है।

इन बातोंको ध्यानमें रखकर तब वर्गीकरण करना चाहिये। अन्यथा इस बातकी आशङ्का रहेगी कि सामान्योंकी स्वतन्त्र सत्ता है और प्रकृतिमें वस्तुएँ स्वतन्त्र, मिथोव्यावृत, अर्थात् एक-दूसरेसे सदा पूर्णतया पृथक् धर्मवाले वर्गोंमें बँटी हुई हैं। यह विकल्प नामका अज्ञान होगा। इसके आधारपर विश्वका जो चित्र बनेगा वह सर्वथा असत्य होगा।

दार्शनिकोंका काम इससे कुछ हल्का हो जाता है कि और लोग भी

वस्तुओंका वर्गीकरण कर चुके हैं। विज्ञानके विभिन्न अङ्ग वर्गीकृत विश्वका ही अनुशीलन करते हैं। वर्ग-विभाग चाहे जैसे किया जाय, एक वस्तु कई विज्ञानाङ्गोंके क्षेत्रमें पड़े बिना रह नहीं सकती। विश्वको समझनेके लिए हम वस्तुओंको वर्गोंमें बाँटते हैं, परन्तु किसी एक वस्तुको समझनेके लिए सभी वर्गों अर्थात् समूचे विश्वको समझना आवश्यक है। प्रत्येक पिण्डमें सारा ब्रह्माण्ड भरा है। फिर भी विज्ञानका किया हुआ विभाग उपयोगी है। विज्ञानके विभिन्न अङ्गोंमें भी गणित, भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान मुख्य हैं। शेषमें इन्हीं विद्याओंका विस्तार और विनियोग है। दार्शनिकको ब्योरोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है, उसको इन शास्त्रोंके अध्ययनके निष्कर्षों, इनके सिद्धान्तोंसे तात्पर्य है। सबने अपने-अपने दृष्टि-भेदके अनुसार विश्वको विभक्त किया है। दार्शनिकको देखना यह है कि अपने-अपने ढङ्गसे इनको उसके विभागोंके, जीव-अजीवके, जड़-चेतनके, भौतिक-अभौतिकके सम्बन्धमें क्या कहना है।

२. समन्वयाधिकरण

दार्शनिकका काम इन प्रतिशास्त्रसिद्धान्तोंको मिलाकर, इनका समन्वय करके, उन सिद्धान्तोंको स्थिर करना है जो विश्वका सच्चा स्वरूप द्योतित कर सकें। जिस प्रकार दो और दोको जोड़कर चार होते हैं उस प्रकार इन विभिन्न सिद्धान्तोंको जोड़ा नहीं जा सकता और यदि जा भी सकता हो तो इनको जोड़नेसे जगत्का स्वरूप नहीं बन सकता। जैसा कि हम पहिले कह आये हैं, विश्व अयुतसिद्धावयव पदार्थ है, उसके अवयवोंका स्वतन्त्र जीवन नहीं है। सम्पूर्ण विश्व अपने छोटेसे छोटे टुकड़ेमें वर्तमान है। एक छोटेसे प्राणीको ले लीजिये। उसके नख और दाँतोंकी बनावट उसके खाद्यके अनुकूल है, खाद्यका सम्बन्ध जल-वायुसे, जलवायुका पृथ्वी और सूर्यके सम्बन्धसे, सूर्यके तापका उसके भीतर परमाणुओंके टूटने और नये परमाणुओंके बननेसे, परमाणुओंका बनना और टूटना वायु और तेजके सम्बन्धसे होता है। इस समय आपके मनमें

जो विचार उठता है उसका सम्बन्ध एक ओर उस सभ्यता और संस्कृतिसे है जो सहस्रों वर्षसे विकसित होती हुई शिक्षाके रूपमें आपतक पहुँची है, दूसरी ओर उन इच्छाओं, वासनाओं और स्मृतियोंसे है जिनके आदिका आपको पता नहीं है, तीसरी ओर उन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियोंसे है जिनके कारण आपसे सैकड़ों कोस दूर और सैकड़ों वर्ष पहिले प्रस्फुटित हुए थे और चौथी ओर उन प्राकृतिक घटनाओंसे है जिनकी डोरी चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रोंतक पहुँचती है। अतः टुकड़े-टुकड़ेमें कुल विद्यमान है। प्रत्येक शास्त्र अपने क्षेत्रको यथासम्भव दूसरे सब क्षेत्रोंसे पृथक् मानकर चलनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बहुत-सी ब्योरेकी बातें जानी जा सकती हैं, परन्तु इन ब्योरेकी बातोंका ऐसा पहाड़ लग जाता है कि उसकी आड़में एकताका सूत्र छिप जाता है। दार्शनिकका काम यह है कि वह बराबर इस बातको ध्यानमें रखे कि वह विश्वके स्वरूपको पहिचानना चाहता है। इस लक्ष्यको सामने रखकर विभिन्न शास्त्रोंके मूल निष्कर्षोंको मिलाना होगा। परन्तु ऐसा प्रयत्न करनेपर यह प्रतीत हो जायगा कि टुकड़े मिलते नहीं, कुछ अंश खोये हुए हैं। नदीमें घड़े, बालटियाँ, लोटे रख दीजिये। इनमें पानी भर जायगा। वह पानी नदीका ही होगा और प्रत्येक बर्तनमेंका पानी तदाकार होगा। परन्तु इन बर्तनोंमें नदी नहीं आती, बर्तनोंके बीच-बीचमें जो रिक्त स्थान हैं उनमेंसे पानी बहता रहता है। वह किसी बर्तनमें नहीं आता। जो खड़ा होकर उसको देख पाता है वही प्रवाहमयी नदीका साक्षात्कार कर सकता है। इसी प्रकार विश्वके स्वरूपका ऐसा अंश भी है जो किसी विज्ञानका विषय नहीं है। उसको जोड़े बिना और टुकड़े बिखरे रहेंगे और विश्वका चित्र न बन सकेगा। इस अंशका ज्ञान दार्शनिकको किसी शास्त्रसे नहीं मिल सकता, यह उसके मननका परिणाम होगा। उसके सामने विभिन्न शास्त्रोंके सिद्धान्त होंगे; उसको सोचना होगा कि इनको किस प्रकार मिलाया जाय कि समूचा अविकृत चित्र बन जाय। रिक्त स्थानोंकी पूर्ति उसको उन अतर्क्य तत्त्वोंसे करनी होगी जिनका उसको

अतीन्द्रिय साक्षात्कार हुआ होगा। जो जितना ही मेधावी होगा, जिसकी बुद्धि जितनी ही निर्मल और सर्वग्राहिणी होगी, वह इस काममें उतना ही समर्थ होगा, क्योंकि उसका अतीन्द्रिय अनुभव उतना ही विशद और व्यापक होगा। यही समन्वयकी प्रक्रिया है। इसीसे यथार्थ ज्ञान होता है।

यहाँपर एक अधिकरण विश्लेषणके सम्बन्धमें भी दिया जा सकता था। समन्वय करते समय लब्ध सामग्रीपर विचार करके उसमेंसे कुछका, जो मिथ्या या गौण या अनावश्यक प्रतीत हो, त्याग करके शेषका संग्रह करना पड़ता है। समन्वयकी प्रक्रिया जहदजहत्-स्वरूपा होती है। जहद-जहत्का अर्थ है कुछको छोड़ना, कुछको लेना। जो सामग्री ली जाती है उसकी कभी-कभी मीमांसा करनी पड़ती है। सच तो यह है कि समन्वयके फलस्वरूप इस प्रकारकी सारी सामग्रीकी मीमांसा स्वतः हो जाती है। किसी तत्त्वकी मीमांसा करनेसे तात्पर्य है उसके अर्थको ठीक-ठीक लगाना। व्यष्टिको समष्टिकी पीठिकामें देखना, प्रत्येक पृथक् वस्तुका कुलमें स्थान पहिचानना, मीमांसा है। विश्लेषण और मीसांसा समन्वयके अंग हैं इसलिए हमने इनके सम्बन्धमें पृथक् विचार नहीं किया है।

समन्वय करके जो सिद्धान्त निकला वह वस्तुस्वरूपका प्रकाशक है, कल्पनामात्र नहीं है। इसकी परख इस बातसे होती है कि वह सब प्रति-शास्त्रसिद्धान्तोंको एक सूत्रमें ग्रथित कर सकता है या नहीं और सब सेन्द्रिय-अतीन्द्रिय अनुभवोंपर प्रकाश डाल सकता है या नहीं। जो दार्शनिक सिद्धान्त इस बातमें जितना ही सफल होगा वह उतना ही सत्य होगा और मुमुक्षुको उतना ही परितोष देगा।

३. निदिध्यासनाधिकरण

हमने देखा कि समन्वय करनेमें कई कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। एक तो अपने अतीन्द्रिय अनुभव या किसी आप्त पुरुषके अतीन्द्रिय अनुभवका आश्रय लिये बिना काम नहीं चलता। फिर पृथक्

शास्त्रोंके सिद्धान्तोंकी यथार्थताका भी पूरा भरोसा नहीं है। उन सिद्धान्तों-के आदि-द्रष्टाओंको भी अपने शास्त्रके ब्योरोंका समन्वय करनेमें कुछ-न-कुछ अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका आधार लेना होता है। इसके सिवाय, इन्द्रियों और उनके बाहरी उपकरणोंकी अल्पशक्तता बाधा डालती है। दूरबीन लगानेपर भी चक्षुरिन्द्रिय सब रूपवान् वस्तुओंका ग्रहण नहीं कर सकती। फिर, चित्त पारदर्शक यन्त्र नहीं है। वह वस्तुओंसे उपरक्त तो होता है, परन्तु अपने पुराने भण्डार, वासनाओं और स्मृतियोंको छोड़ नहीं सकता अतः हम उसके द्वारा वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इन सब बातोंका निचोड़ यह है कि इस सामग्रीसे जो ज्ञानराशि बनती है वह अपूर्ण, अथ च अयथार्थ, होगी। जो केवल चित्तविलास चाहता है वह उससे सन्तुष्ट हो सकता है परन्तु सच्चे खोजीका काम उससे नहीं चल सकता। उसका प्रकाश अज्ञानके सारे अन्धकारको दूर नहीं कर सकता।

सारे अनर्थकी जड़ चित्तकी चञ्चलता, उसका सतत संस्कारभारनत रहना है। वह अपने रंगमें वस्तुस्वरूपको छिपा देता है। बुद्धिके सामने वस्तुस्वरूप अहंकारके द्वारसे प्रत्यय बनकर ही आने पाता है, इसलिए बुद्धिको शुद्ध वस्तुका नहीं प्रत्युत अहंकार-वेष्टित वस्तुका ज्ञान होता है। शुद्ध वस्तुका ज्ञान तब हो जब या तो अहंकारसे बिना मुठभेड़ हुए सीधे बुद्धिसे भेंट हो या अहंकार अपनी ओरसे कुछ न करे। पहिला पर्याय सम्भव नहीं है। मन और बुद्धिके बीचमें अहंकार रहेगा ही, अतः यदि अहंकार निश्चेष्ट किया जा सके तो शुद्ध वस्तुका ज्ञान हो सकता है। एक बाधा और है। हम देख आये हैं कि इन्द्रियाँ ठीक काम नहीं कर पातीं। उनके उपकरण पर्याप्त बलवान नहीं हैं। उपकरणोंमें और कोई बल नहीं, बस इतना ही चाहिये कि वह जो बाधा शरीर डालता है उसे कम कर दें। शरीर इन्द्रियोंके लिए प्रणाली भी है परन्तु उनको बाँधे रहता है। यह साधारण व्यवहारके लिए तो अच्छा है। यदि मनुष्यकी इन्द्रियाँ निर्बाध काम करने लगें तो दैनन्दिनका व्यवहार न सध सके, पर यह बन्धन सूक्ष्म

ज्ञानका विरोधी है। यदि किसी प्रकार शरीरका बन्धन ढीला किया जा सके तो इन्द्रियाँ चित्तके समक्ष प्रभूत और यथावत् ज्ञानसामग्री उपस्थित कर सकें।

एक और महत्त्वपूर्ण वाधा है। जो ज्ञान प्रतिभासित होता है, यदि वह हमारे विचारों और वासनाओंके साथ मेल नहीं खाता तो चित्त उसको स्वीकार नहीं करना चाहता। मूढ़ग्राहके कारण सत्यका प्रकाश हमको अप्रिय लगता है और हम उसकी ओरसे मुँह फेरकर ऐसे ज्ञानाभासकी कल्पना करते हैं जिससे हमारे अभ्यस्त जीवनक्रममें वाधा न पड़े। अपने चिरअभ्यस्त 'स्व'के खो जानेका भय बुद्धिको मुग्ध कर देता है।

बहुत-से दार्शनिक इन बातोंकी ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। वह उतनी सामग्रीसे ही काम चलाना पर्याप्त समझते हैं जो हमको साधारणावस्थामें प्राप्त हो सकती है। परन्तु जो पूर्णज्ञानका भूखा होगा वह ऊपर कही गयी बातोंके महत्त्वको समझेगा। वह इस बातका प्रयत्न करना चाहेगा कि शरीरको ज्ञानमें बाधक बननेसे रोका जाय और चित्तकी उन वृत्तियोंका शमन किया जाय जिनके कारण वह विश्वस्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर सकता। इस प्रकारके प्रयत्नको निदिध्यासन कहते हैं। निदिध्यासनके बिना सत्यका साक्षात्कार नहीं हो सकता। अगले अध्यायमें इसपर विचार होगा।

४. कस्मादधिकरण

इस बातके समझनेमें कठिनाई न होनी चाहिये कि विश्वस्वरूपके अवगत होनेपर कस्मात्—क्यों ?—पूछनेकी जगह नहीं रहती। असद्युष्मदात्मक जगत्का स्वरूप जैसा कुछ भी है वैसा है, वैसा क्यों है यह नहीं पूछा जा सकता, क्योंकि वह अन्तिम तथ्य, परम सत्य है, उसे किसीने किसी उद्देश्यसे संकल्पपूर्वक नहीं बनाया है। वह अपने आप ही है। वस्तुतः अस्तित्व, सत्ता, में क्योंके लिए अवकाश नहीं होता। शास्त्रसे कथं—कैसे ?—का उत्तर माँगा जा सकता है। विज्ञान भी

कथं—का ही उत्तर देता है। विज्ञान जिस कार्य-कारण-शृङ्खलाकी नींवपर खड़ा होता है उसकी प्रत्येक कड़ी किसी-न-किसी कैसे ?—का उत्तर है।

५. विनियोगाधिकरण

सम्बद्ध होनेसे हम यहाँ संक्षेपतः इस प्रश्नपर भी विचार कर लेते हैं कि दार्शनिक ज्ञानका विनियोग क्या है, वह किस काम आता है। उससे अर्थ और कामकी सिद्धि तो ढूँढ़नी न चाहिये, क्योंकि इनका अन्तर्भाव विभिन्न विज्ञानाङ्गोंके क्षेत्रोंमें है। दर्शनसे हम वही माँग सकते हैं जिसके लिए उसका अनुशीलन किया गया था। धर्म हमको दर्शनकी ओर ले गया था। दार्शनिक ज्ञान—विश्वके सत्यस्वरूपका ज्ञान—धर्म-ज्ञानका साधन होगा। हमको उससे ज्ञात होगा कि जगत्में हमारा क्या स्थान है, किस-किसके साथ कैसा सम्बन्ध है, इस सम्बन्धसे हमारे कैसे कर्तव्य उत्पन्न होते हैं और इन कर्तव्योंका किस प्रकार पालन किया जा सकता है। इसके साथ ही अज्ञानके कारण जो इच्छाभिघात होता है वह नष्ट हो जायगा। कर्तव्यपालन करनेकी क्षमता आ जायगी। ज्ञानकी इस अवस्थाको धर्ममेघसमाधि कहते हैं। इस प्रकारका ज्ञान व्यक्तिविशेषको ही हो, पर उसका लाभ उस व्यक्तितक ही परिसीमित नहीं रह सकता। वह जो सत्य घोषित करेगा उसको और लोग भी ग्रहण करेंगे। उतना ऊँचा अनुभव न होनेके कारण सब लोगोंके लिए वह साक्षात्कृत न हो तब भी स्वीकार्य हो सकता है, क्योंकि उसके प्रकाशमें वह अपने ज्ञान, अपनी अनुभूतियों, अपने साक्षात्कृत सत्योंके सामञ्जस्यको देख सकेंगे और अपने धर्मोंको न्यूनाधिक पहिचान सकेंगे। उसके आधारपर समाजकी ऐसी व्यवस्था प्रतिष्ठित की जा सकती है जिसमें अधिकाधिक मनुष्य अपने अर्थ और कामका उपभोग कर सकें और अपने धर्मका पालन कर सकें। पूर्णज्ञानकी नींवपर समाजका जो सङ्घटन होगा वह निर्दोष होगा। कालकी गतिसे जगत्के विस्तारके सम्बन्धमें ज्ञानकी वृद्धि हो सकती है, प्राकृतिक शक्तियोंके उपयोगके नये प्रकार आविष्कृत हो सकते हैं, इसलिए समुदायके राजनीतिक या आर्थिक या सामाजिक जीवनकी नयी व्यवस्थाएँ

आवश्यक प्रतीत हो सकती हैं परन्तु पूर्णप्रज्ञके बताये हुए सिद्धान्त सदैव श्रेयस्कर रहेंगे। यह सिद्धान्त उसके निदिध्यासन द्वारा परिशोधित चित्त द्वारा साक्षात्कृत होंगे इसलिए वैज्ञानिक प्रगतिसे उनपर प्रभाव नहीं पड़ सकता। हाँ, यह निःसन्देह आवश्यक है कि देश-काल-पात्रके अनुसार उनकी मीमांसा और उनका प्रयोग करनेवाले भी धर्मज्ञ अर्थात् सच्चे दार्शनिक हों। जो दार्शनिक मत निदिध्यासनके बिना स्थिर किया जायगा वह इस प्रकार सत्य नहीं हो सकता। उसपर दार्शनिकके अपने चित्तके संस्कारोंकी छाप होगी और उसकी यथार्थता उस सामग्रीपर भी निर्भर करेगी जिसका उसने उपयोग किया होगा। यह सामग्री तत्कालीन वैज्ञानिक उन्नतिका परिणाम होगी। परन्तु फिर भी, इन सब त्रुटियोंके होते हुए भी, ऐसा मत सत्यांशसे सर्वथा विहीन नहीं हो सकता। अव्यवस्थामें प्रत्येक व्यक्तिको अपना मार्ग अपने स्वार्थ, अपने अर्थ और काम, को प्रधान लक्ष्य मानकर चुनना पड़ता है। स्वार्थोंके तात्कालिक सङ्घर्षके अनुसार वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका नियमन होता है। किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर व्यक्ति और समुदायके जीवनको सङ्घटित करना अव्यवस्थासे लाखगुना श्रेयस्कर है।

ज्ञानका यह बहुत बड़ा विनियोग है, परन्तु ज्ञानीके लिए सबसे बड़ा उपयोग अज्ञानकी निवृत्ति है। अज्ञान बन्धन है, ज्ञान उस बन्धनका कटना है। बन्धनका कटना, अज्ञानसे छुटकारा पाना, मोक्ष, स्वतः लक्ष्य है। वह स्वयं परम श्रेय, परमानन्दस्वरूप है।

छठाँ अध्याय

निदिध्यासन

१. योगस्वरूपाधिकरण

निदिध्यासनकी प्रक्रियाका नाम योग है। योगका उद्देश्य है चित्तको ऐसी अवस्थामें ले आना जिसमें वह ज्ञानका निर्बाध साधन बन सके। थोड़ेमें कह सकते हैं कि ज्ञानकी प्राप्तिमें मुख्य बाधाएँ यह हैं—चित्तकी वह शक्तियाँ जिनको इन्द्रिय कहते हैं, शरीररूपी स्थूल यन्त्रसे काम लेनेपर बाध्य हैं, इसलिए बहुत-से विषयोंका ग्रहण नहीं कर पातीं। इन्द्रियोंकी यह विवशता पूर्ण दार्शनिक ज्ञानके लिए बाधक है परन्तु जगत्‌के व्यवहारकी दृष्टिसे उपयोगी है। शरीर इसलिए बना है कि उसके द्वारा हमारी भूख-प्यास, कामवासना आदिकी तृप्ति हो। इस कामके लिए परिमित इन्द्रियशक्ति ही उपयुक्त है। यदि वासनाएँ और शारीरिक आवश्यकताएँ यही रहें और इन्द्रियाँ निर्बाध हो जायँ तो जीवन-निर्वाह असम्भव हो जाय। यदि स्त्री-पुरुष अपनी आँखोंसे एक-दूसरेके शरीरके भीतर होनेवाली क्रियाओंको बराबर देख सकें तो क्या कभी भी दाम्पत्य सम्बन्धके लिए प्रवृत्त हो सकते हैं? जो मनुष्य खाद्य और पेयके भीतर देख सके, उनके कलेवरमें रहनेवाले जीवोंको देख सके वह क्या कभी भी अपनी भूख-प्यास मिटा सकता है? जो विषय संवित्‌रूपसे मनमें प्रवेश भी कर पाते हैं उनका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, क्योंकि चित्त स्वयं उनको रँग देता है; किसी विषयपर देरतक चित्तको टिकाना कठिन होता है—चित्तका स्वभाव ही परिणाम है। जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठती रहती हैं उसी प्रकार चित्तमें प्रज्ञान उठते रहते हैं। एक आता है, दूसरा जाता है। एकका अभिभव, दूसरेका प्रादुर्भाव निरन्तर होता रहता है। इस

प्रवाहमें कोई विषय ठहर नहीं सकता, प्रत्येक प्रज्ञानका पृथक् विषय होता है; यदि बाहरी विषयोंसे हटकर चित्त अपने स्वरूप और अपने भीतर सञ्चित वासनाओं, संस्कारों और स्मृतियोंका प्रत्यक्ष करना चाहता है तब भी कठिनाई पड़ती है। उधर बाहरके विषय इन्द्रिय-द्वारको खटखटाते रहते हैं, इधर चित्त-प्रवाह किसी एक भीतरी विषयपर रुक नहीं पाता। वासनाएँ सत्यपर पर्दा डालती रहती हैं। नग्न सत्यका सामना करनेमें भय लगता है। चित्तका विकास भी साधारण जीवनयात्रा—अर्थ और काम—के भोगके अनुकूल हुआ है। जो इसके ऊपर उठना चाहता है उसीके लिए इसमें बन्धन प्रतीत होता है। योगका उद्देश्य इन कठिनाइयों-पर विजय पाना है। उसके अभ्याससे इन्द्रियाँ शरीरके स्थूल बन्धनसे छूट-कर अपने विषयोंका सम्यक् ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं; चित्तमें एकतानता आती है अर्थात् यद्यपि वह अपना परिणमनशील स्वभाव नहीं छोड़ता परन्तु एक विषयपर यथेच्छ कालतक लगाया जा सकता है, ऐसा हो सकता है कि जिन प्रज्ञानोंका अभिभव और प्रादुर्भाव हो उनके विषयोंमें समानता हो; उसमें एकाग्रता आती है अर्थात् सर्वार्थताकी अवस्थाका, जिसमें एक साथ कई विषय उपस्थित रहते हैं, क्षय होकर एकार्थताकी अवस्था आती है जिसमें एक कालमें एक ही विषय चित्तमें रहता है; पहिलेके संस्कारोंका इस प्रकार निरोध हो जाता है कि अर्थमात्र निर्भास हो अर्थात् अहंकार-की तूलिकासे अछूता वस्तुस्वरूप बुद्धिके सामने आवे। तुच्छ विकृत भोग-लिप्सा और वासनाओंपर विजय प्राप्त होती है, निकृष्ट अर्थकाममय 'स्व'-का मोह छूट जाता है और दृढ़ताके साथ सत्यका साक्षात्कार करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। चित्तकी इस अवस्थाको, जब वह अभिजात मणिके सदृश पारदर्शी हो जाता है, समाधि कहते हैं।

२. वैराग्याधिकरण

यह साधारण अनुभवकी बात है कि जब किसी बड़े कामको करना होता है तो चित्तको और बातोंकी ओरसे खींचना पड़ता है। जितना

ही बड़ा काम होता है उतना ही दूसरी बातोंसे बे-लगाव होना आवश्यक हो जाता है। विद्यार्थी, कलाकार, वैज्ञानिक प्रयोक्ता—यह सब अपनेको जितना ही जगत्के प्रपञ्चसे अलग कर पाते हैं उतना ही अपने उद्देश्यमें सफल होते हैं। दार्शनिक जिज्ञासुके लिए भी यही विधान है। जो अपने अर्थ और कामके पीछे दौड़ता फिरता है वह सत्यका अन्वेषण नहीं कर सकता। जो लोग स्वर्गादिके लोभी हैं उनके लिए भी यह मार्ग बन्द है। इन सुखोंकी जड़में राग है। रागसे द्वेष भी उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सुखोंके खोजियोंमें कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूपमें सङ्घर्ष अवश्यम्भावी है। अतः जो ज्ञानका सच्चा खोजी है उसको विरक्तिशील बनना ही पड़ेगा। कुछ वैराग्य, अर्थात् अर्थ और कामकी ओर अभिरुचिका अभाव, तो पहिलेसे ही रहा होगा, अन्यथा चित्त ज्ञानान्वेषणकी ओर झुकता ही नहीं; कुछ वैराग्य अनवकाश उत्पन्न कर देता है, कमसे कम इतना तो होता ही है कि विद्यार्थी और शोधकर्ताकी भाँति दर्शनके अध्येताको भी सुखोपभोगका अवकाश कम मिलता है और कुछ अरुचि भी हो जाती है। परन्तु इतना पर्याप्त नहीं है। ऐसे व्यक्तिको हठात् चित्तको ऐसे सुखोंसे फेरना चाहिये। पुराने अभ्यास, पुराने संस्कार बार-बार विषयोंकी ओर खींचेंगे, परन्तु उनसे लड़ना चाहिये। गिरनेसे घबराना न चाहिये। फिर उठकर आगे बढ़ना चाहिये।

३. चित्तप्रसादाधिकरण

सारा समय तत्त्वचिन्तनमें बिताना सम्भव नहीं है। जिज्ञासुको कुछ-न-कुछ अगत्या करना पड़ेगा। जाग्रत् अवस्थामें क्षणभर भी निष्क्रिय रहना सम्भव नहीं है। जो काम किया जायगा वह चित्तपर अपने संस्कार छोड़ जायगा और यह संस्कार आगे चलकर ज्ञानोपलब्धिके मार्गके काँटे बनेंगे। इसलिए यह उचित है कि ऐसे काम किये जाँय जिनके संस्कार कमसे कम हानिकारक हों। इस प्रकार काम करनेसे, जिसमें अपने स्वार्थके स्थानमें दूसरोंका हित लक्ष्य बनाया जाय, जो संस्कार बनते हैं उनमें

बाँधनेकी शक्ति बहुत कम होती है। काम करनेके इस भावको नैष्कर्म्य कहते हैं। नैष्कर्म्यकी चार मुख्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं अर्थात् वह चार प्रकारसे प्रकट होता है। इनको मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा कहते हैं।

संसारमें सुखकी मात्रा बढ़ाना मैत्री और करुणा है। सुखीके सुखमें वृद्धि करना मैत्री और दुखियाको सुखी बनाना करुणा है। न बैठे-बैठे आशीर्वाद देना मैत्री है, न बैठे-बैठे चार आँसू गिरा देना करुणा। मैत्री और करुणा प्रयत्नापेक्षी हैं, क्रियासाध्य हैं। जो लोग अच्छे कामोंमें, लोकसंग्रहमें, अपने धर्मके पालनमें लगे हैं, उनके मार्गको निष्कण्टक बनाना, उनकी सहायता करना, उनको प्रोत्साहन देना मुदिता कहलाती है और जो लोग कुमार्गगामी हैं, लोकोत्पीड़नमें रत हैं, उनके साथ घृणा न करते हुए उनके और दूसरोंके हितकी दृष्टिसे उनको विपथ-गमनसे रोकना उपेक्षा है। मुदिता और उपेक्षा भी कोरी भावनाएँ नहीं हैं, इनके लिए भी सक्रियताकी अपेक्षा है। इन चारोंके लिए विवेक-बुद्धिकी भी अपेक्षा है। विवेकसे ही सत्य, असत्य, सुख, दुःख, पुण्य, अपुण्यकी पहिचान होती है। मद्यप मदिरापानसे सुखी होता है, रोगी कड़वी औषध पीनेमें दुखी होता है। अतः लोगोंकी प्रवृत्तिसे ही सुख-दुःखकी पहचान नहीं हो सकती। ऐसा हो सकता है कि जो प्रेय हो वह श्रेय न हो। मैत्री आदिका यथावत् पालन तो तब हो जब इनका अनु-सरण करनेवाला स्वयं पूर्ण ज्ञानी हो। जिज्ञासु तो ज्ञानके मार्गपर अभी चल रहा है। इसलिए उससे भूलें होंगी, इन भूलोंका परिणाम भी बुरा होगा, फिर भी यदि उसकी भावना शुद्ध है और वह बराबर बुद्धिसे काम लेता चलता है तो भूलें सुधर भी सकेंगी और उनके संस्कार बहुत बुरे न होंगे। ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ेगा, बुद्धि शुद्ध होती जायगी और धर्मा-धर्मादिकी परख बढ़ती जायगी। इस प्रकार ज्ञानपथपर आरूढ़ व्यक्तिकी यह साधना लोकहितका साधन बनेगी।

नैष्कर्म्यका सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह मैं-तू, अपना-पराया-की उस भित्तिको पोली कर देता है जो स्वार्थसङ्घर्षके लिए उपजाऊ भूमिका

काम करती है। जितना ही अपनी वासनाओंका दमन करके परार्थको कर्मका नोदक बनाया जाता है उतना ही चित्तका विक्षेप कम होता है और वह वस्तुस्वरूपको समझनेमें समर्थ होता है। युष्मत्—ज्ञेय—का बहुत बड़ा अंश दूसरे प्राणी, उनके चित्त और उनकी चेष्टाएँ हैं। हम उनको अपने अहङ्कारके पर्देके भीतरसे देखते हैं। मैत्री आदि भावना-चतुष्टयके सतत अभ्याससे यह पर्दा झीना होता जाता है और हम दूसरोंके यथावत् ज्ञानके पास पहुँचते जाते हैं। चित्तकी ऐसी दशाका नाम प्रसाद है।

४. व्रताधिकरण

व्रतका अर्थ है शुद्ध चरित्र और आचरण। यों तो प्रत्येक मनुष्यको व्रती होना चाहिये परन्तु योगीके लिए तो व्रताचार अनिवार्य है। अव्रती योगी हो ही नहीं सकता। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और त्याग योगीके महाव्रत हैं। इनका पालन करना सुकर नहीं है। चित्त बहाने ढूँढ़ता है, पदे-पदे प्रलोभन मिलते हैं, स्खलन ऐसा धीरे-धीरे होता है कि पता भी नहीं चलता। इसलिए सतत सतर्क रहना आवश्यक है। व्रतोंके अनुष्ठानसे असीम लाभ होता है। इस समय् हमारी बहुत-सी दैहिक और चैत्त शक्ति असदाचरणमें नष्ट होती है। चित्त बहिर्मुख बना रहता है, इसीसे विक्षिप्त रहता है। यदि उसका यमन किया जाय तो इस शक्तिका सञ्चय हो और उसे चित्तको अन्तर्मुख करके एकाग्र बनानेमें लगाया जा सके।

महाव्रतोंके अनुष्ठानमें बुद्धिका सहयोग आवश्यक है। किसी पुस्तक या उपदेष्टासे सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा या त्यागकी सर्वाङ्गीण शिक्षा नहीं मिल सकती। रोगीसे यह कहना कि वैद्य तुम्हारी व्याधिको असाध्यप्राय समझता है सत्य नहीं है और न केवल शस्त्र-प्रयोगसे हाथको खिंचा रखना अहिंसा है। कभी-कभी आततायीका हनन भी अहिंसा हो सकता है। उद्देश्य यह होना चाहिये कि दूसरोंके साथ-साथ उसका भी कल्याण हो।

महाव्रतोंके तुल्यप्राय स्थान उपव्रतोंका है। तप और श्रद्धा उप-व्रतोंके प्रतीक हैं। जो तपस्वी और श्रद्धालु नहीं है उसको योगमें सफलता

नहीं मिल सकती। तपके अनेक भेद हैं। खाने-पीनेका नियमन अर्थात् मांस और मादक तथा नाडि-उत्तेजक द्रव्योंका वर्जन, मिताहार, मित-निद्रा, मितभाषण, अवहास और अपहासका परित्याग, तितिक्षा अर्थात् शीत-उष्ण, क्षुधा-तृष्णाका सहन, पठन-पाठनमें भी ऐसे वाङ्मयका अध्ययन जो श्रेयस्कर अर्थात् ज्ञानलब्धिके अनुकूल मानस वातावरण उत्पन्न करनेवाला हो, यह सब तपके रूप हैं।

श्रद्धाका अर्थ अन्धविश्वास नहीं है। योगी विश्वके स्वरूपका साक्षात्कार करने चला है, उसे शब्दप्रमाणके भरोसे नहीं बैठना है, इसलिए उसे इस प्रकार किसीपर विश्वास करनेकी आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु इतना विश्वास होना चाहिये कि विश्वस्वरूप ज्ञेय है, उसको जाननेके लिए अथक परिश्रम करना होगा। जो ज्ञानलव अबतक प्राप्त हुआ है वह अभिमानके लिए हेतु होनेके स्थानमें नम्रता और विनयमें एक पाठ है। श्रद्धाका एक बड़ा अङ्ग यह भी है कि जहाँ यह विश्व अपने स्वरूपको उस व्यक्तिके सामने आवृत रखता है जो केवल भोगका इच्छुक है, वहाँ वह उसे उसके सामने खोल देता है जो ज्ञानका खोजी है। यह भावना अन्वेषकके पथको सुगम बनाती है।

जो रोगी है उसको योगी बननेके पहिले स्वस्थ बनना चाहिये। जिसको भोजन नहीं पचता, बात-बातमें शिरोव्यथा होने लगती है, जरा-सा खटकेमें निद्रा भाग जाती है या लगती ही नहीं, तोंद निकली हुई है, मांस लटक रहा है, उसे अपनी चिकित्सा करानी चाहिये। इसी प्रकार जो व्यक्ति चिन्ता, संशय, भयका शिकार बना रहता है वह भी योगदीक्षाका अधिकारी नहीं है। लोग मृत्युके डरसे योगी नहीं बनते, किसी उपास्यकी कल्पना करके त्राहि माम्-त्राहि माम् करते हुए उसकी शरणमें दौड़ते हैं। योग दुर्बलोंके लिए नहीं है। जो तप नहीं कर सकता वह पूर्णज्ञानका अधिकारी नहीं है।

५. प्राणाधिकरण

तत्त्वचिन्तन, गम्भीर विचार शान्त वातावरणमें शान्तिके साथ बैठ

कर ही हो सकता है। योगीको भी एकान्त और स्वच्छ तथा कीड़े-मकोड़े, शोर-गुलसे मुक्त स्थानका सेवन करना चाहिये। वह अपने चित्तको नियन्त्रणमें लाना चाहता है। बलवान् शत्रुके सहायकोंको पंगु कर देनेसे उसपर विजय पाना सुकर हो जाता है। योगी इसी युक्तिसे काम लेता है। शरीरमें मेरुदण्डके भीतर जो नाडिरज्जु है उसे सुषुम्ना कहते हैं। उसमें स्थान-स्थानपर नाडिकोष्ठ हैं जिनमेंसे नाडितन्तु निकले हुए हैं। इनमेंसे कुछ तो शाखा-प्रशाखामें बँटकर शरीरके बहिर्भागमें फैले हुए हैं और कुछ ऊपर कण्ठकी ओर जाते हैं। इसी प्रकार शिरके भीतर मस्तिष्क है जो नाडिकोष्ठों और तन्तुओंका गुच्छा है। मस्तिष्क और सुषुम्नाका मेल जहाँ होता है उस जगहको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। सुषुम्ना तो वहीं समाप्त हो जाती है परन्तु उसमें स्थित नाडिकोष्ठोंसे आये हुए तन्तु मस्तिष्कमें जाते हैं। वहाँ उनका विशेष केन्द्रोंसे सम्बन्ध होता है। आँख, कान, नाक और जिह्वासे आये हुए तन्तुओंका भी मस्तिष्कसे सीधा सम्बन्ध है। बाह्य विषयोंके आघातसे नाडितन्तु प्रकम्पित होते हैं। यह प्रकम्पन उनके मूल नाडिकोष्ठतक पहुँचता है। यदि वह कोष्ठ सुषुम्नामें है तो ऊपर जानेवाले तन्तु क्षोभको मस्तिष्कतक पहुँचाते हैं; आँख, कानसे आये तन्तु और उनके कोष्ठ मस्तिष्कको सीधे क्षुब्ध कर सकते हैं। यदि क्षोभ हल्का हुआ तो चित्तपर प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु यदि बाहरी आघात तीव्र हो तो मस्तिष्कमें उग्र क्षोभ होगा और फिर चित्तपर भी प्रभाव पड़ेगा। आघात पहुँचानेवाली वस्तुका मनमें संवित्के रूपमें प्रवेश होगा। संवित्से प्रत्यय बनेगा और फिर बुद्धि अध्यवसाय करेगी। अध्यवसायके फलस्वरूप यदि कोई सङ्कल्प हुआ तो वह फिर मस्तिष्कमें क्षोभ-रूपसे प्रकट होगा और मस्तिष्कसे नाडिकोष्ठों और तन्तुओं द्वारा मांस-पेशियोंतक पहुँचेगा। इस प्रकार सुषुम्ना और मस्तिष्क मिलाकर जो नाडिसंस्थान है वही बाहरी जगत्से सम्बन्धका साधन होता है। उसके द्वारा बाहरी वस्तुकी क्रिया चित्तपर ज्ञानके रूपमें और चित्तकी प्रतिक्रिया बाहरी वस्तुपर शरीरकी चेष्टा-विशेषके रूपमें होती रहती है। जबतक

नाडिसंस्थान काम करता रहेगा तबतक चित्तका विक्षिप्त रहना स्वाभाविक है। जो शक्ति नाडियोंमें दौड़ती है, जो उनको परिचालित करती है, उसको प्राण कहते हैं। चित्त और प्राणका अन्योन्याश्रय है। दोनों साथ-साथ चञ्चल और साथ-साथ निश्चल देख पड़ते हैं। योगी इस बातको जानता है, इसलिए वह चित्तको निश्चल बनानेके उद्देश्यसे प्राणको निश्चल बनानेका उपाय करता है। चित्तस्थैर्यकी अपेक्षा प्राणस्थैर्य सुकर है, क्योंकि प्राणका शरीरसे सीधा सम्बन्ध है। प्राणका नियन्त्रण करनेके उपायको प्राणायाम कहते हैं। यों तो कई ऐसी औषधियाँ हैं जिनके उपचारसे नाडिसंस्थान निष्क्रिय बनाया जा सकता है परन्तु औषधि नाडियोंको रोगी बना देती है जो योगीका अभीष्ट नहीं है और उनका प्रभाव यह होता है कि चित्त मूढ़ावस्थाको प्राप्त हो जाता है जो योगके लिए अनुपयोज्य है। इसलिए योगी दूसरी विधियोंका आश्रय लेता है। प्राणायामके अभ्याससे यह पहिले सुषुम्नाके निचले भागमें स्थित नाडिकोष्ठों और उनसे सम्बद्ध नाडितन्तुओंसे प्राण खींचनेमें समर्थ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि नाडिसंस्थानके इस भागमें योगके अभ्यासकालमें प्राण-सञ्चार नहीं होता, अर्थात् शरीरके जिस भागसे वह तन्तु सम्बद्ध हैं वहाँका कोई विषयाघात मस्तिष्कको क्षुब्ध और एतद्द्वारेण चित्तको विक्षिप्त नहीं कर सकता। उतना भाग अभ्यासकालके लिए शून्य, जड हो जाता है। धीरे-धीरे सुषुम्नाके एक भागसे दूसरे भागतक बढ़ता हुआ यह क्रम मस्तिष्कतक पहुँचता है। इसीको सुषुम्नानाडीसे प्राणको ब्रह्माण्डमें चढ़ाना कहते हैं। अभ्यासके दृढ़ हो जानेपर बाह्य विषयोंकी चित्तपर क्रिया और चित्तकी बाह्य वस्तुओंपर प्रतिक्रिया, दोनों ही स्तम्भित की जा सकती हैं। प्राणका ज्यों-ज्यों नीचेसे प्रवाह रोका जाता है त्यों-त्यों वह संचित शक्ति इन्द्रियोंकी सेवामें लगती है, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको ग्रहण करनेका अद्भुत बल प्राप्त करती हैं और विक्षेपकारी आघातोंके क्रमशः कम होते जानेसे चित्तमें एकतानताका लाना सुकर होता है। वह जिन विषयोंपर जमता है उनपर देरतक जमता है। इस प्रकार युष्मत्का

अध्ययन, उसके स्वरूपका ज्ञान अशेष और मर्मस्पर्शी होता है। जब ऐन्द्रिय नाडितन्तुओं और कोष्ठोंमें प्राणकी गतिका अवरोध हो जाता है और उसका संचार मस्तिष्कमात्रमें रह जाता है उस समय चित्तका बाह्य जगत्से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। वह अपने संस्कारों और वासनाओंको विषय बनता है। ज्यों-ज्यों चित्त इनके ऊपर उठता है त्यों-त्यों अस्मत्के स्वरूपका अधिकाधिक विशद ज्ञान होता है। इस प्रकार प्राणका नियमन योगीको चित्तके नियमनमें सहायक होता है। किसी अच्छे जानकारकी देख-रेखमें ही प्राणायामका अभ्यास किया जा सकता है, अन्यथा उससे कई प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और कई प्रकारके मानस विकारोंके उत्पन्न होनेकी भी आशङ्का रहती है।

६. समाध्यधिकरण

योगीका मुख्य लक्ष्य चित्तको संयत करना है। उसको किसी एक विषयपर लगाने और वहाँसे हट जानेपर फिर वहीं खींचकर लानेको धारणा कहते हैं। धारणाके दृढ़ होनेपर जो अवस्था आती है उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान क्रमशः समाधिमें परिणत हो जाता है। समाधिमें चित्त निश्चल-सा हो जाता है। निश्चलताका एक रूप शून्य हो जाना है। यह पूर्वावस्थामात्र है, परन्तु बहुतसे साधक यहीं रुक जाते हैं। जबतक समाहित चित्तका विषय स्थूल रहता है अर्थात् जबतक विश्वके इन्द्रिय-ग्राह्य अंशका स्वरूप ज्ञेय रहता है तबतक समाधिको वितर्कसमाधि कहते हैं। जब स्वयं इन्द्रियाँ और चित्तके प्रत्यय और संस्कार विषय होने लगते हैं उस समय विचारसमाधि आरम्भ होती है। ऐसा भी समय आता है जब द्रष्टा अपनेको भीतरी-बाहरी अन्य सब विषयोंसे हटाकर अपने स्वरूपको, अस्मत्को, अन्तस्तमको विषय बनाता है। उस अवस्थाको भी पार करके जिस दशामें युष्मदस्मदात्मक विश्वका सारा रहस्य खुल जाता है, जिस अवस्थामें विश्वस्वरूपका सम्पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है, जो ज्ञानकी पराकाष्ठाभूमि है, उस समाधिको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

समाधि हँसी-खेल नहीं है। जो चित्त विक्षिप्त था उसीको समाहित करना होता है। वह सहसा अपने पुराने कलेवरका परित्याग नहीं कर सकता। वासनाएँ, स्मृतियाँ, पुराने विकल्प और अध्यास उसमें भरे पड़े हैं। उनसे अवच्छिन्न होकर ही वह नये विषयोंका ग्रहण करता है। इसलिए जो ज्ञान होता है वह शुद्ध नहीं हो सकता। आसीन होकर बैठ जानेसे ही अनुभूतिके दोष नहीं मिट जाते। योगाभ्यास जादू नहीं है। योगी उसी कामको नियमित रूपसे करना चाहता है जिसे अपने-अपने व्यवसायोंमें कवि, वैज्ञानिक, व्यापारी, सभी थोड़ा-बहुत करते हैं। इसलिए वितर्कसमाधि साधारण ज्ञानसे कुछ ही शुद्ध होती है। विचार-समाधि उससे अधिक शुद्ध होती है। ज्यों-ज्यों अन्तःकरणके पुराने संस्कार दबते हैं, ज्यों-ज्यों वह स्वभावशून्य-इव होता जाता है, त्यों-त्यों वह वस्तुस्वरूपका अधिकाधिक बोधक होता जाता है। इसी क्रमकी दृष्टिसे योगके आचार्योंने वितर्कके सवितर्क, निर्वितर्क और विचारके सविचार, निर्विचार दो भेद किये हैं। यदि साधक स्वयं सावधान न हो, यदि उसका देशिक सावधान न हो और यदि अभ्यासके आरम्भकालमें बराबर मनन और स्वाध्याय न किया जाय तो योगीके लिए वितर्कसमाधिसे ऊपर उठना असम्भव हो जायगा और वह अपने नये अनुभवोंको, जिनकी मात्रा बहुत थोड़ी होगी, पुराने संस्कारोंके साँचेमें ढालकर सत्यका एक विकृत रूप बना लेगा। यह योगकी विडम्बना होगी।

समाधि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी परमावधि है। समाधिज ज्ञान किसी प्रमाणान्तरकी, अनुमान या शब्द या तर्ककी अपेक्षा नहीं करता। वह स्वयं अन्य प्रमाणोंकी और तर्ककी कसौटी है। अन्य सब साधनोंसे प्राप्त हुए ज्ञानका उसमें अन्तर्भाव होता है। उसके प्रकाशमें सब ज्ञानांशोंका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और इनको मिलाकर विश्वस्वरूपको समझनेमें जो त्रुटियाँ रह जाया करती थीं वह दूर हो जाती हैं। अतक्र्योंका निःशेष प्रत्यक्ष हो जाता है। अतीत और अनागत सिमटकर वर्तमान बिन्दुपर आ जाते हैं।

वस्तुतः जबतक प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् बुद्धिको श्रम करना पड़ता है तभीतक प्रश्न रहते हैं, समस्याएँ रहती हैं। कुछ प्रत्यक्ष हुए, उनके बीचमें चित्त अपनी ओरसे सम्बन्ध निर्माण करता है। पूरा प्रत्यक्ष न होनेसे तर्क करना पड़ता है। वहाँतक संशयादिके लिए जगह रहती है। साक्षात्कार होनेपर संशयोंका क्षय हो जाता है, शङ्काके लिए स्थल ही नहीं रह जाता, समस्याओंका लोप हो जाता है।

यह ज्ञान स्वसंवेद्य है। इसको भाषाके द्वारा पूरा-पूरा व्यक्त करना असम्भव है। परन्तु जो ज्ञान केवल ऐन्द्रिय अनुभव और तर्कसे प्राप्त होता है और भाषाके द्वारा व्यक्त किया सकता है वह अधूरा है। जो दर्शनका सच्चा विद्यार्थी, सत्यका सच्चा खोजी हो, उसको निदिध्यासन करनेके सिवाय उपायान्तर नहीं है। जो योगी नहीं है वह दार्शनिक ज्ञानके विषयमें आप्त नहीं माना जा सकता। अज्ञाननिवृत्ति स्वयं तो आनन्दस्वरूपा है ही, ज्ञानोपलब्धिका यह राजमार्ग भी कठिन होते हुए आनन्दमय है।

शक्ति ज्ञानका रूपान्तर है। ज्यों-ज्यों योगीका ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों उसकी शक्ति बढ़ती है। धर्मकी खोज मोक्षकी ओर लायी थी। योगी धर्मको पहिचानता है और उसके आचरण करनेमें समर्थ होता है। उसके मन, वाणी और शरीरसे धर्मकी स्वाभाविक धारा निकलती है, इसलिए उसका संसर्ग लोकके लिए सतत कल्याणकारी है।

सातवाँ अध्याय

दिक् और काल

१. सत्कार्याधिकरण

विश्वका नाम जिसने जगत् रखा उसने गम्भीर बुद्धिमत्ताका परिचय दिया था। जगत्का अर्थ है चलनशील, गतिशील। साधारणतः गतिका तात्पर्य होता है एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाना। परन्तु जगत्के सम्बन्धमें यह मीमांसा नहीं हो सकती। समूचा जगत् स्थान-परिवर्तन नहीं कर सकता क्योंकि जितने स्थान हैं सब उसके भीतर हैं। कुल अपने भीतर चल नहीं सकता, उसके बाहर चलनेकी कोई जगह नहीं है। पर जगत् कभी स्थिर नहीं रहता। उसमें उस दूसरे प्रकारकी गति है जिसको परिणाम कहते हैं। उसका दृश्यरूप बराबर परिवर्तित हुआ करता है। जो पदार्थ परिणत होता रहता है उसको धर्मी और उसके विभिन्न रूपोंको उसकी विभिन्न अवस्थाएँ कहते हैं। कुण्डल, कड़ा, अँगूठी, पदक, कटोरी अवस्थाएँ हैं, सोना धर्मी है। विश्वका स्वरूप जिसकी दार्शनिकको खोज है, धर्मी है, विश्वकी जिन-जिन रूपोंमें हमको प्रतीति होती है वह सब उसकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। अवस्था और धर्मी एक-दूसरेसे पृथक् नहीं किये जा सकते। सभी अवस्थाएँ उस एक धर्मीकी हैं इसलिए किसी एक अवस्थाको उसका स्वरूप नहीं मान सकते। जिसको सब अवस्थाओंका प्रत्यक्ष हो वही यह कह सकता है कि मैं धर्मीको जानता हूँ। यह हमारे अन्तःकरण और उसके उप-करणोंकी बनावटका परिणाम है कि हमको धर्मोंका परिचय एक साथ न होकर उत्तरोत्तर होता है। जो अवस्था पहले गयी उसको कुछ लोग

कारण और जो पीछे आयी उसको कार्य कहते हैं। कभी-कभी ऐसा प्रयोग न करके धर्मीको कारण और उसकी सब अवस्थाओंको कार्य कहा जाता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सोना कारण है, कुण्डलादि उसके कार्य हैं। यदि सोनेको गलाकर पहिले कुण्डल बना, फिर उसे गलाकर कड़ा, फिर इसी प्रकार कटोरी तो यह माना जायगा कि सोनेका पिण्डरूपी कार्य नष्ट हुआ और कुण्डलरूपी कार्यकी उत्पत्ति हुई, फिर कुण्डलका विनाश हुआ और अँगूठीकी उत्पत्ति। यों ही विनाश और उत्पादका क्रम चलता रहता है। सोना नामक द्रव्यके अपने कुछ स्थिर गुण हैं जो इन कार्योंमें अनुस्यूत होते रहते हैं। इस मतको स्वीकार करनेमें कई कठिनाइयाँ पड़ती हैं। यदि ऐसा माना जाय कि अपरिणामी द्रव्यरूपी कारणसे कार्य उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि अपनी उत्पत्तिसे पहिले कार्यका अनस्तित्व, अभाव, था। वह नहींसे हाँ हुआ। दूध नामके द्रव्यमें दही नामके कार्यका और सोना नामके द्रव्यमें कुण्डल नामके कार्यका प्रागभाव था। जब नहींसे ही हाँ बनता है तो फिर कभी ऐसा भी हो जाना चाहिये कि दूधमेंसे कुण्डल और सोनेमेंसे दही बन जाय। पर ऐसा नहीं होता। दूधसे ही दही बनता है, इसलिए ऐसा मानना पड़ेगा कि किसी-न-किसी रूपमें दूधमें दही पहिलेसे ही था। इसी प्रकार सोनेमें कुण्डल, कटोरी, कड़ा, सब कुछ था। कार्यका अभाव नहीं था, वह असत् नहीं था, कारणमें बीजरूपसे था, सत् था। इसलिए स्थिर गुणवाले कारण द्रव्यके कार्योंके उत्पाद और विनाशकी कल्पना करनेकी अपेक्षा यह मानना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि धर्मी परिणामशील है, उसमें सभी अवस्थाएँ बीजरूपेण विद्यमान हैं, परन्तु उनका क्रमागत साक्षात्कार होता है और प्रत्येक अवस्थाके परिचायक लक्षण या गुण पृथक् होते हैं। जिसको कार्योंका विनाश और उत्पत्ति कहा जाता है वह वस्तुतः एक अवस्थाके प्रत्यक्षका शान्त और दूसरीके प्रत्यक्षका उदय होना है। जिस प्रकार समुद्रमें एक तरंग दबती और दूसरी उठती है उसी प्रकार चित्तमें वृत्तियोंका

दबना और उठना होता रहता है। अवस्थाओंकी क्रमिक अभिव्यक्तिको विकास भी कह सकते हैं।

२. निमित्ताधिकरण

ऊपरके अधिकरणमें हम जिस प्रकारके कारणके सम्बन्धमें विचार करते रहे हैं उसको उपादान कारण कहते हैं। उपादान वह कारण है जिससे या जिसमेंसे कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे, दहीका उपादान कारण दूध, कुण्डलका सोना, घड़ेका मिट्टी है। परन्तु अकेले उपादान कारणसे ही काम नहीं चलता। कोई-न-कोई ऐसी बाहरी वस्तु चाहिये जो उपादानमेंसे कार्यको उत्पन्न करे या उत्पन्न होनेमें सहायता दे। कुण्डल तब बनता है जब सोनार सोनेको गढ़ता है, कुम्हारके बिना घड़ा नहीं बनता। ऐसी उत्पत्ति-साधक वस्तुको निमित्त कारण कहते हैं। हम यह दिखला आये हैं कि जिसको उपादान कारण कहते हैं उसमेंसे असत् कार्यकी, ऐसे कार्यकी जो उसमें पहिलेसे विद्यमान न रहा हो, उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह भी सरलतासे समझमें आ सकता है कि जिसे निमित्त कारण कहते हैं वह भी असत्कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता अन्यथा ग्वाला सोनेमेंसे दही और सोनार दूधमेंसे कुण्डल बना देगा। पर ऐसा नहीं होता। इसलिए यह स्पष्ट है कि हम व्यवहारमें कारण शब्दका सुभीतेके लिए भले ही प्रयोग करें, परन्तु जो पहिलेसे नहीं है उसकी कार्य-रूपसे उत्पत्ति नहीं हो सकती। उपादान वह धर्मी है जिसमें सभी धर्म विद्यमान होते हैं। जब वह प्रकट होते हैं तब हम उनको कार्य कहा करते हैं। निमित्त स्वयं किसी प्रागभावयुक्त वस्तुको उत्पन्न नहीं करता; वह धर्मीको एक धर्मसे दूसरे धर्ममें परिणत होनेमें सहायता देता है। वह ऐसी परिस्थिति एकत्र करता है जिसमें वाञ्छित धर्मपरिणाम हो सके। मिट्टीमें घड़ा, कटोरी, दिया, हाँड़ी, खपरैल सभी बीजरूपसे हैं। कुम्हाररूपी निमित्त उसको इनमेंसे किसी एक धर्ममें या बारी-बारी अनेक धर्मोंमें परिणत होनेमें सहायता देता है। यदि वह न होता तब भी मिट्टी

परिणत होती रहती। वायु, वृष्टि, आतप निमित्त बनकर उसको ठीकरा, ढेला, कीचड़, धूल जैसे धर्मोंमें, जो सभी उसमें पहिलेसे ही विद्यमान हैं, परिणत बनाते। अविद्यमान धर्मको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य निमित्तमें नहीं होती। हवा-पानी सोनेको कीचड़ नहीं बना सकते। निमित्तका काम वही है जो खेत सींचते समय कृषक करता है। जल ऊँचेसे नीची भूमिकी ओर बहता है। यह उसका अपना स्वभाव है। किसान इधर-उधर मेंड़ काटकर उसको अपनी इच्छित दिशामें ले जाता है पर उसके स्वभावके प्रतिकूल दिशामें नहीं ले जा सकता। यदि पानी ऊँचेपर था तो किसी-न-किसी नीची दिशामें बहता। उन सब दिशाओंमें बहना उसके भीतर निहित था। कृषक इनमेंसे किसी एक दिशामें बहनेमें सहायक हुआ।

३. दिगधिकरण

प्रत्येक धर्मपरिणाम एक दृग्विषय, एक घटना है। अधिकांश घटनाएँ किसी-न-किसी 'जगह' होती हैं। परीक्षणसे प्रतीत होता है कि इन्द्रियग्राह्य धर्मियोंके सभी धर्मोंका यह लक्षण है कि वह जगह घेरते हैं। ऐसी भी जगहें हैं जहाँ कोई घटना नहीं हो रही है, जो रिक्त हैं, परन्तु हमको ऐसा विश्वास है कि वहाँ कोई घटना घट सकती है। घटना न सही, परन्तु घटनाकी सम्भावना जगहमात्रमें है। जगहोंके समुच्चयको आकाश या दिक् कहते हैं। दिक् वह है जो घटनाओंको अर्थात् इन्द्रिय-ग्राह्य विषयोंको अवकाश देता है, जिसमें इनके सब धर्मपरिणाम होते हैं। ऐसे सभी दृग्विषय दिक्में होते हैं, इसलिए इनमें सम्बन्ध प्रतीत होते हैं। वह सम्बन्ध वस्तुओं अर्थात् धर्म-विशेषयुक्त धर्मियोंके नहीं प्रत्युत दिक्के धर्म और लक्षण हैं। यदि हम दस-बीस वस्तुओंको एक डोरपर लटका दें तो वह एक-दूसरीसे सम्बद्ध देख पड़ेंगी, पर यह सम्बन्ध उनके सहज स्वभावके कारण नहीं है। उसका हेतु डोरमें है। कोई किसीके दाहिने, कोई बायें, कोई ऊपर, कोई नीचे होगी। डोरकी गतिके अनुसार उनमें गति होगी, एक-दूसरीकी ओर आकृष्ट होती-सी प्रतीत होंगी; एक

दूसरीकी ओरसे प्रतिक्षिप्त होती देख पड़ेंगी। यदि डोर और उसके अंशोंकी चाल किसी विशेष तालके अनुसार होती है तो उसपर लटकी हुई वस्तुओं-की चालमें भी यह ताल अनुगत होगा। यह दृष्टान्त दिक् और तत्रस्थ वस्तुओंके अनुषङ्गका निदर्शन हो सकता है। वस्तुएँ सब दिक्में हैं इसलिए सम्बद्ध हैं। इस कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि रासायनिक सङ्घटन और विघटन जैसी क्रियाओंका कारण दिक्में अवस्थान है। परन्तु भौतिक पिण्डोंका इतरेतराकर्षण तथा वस्तुओंके वह लक्षण, जिनका अध्ययन रेखागणित तथा तन्मूलक दूसरे गणिताङ्गोंमें होता है, सम्भवतः दिक्-हेतुक हैं। इसके साथ ही यह न भूलना चाहिये कि लटकी हुई वस्तुओंका डोरकी गतिविधि, तनाव और आकृतिपर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार दिग्वर्ती पिण्ड दिक्में भी परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं। वस्तुयुक्त आकाश और वस्तुशून्य आकाशके लक्षणोंमें भेद होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

हमको दिक्में तीन दिशाओंकी प्रतीति होती है। समतलमें एक-दूसरेको समकोणपर काटनेवाली दो दिशाएँ हैं और तीसरी इन दोनोंको समकोणपर काटती है। भौगोलिक शब्दोंमें इनको पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और उपर-नीचे कह सकते हैं। परन्तु दिशाएँ वस्तुगत नहीं वरन् बुद्धि-निर्माण हैं। हमको वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। हम उसके लक्षणोंमें लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई पाते हैं। अतः बुद्धिको दिक्में तीन दिशाएँ प्रतीत होती हैं। लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाईका परिचय हमको उसपर अपनी अँगुलियोंको चलाकर या उसको देखनेके लिए सिरको चलाकर होता है। पाँवोंसे चलपर भी हमको तीन दिशाएँ मिलती हैं। यदि हममें चलना, गति, न हो तो हमको दिशाओंकी प्रतीति न हो। चलना शरीरनिर्माण-का परिणाम है। हमारे शरीरोंका विकास इस ढङ्गसे हुआ है कि वह तीन दिशाओंमें चल सकते हैं, इसलिए उनसे आये हुए अनुभवोंके आधारपर बुद्धिको तीन दिशाओंकी प्रतीति होती है। जैसा विकास शरीर-का होता है उसके अनुरूप ही चित्तका विकास होता है, अन्यथा चित्त

और शरीरका असामञ्जस्य हो जायगा। इस दशामें प्राणीका जीवन, जो देह और चित्तके योगका हेतु और परिणाम है, असम्भव हो जायगा। परन्तु यदि किसी प्राणीके शरीरकी बनावट ऐसी हो कि वह दो ही दिशाओंमें हिल सकता हो तो उसके लिए दिक्‌में दो ही दिशाएँ होंगी। यदि कोई वस्तु हमारी उस दिशामें चले जिसमें उस प्राणीका शरीर नहीं हिल सकता तो उसके लिए वह अन्तर्द्धान हो जायगी। इसी प्रकार किसीके लिए दिक्‌में एक दिशा भी हो सकती है। इससे हम यह तर्कणा कर सकते हैं कि दिक्‌में चार और चारसे अधिक दिशाओंकी प्रतीति भी सम्भव है। यह पृथक् प्रश्न है कि तीनसे कम या तीनसे अधिक दिशाओं-की गतिवाले प्राणी हैं या नहीं। यदि हैं तो उनकी अनुभूतियाँ हमसे भिन्न प्रकारकी होंगी। वस्तुतः दिक् एक और अखण्ड है। वह सर्व-व्यापक है अर्थात् सब इन्द्रियग्राह्य विषयोंमें ओत-प्रोत है, उनके भीतर और बाहर व्याप्त है। हमारे शरीरके बाहर है, शरीरके एक-एक परमाणुके भीतर और बाहर है। सब वस्तुएँ उसमें और वह सब वस्तुओंमें है। हम उसके स्वरूपका सम्यक् ग्रहण नहीं कर पाते। जो आंशिक ग्रहण होता है तदनुसार दिशाओंकी कल्पना करते हैं।

दिग्गत अनुभव स्वभावतः सापेक्ष हैं। स्थान-परिवर्तन दाहिने-बायें, ऊपर-नीचेको उलट देता है। दिक्‌में स्वयं कोई स्थिर बिन्दु नहीं है। किसी बिन्दुको स्थिर मानकर ही दूसरे बिन्दुओंकी दिशाओंका निर्देश किया जा सकता है। इसी प्रकार शुद्ध गति भी किसी स्थिर और निश्चल बिन्दुकी अपेक्षासे ही नापी जा सकती है। परन्तु हम जिस पृथिवीपर हैं वह चल है। उसके साथ हम भी चल रहे हैं। चल बिन्दुसे गतिकी जो नाप होगी वह सापेक्ष होगी।

आकाशमें असंख्य नक्षत्र और दूसरे पिण्ड स्थित हैं। आकाशके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान न होनेसे इनकी गतिविधिके सम्बन्धमें कई प्रकारके सिद्धान्तोंका निर्माण करना पड़ता है। यह सिद्धान्त दृग्विषयोंको, वस्तुओंके प्रतीयमान सम्बन्धों और गतियोंको, जहाँतक दिखलानेमें समर्थ

होते हैं वहाँतक गणितशास्त्र इनसे काम लेता है, यद्यपि बुद्धिमें इनके आधारपर विश्वका स्पष्ट चित्र नहीं बन पाता। गणितके यह सूत्र सम्बन्धोंके प्रतीकमात्र हैं। इनको दिक्के लक्षणोंका सांकेतिक चिह्न समझना चाहिये। कोई भी लक्षण हो, वह धर्मोके स्वरूपका सम्पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता। यहाँ कठिनाई यह पड़ती है कि परोक्ष दृग्विषयोंकी अनुमित सत्ताके आधारपर उनके सम्बन्धोंकी अनुमित सत्ताको सङ्केतों द्वारा व्यक्त करनेका गणितज्ञ प्रयत्न करता है। यह सङ्केत दिक्के विषयमें प्रमासाधनकी कोटितक नहीं पहुँच सकते।

हम यह कह आये हैं कि विश्वका वही अंश दिक्में है जो इन्द्रिय-ग्राह्य है। जो अंश किसी इन्द्रियका विषय नहीं है वह दिक्के बाहर है। अस्मत्की प्रतीति दिक्में नहीं होती। संवित्, प्रत्यय, विचार, स्मृति, संकल्प जगह नहीं घेरते। अन्तःकरणके क्षेत्रमें हम दिक्का अतिक्रमण कर जाते हैं।

४. कालाधिकरण

जैसा कि हमने पिछले अधिकरणमें देखा है, विश्वके धर्मान्तर-परिणामका एक अंश ऐसा है जो दिक्की परिधिके बाहर है परन्तु साराका सारा परिणाम कालावच्छिन्न होता है। जो भी परिणाम होता है वह कालकी सीमाके भीतर होता है। दिक् और कालके स्वरूपमें भेद है। दिक्की सत्ताकी अनुभूति चित्तके भीतर नहीं होती, परन्तु कालकी अनुभूति चित्तके भीतर भी होती है। चित्तके सब परिणाम एक साथ नहीं होते। परिणाम किसी प्रकारका हो—प्रमा हो, मिथ्याज्ञान हो, स्मृति हो या सङ्कल्प हो—परन्तु एक परिणामके हट जानेपर दूसरेका साक्षात्कार होता है। कभी ताँता नहीं टूटता, पर एक परिणामके क्षय होनेपर ही दूसरेका उदय होता है। ज्ञाताको अपने चित्तके परिणामोंका जो ज्ञान होता है उसका नाम काल है। परिणामोंका नैरन्तर्य कालप्रवाहका हेतु है। यदि बहुतसे विजातीय परिणाम एक-दूसरेके आगे-पीछे आते हैं तो हमको कालप्रवाहमें वेगका

अनुभव होता है। यदि एक-से ही परिणामोंकी लड़ी आ जाती है तो प्रवाहकी गति धीमी हो जाती है। सुषुप्तिमें कालप्रवाह रुक-सा जाता है। परिणामोंके क्षयोदयसे तद्विषयक ज्ञानका क्षयोदय होता है। ज्ञानके इस तिरोभाव-प्रादुर्भाव-क्रमसे कालमें अतीत, वर्तमान और अनागतका विभाग होता है। चित्तमें जो विकार एक बार हो चुका वह फिर नहीं लौट सकता। उसकी स्मृति हो सकती है, उसके सदृश विकार हो सकता है, परन्तु वही विकार फिर होनेका अर्थ होगा उसके पीछे चित्तमें जो संवित् और प्रत्ययादि उठे उन सबके संस्कारोंका मिट जाना। पर यह असम्भव है। इसलिए कालकी धारा पलटी नहीं जा सकती, अतीतको फिर वर्तमान नहीं बनाया जा सकता। असम्प्रज्ञात समाधिमें विश्वके सम्पूर्ण स्वरूपका ज्ञान होता है। उस अवस्थामें परिणामक्रमके अभावसे हम कालका अतिक्रमण कर जाते हैं।

मैंने कहा है कि चित्तके परिणामोंके ज्ञानका नाम काल है। चित्तके संवित् आदि परिणाम बाह्य वस्तुओंके धर्मपरिणामोंके अनुगत होते हैं। उधर इन्द्रियग्राह्य विषयोंमें परिणाम होता है, इधर साथ ही चित्तमें परिणाम होता है। इन चित्तपरिणामोंका ज्ञान वास्तविक काल है। इसलिए बाहरी वस्तुओंके धर्मपरिणामों अर्थात् दृग्विषयों और घटनाओंकी प्रतीति कालमें होती है।

दिक् दृश्यका अंग है, इसलिए सभी सदृश चित्तवालोंके लिए उसकी सत्ता सदृश है। सबको उसकी समान प्रतीति होती है। इस कारण किसी एक बिन्दुको स्थिर मानकर उसके आश्रयसे अन्य बिन्दुओं और तत्रस्थ वस्तुओंका दिङ्निर्देश करना सम्भव है। परन्तु सबके चित्त पृथक् हैं, और दो व्यक्तियोंकी ज्ञानधाराएँ कभी लड़ती नहीं। इसलिए एकका काल दूसरेके कालसे भिन्न है। इसका परिणाम यह होगा कि घटनाओंका काल-निर्देश दृष्टिसापेक्ष्य होनेसे असम्भव होगा। परन्तु केवल स्थाननिर्देश घटनाको पहिचाननेके लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। 'कहाँ'के साथ 'कब' भी बतलाना चाहिये। इस कठिनाईको दूर करनेके लिए मनुष्यकी बुद्धिने

एक कृत्रिम कालका निर्माण किया है। हम सूर्य-चन्द्रको चलते देखते हैं। यह चलना आकाशमें होता है और इनमेंसे प्रत्येकके कालमें होता है। ऐसा मान लिया गया है कि कालकी मात्राओंका अनुपात दूरियोंके अनुपातमें होता है। ३०° या ६० कोस चलनेमें १०° या २० कोस चलनेका तिगुना काल लगता है। यह मानना हमारी कल्पना है क्योंकि वास्तविक कालमें कोई ऐसी मात्रा नहीं होती जो नापी-तौली जा सके। कभी प्रवाहकी गति द्रुत, कभी मन्द-सी लगती है, परन्तु यह अनुभूतियाँ गणनाका विषय नहीं बनायी जा सकतीं। अस्तु, किसी वस्तुका चलना कालका प्रतीक मान लिया जाता है। अपनी सुविधाके अनुसार हम किसी तारा ग्रह या उपग्रह, घड़ीकी सुई या सूर्यकी छायाकी चालसे काम लेते हैं। यदि क, ख नामकी दो घटनाओंके अनुभूतिकालोंके बीचमें घड़ीकी सुई १के चिह्नसे २के चिह्नतक गयी और ग, घ नामकी दो घटनाओंकी अनुभूतियोंके बीचमें १ से ५ तक गयी, तो यह कहा जायगा कि पिछली दोनों घटनाओंके बीचका काल पहिली दोनोंकी अपेक्षा चौगुना है क्योंकि १ से ५ तककी दूरी १ से २ तककी दूरीकी चौगुनी है। इस प्रकार लम्बाईको कालका प्रतीक मान लिया गया है। लम्बाई दिक्‌में होती है इसलिए यह कृत्रिम काल जो सार्वजनिक व्यवहारमें आता है वस्तुतः दिक्‌में कालकी प्रतिच्छाया या प्रतिक्षेप है। हम कालके नामसे दिक्‌से काम लेते हैं।

कालमापक दिग्वर्ती वस्तुओंकी चालके एकाकार छोटे टुकड़े किये जा सकते हैं। कला, काष्ठा, मिनिट, सेकेण्ड इस प्रकारके टुकड़े हैं। यह सबके लिए एक-से हैं। परन्तु वास्तविक कालका प्रवाह एकाकार नहीं होता। कभी काल जल्दी भागता है, कभी पहाड़-सा हो जाता है। इसलिए हम कुछ ही पलोंके स्वप्नमें ऐसी घटनाओंका अनुभव कर जाते हैं जिनके लिए जाग्रत् अवस्थामें घण्टोंकी आवश्यकता होगी। चेतनको अपनी सत्ताका जो सतत अनुभव होता रहता है उसे क्षण कहते हैं। अनुभवोंकी यह अविच्छिन्न धारा, क्षणोंका यह अटूट ताँता, कालप्रवाह है।

यह स्पष्ट है कि न तो सब व्यक्तियोंके क्षण बराबर होते हैं, न एक ही व्यक्तिके सब क्षण बराबर हो सकते हैं।

वास्तविक काल तो सापेक्ष है ही, कृत्रिम या व्यावहारिक काल भी सापेक्ष होता है। जो एकका भूतकाल है वह दूसरेका वर्तमान और तीसरे-का भविष्यत् है। घटनास्थलकी ओर बढ़नेवाले और घटनास्थलकी ओरसे हटनेवालेके लिए कालक्रम एक-सा नहीं हो सकता।

ज्ञानखण्ड

पहिला अध्याय

विकल्पजाल

हम प्रथम खण्डके दूसरे अध्यायमें कह आये हैं कि निराधार शब्दमूलक ज्ञानाभासको विकल्प कहते हैं। गधेको सींग नहीं होता परन्तु 'गधेका सींग' पदको सुनकर हमको जो एक प्रकारका ज्ञान होता है वह विकल्प है। शशशृङ्ग, वन्ध्या-पुत्र, खपुष्प जैसे और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। यह सब बहुत ही स्थूल उदाहरण हैं। इस प्रकारकी भूलसे बचना बहुत कठिन न होना चाहिये। जो कुछ भी हो, ऐसा अज्ञान कभी-कभी और किसी-किसीको ही होता है। परन्तु विकल्पकी इतिश्री इतनेसे नहीं होती। उसका विस्तार बहुत बड़ा है और उससे सर्वथा बचनेके लिए बहुत सावधानीकी आवश्यकता होती है। इस विषयका विस्तृत विवेचन करना हमारे लिए अप्रासङ्गिक है परन्तु कुछ मुख्य भेदोंकी ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनपर विचार करनेसे अगले अध्यायको समझनेमें सहायता मिलेगी।

१. अभिसिद्धान्ताधिकरण

मनुष्य निरन्तर दृग्विषयोंके बीचमें रहता है, प्रत्येक भीतरी-बाहरी घटना एक दृग्विषय है। दृग्विषयोंका साक्षीमात्र बनकर रहनेसे उसको तृप्ति नहीं होती। वह दृग्विषयोंमें, विशेषतः ऐसे दृग्विषयोंमें जो नियत रूपसे एक-दूसरेके पीछे आते हैं या जो एक-दूसरेके सदृश प्रतीत होते हैं, सम्बन्ध ढूँढ़ता है। जब सम्बन्ध निश्चित रूपसे मिल जाता है तब उसे सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त सत्य मानकर प्रतिपादित किया जाता है। जो उसको उपस्थित करता है उसको यह विश्वास होता है कि जगत्में

वस्तुतः ऐसा ही हो रहा है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दृग्विषयोंके सम्बन्धमें जो बात समझमें आती है वह निश्चय-कोटितक नहीं पहुँची होती। ऐसा विश्वास होता है कि इसके सत्य होनेकी बहुत सम्भावना है फिर भी सिद्धान्तरूपसे माननेके पहिले और परीक्षा करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। ऐसी अवस्थामें उसको अभिसिद्धान्त कहते हैं। विद्याकी उन्नतिमें अभिसिद्धान्तोंसे बहुत सहायता मिलती है। विद्युत् और प्रकाशकी गति समझनेमें इस अभिसिद्धान्तसे बड़ी सहायता मिली कि दिक्‌में एक बहुत ही सूक्ष्म गुरुत्वहीन पदार्थ सर्वत्र फैला हुआ है जो विद्युत्, प्रकाश और तापकी तरङ्गोंका माध्यम बन जाता है। इसको आकाशतत्त्व कहा गया। ज्योतिषियोंको सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, गुरु जैसे खवर्ती पिण्डोंकी गतिविधि समझनेमें इस अभिसिद्धान्तसे सहायता मिली कि यह सब पृथिवी-की, जो खमध्यमें निश्चल खड़ी है, परिक्रमा करते हैं। अभिसिद्धान्तको अभ्युपगत करके, उसको सत्य मानकर, यह परीक्षा की जाती है कि वह सब सप्रकरण दृग्विषयोंको समझानेमें कहाँतक समर्थ होता है। यदि वह इस परीक्षणमें निर्दोष उतरता है तो सिद्धान्तपदवीपर पहुँचता है, अन्यथा उसका परित्याग कर दिया जाता है।

यहाँतक कोई आपत्ति नहीं है। बुराई तब आती है जब प्रमादके कारण पूरा परीक्षण नहीं किया जाता और अभिसिद्धान्त झटसे सिद्धान्त मान लिया जाता है।

२. अपसिद्धान्ताधिकरण

ऐसा सिद्धान्त अपसिद्धान्त होता है। वह उन्नतिका साधक होनेके स्थानमें घोर बाधक होता है। धार्मिक विश्वासोंके क्षेत्रमें इसके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। लाखों मनुष्योंको यह विश्वास है कि हमारे चित्तमें जो कुवासनाएँ उठती हैं उनका प्रेरक एक दुर्दम बलवान् व्यक्ति है जिसको शैतान, इब्लीस, अहिमन जैसे अनेक नाम दिये गये हैं। लाखों मनुष्य ऐसा मानते हैं कि हमको जो कुछ सुख-दुःख भोगना है वह सब

ही नहीं वरन् हमारी बुद्धि और वासनाएँ भी एक अदृश्य और अनुल्लङ्घनीय शक्तिने नियत कर दी हैं। इनमें परिवर्तनकी रत्तीभर जगह नहीं है। इसके साथ ही यह लोग पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक में भी विश्वास करते हैं। यह शङ्का इनके चित्तमें उठती ही नहीं कि जब भाग्य नियत है तो हमारे कामोंका दायित्व उस नियत करनेवाली शक्तिपर होना चाहिये और पुरस्कार तथा दण्ड भी उसीको मिलना चाहिये। शान्तिसे विचार करनेसे अपसिद्धान्तोंकी निःसारता प्रतीत हो सकती है परन्तु बहुधा मूढ़ग्राह शान्त विचार करने नहीं देता। जबतक सच्चा सिद्धान्त नहीं मिलता तबतक चित्तमें एक प्रकारकी बेचैनी रहती है और बुद्धिको श्रम करना पड़ता है। बेचैनी और श्रमसे छुटकारा पानेके लिए अपसिद्धान्तका आश्रय लिया जाता है। उसको यथार्थ मानकर जो ज्ञान होता है वह विकल्प है। शैतानका स्वरूप कैसा है, वह जीवोंको क्यों छेड़ता है, उसकी कार्यशैली क्या है, वह नित्य है या अनित्य, यदि अनित्य है तो उसका अन्त क्या होगा, इत्यादि विषयोंको लेकर जिस विशाल वाङ्मयका सर्जन हुआ है वह विकल्पका बहुत अच्छा उदाहरण है।

अपसिद्धान्त वैज्ञानिक उन्नतिके मार्गको बन्द कर देते हैं। भौतिक पदार्थोंके निरीक्षण करनेसे कणाद तथा उनके अनुयायी इस निष्कर्षपर पहुँचे कि इन पदार्थोंके जो बड़े पिण्ड देख पड़ते हैं उनकी रचना बहुत छोटे-छोटे टुकड़ोंके मिलनेसे हुई है। उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि हम विभाजन करते चले जायँ तो अन्तमें हमको ऐसे छोटे टुकड़े मिलेंगे जिनका विभाजन नहीं हो सकता। इन अविभाज्य टुकड़ोंको उन्होंने परमाणु नाम दिया। अभिसिद्धान्तके रूपमें परमाणुवाद सर्वथा श्लाघ्य था। परन्तु प्रगति वहीं रुक गयी। बहुत ही कच्चे परीक्षणके आधारपर यह मान लिया गया कि परमाणु त्रसरेणुके षष्ठांशके बराबर होता है। यहाँ पहुँचकर यह अभिसिद्धान्त अपसिद्धान्त बन गया। यदि अधिक परीक्षण किया जाता तो यह बात ज्ञात हो जाती कि जो त्रसरेणु नाम गर्दके उन उड़ते हुए कणोंको दिया जाता है जो सूर्यकी रश्मियोंमें देख

पड़ जाते हैं उसके अभिधेयका कोई निश्चित आयतन नहीं है। सब त्रसरेणु एक नापके नहीं होते। जहाँ जैसी मिट्टी होगी वहाँ वैसे त्रसरेणु होंगे। फिर परमाणुका आयतन त्रसरेणुका शतांश मान लिया जाय तब भी अविभाज्य नहीं है। रसायनशास्त्र इनसे कई गुना छोटे टुकड़ोंसे काम लेता है। परमाणुओंके सम्बन्धमें जो विस्तृत वाङ्मय लिखा गया है वह सब विकल्पमय है।

३. चिन्त्यास्तित्वाधिकरण

बहुतसे विकल्पोंके मूलमें यह भ्रान्त धारणा है कि जो चिन्त्य है उसका अस्तित्व है। प्रौढ़ मनुष्योंके विचार मुख्यतः भाषात्मक होते हैं। सोचते समय हम मन ही मनमें बोलते हैं। इसलिए जो चिन्त्य है वह अभिधेय है, उसका कोई नाम है, उसका व्यञ्जक कोई-न-कोई शब्द है। हम यह मान बैठे हैं कि शब्द और अर्थका ऐसा अविच्छेद्य सम्बन्ध है कि जहाँ शब्द है वहाँ अर्थ निःसन्देह होगा। इसलिए जब चिन्तना की जा सकती है, जब शब्द प्रयोग किया जा सकता है, तब उस शब्दावलिका सहवर्ती अर्थ भी होना ही चाहिये। यह धारणा भ्रान्त है, अन्यथा गर्दभशृङ्ग और वन्ध्यापुत्रका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा। परन्तु विचार करनेसे देख पड़ता है कि न केवल जनसाधारण प्रत्युत विद्वानोंके भी ज्ञानके कुछ अंशका आधार केवल इतना ही है।

शब्द किसी एक व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं हैं। पीढ़ियोंसे लोग उनको बोलते आये हैं इसलिए, व्युत्पत्ति कुछ भी रही हो, प्रत्येक शब्द अपने साथ बहुत-सा अव्यक्त अर्थ बटोर लाया है। इस प्रकारके अर्थको ध्वनि कहते हैं। जो शब्द न्यूनाधिक समानार्थक होते हैं उनमें भी प्रायः ध्वनिभेद होता है, इसलिए बहुधा एक शब्दकी जगह दूसरा नहीं ले सकता। जिस स्त्रीसे किसी पुरुषका विवाह होता है उसको सहधर्मिणी, पत्नी, जाया या कलत्र कह सकते हैं। यह सब शब्द किसी एक ही प्राणीका बोध भले ही करायें परन्तु इनमें सूक्ष्म अर्थभेद है। प्रत्येक शब्दके

अनुकूल ज्ञान होगा। यदि किसी स्त्रीमें सहधर्मिणीके लक्षण नहीं हैं तो उसके लिए इस शब्दका प्रयोग करनेसे जो ज्ञान होगा वह या तो मिथ्या ज्ञान होगा या विकल्प। प्राणके सम्बन्धमें हम प्रथम खण्डके छठें अध्यायमें विचार कर आये हैं। प्राचीन कालसे ही इसका प्रयोग श्वास-प्रश्वासके लिए भी होता आया है। इस अर्थव्यभिचारने बड़ा अनर्थ ढाया है। प्राणको हवा मानकर विशाल साहित्यकी रचना हुई है जो विकल्पसे भरी पड़ी है। विद्वान् लोग इस बातका प्रयत्न करते हैं कि ऐसे पारिभाषिक शब्दोंसे काम लें जो बोलचालमें प्रयुक्त न होते हों, क्योंकि प्रचलित शब्द अपने पुराने अर्थको छोड़ नहीं सकते और कुछ-न-कुछ विकल्प उत्पन्न किये बिना नहीं रहते। परन्तु भाषाके घेरेसे बाहर जाना कठिन होता है, सब जगह क, ख, ग जैसे चिह्नोंसे काम लेना सम्भव नहीं होता, इसलिए विकल्पकी सम्भावना रह जाती है। विज्ञानके इतिहाससे इसके कई उदाहरण मिल सकते हैं।

४. अलीकसर्जनाधिकरण

सिद्धान्त, अभिसिद्धान्त और अपसिद्धान्तका आदर इसलिए किया जाता है कि वह सच समझे जाते हैं। भले ही भ्रान्त ज्ञान हो पर कोई जान-बूझकर असत्यको सिद्धान्त नहीं बनाता। जो बातें चिन्त्य हैं उनमेंसे कुछ अवस्तु हों, पर जो उन सबको सत्य मानता है वह जान-बूझकर प्रतारणा नहीं करता। उसको ऐसा ही विश्वास है कि जो चिन्त्य है वह सत्य है। यह उसकी दुर्बलता है कि प्रमाणोंसे उचित रूपसे काम नहीं लेता। परन्तु कुछ अवसरोंपर बुद्धि जानकर अलीकसर्जन करती है, ऐसे निर्माण करती है जिनको वह असत्य जानती है। जबतक यह ज्ञान बना रहता है तबतक तो कोई हानि नहीं होती, पर जब यह बात भूल जाती है और यह अलीक सत्य मान लिये जाते हैं उस समय इनसे विकल्प मिलनेकी आशङ्का उत्पन्न हो जाती है। अलीकोंसे कई क्षेत्रोंमें काम लिया जाता है; कुछ क्षेत्रोंमें इनके प्रयोगसे ज्ञानकी वृद्धिमें बड़ी सहायता मिली है। हम कुछ उदाहरणोंसे अलीकोंका स्थान स्पष्ट करनेका प्रयत्न करेंगे।

(क) गणितमें अलीकोपयोग

गणितमें अलीकोंसे बहुत काम लिया जाता है। यह बात सुननेमें आश्चर्यकी प्रतीत होती है कि झूठ सत्य कैसे मिल सकता है परन्तु यदि जितना झूठ मिलाया जाय उतना ही पीछेसे निकाल लिया जाय तो वस्तु-स्थितिमें कोई अन्तर न पड़ना चाहिये। बच्चे एक खेल करते हैं; तुम अपने मनमें कुछ रुपया लो, उतना ही किसी मित्रसे लो और एक नियत रकम हमसे लो। कुल जोड़कर आधा दान कर दो और मित्रका रुपया लौटा दो, हम बतला देंगे कि तुम्हारे पास क्या बचा है। इसे यों समझिये। मान लीजिये क रुपये मनमें लिये गये; उतने ही मित्रसे मिले और खेल दिखानेवाले बालकने अपनी ओरसे ख रुपये दिये। अब दूसरे बालकके पास कुल क + क + ख = २क + ख रुपये हुए। इसका आधा दान करनेपर क + $\frac{ख}{२}$ बचा। मित्रका रुपया लौटाने पर $\frac{ख}{२}$ बचेगा, अर्थात् जो उस बालकने अपनी ओरसे दिया था उसका आधा बच रहेगा, इसलिए वह झटसे बता सकता है कि क्या बचा। असली रुपया दानमें उठ गया और मित्रका लौटा दिया गया। यह तो खेलकी बात हुई परन्तु और गम्भीर समस्याओंमें भी इस प्रकारकी प्रक्रियासे काम लिया जाता है। वर्गसमीकरणके विमर्शकी जो पद्धति श्रीधराचार्यने निकाली थी वह इसीपर निर्भर है।

$$क\,अ^{२} + ख\,अ = ग$$

एक वर्गसमीकरण है; इसमें क, ख और ग ज्ञात संख्याएँ हैं। अ अज्ञात है। उसीको जानना है। इस प्रकारके प्रश्नके सामने तर्कसे काम नहीं चलता, पर बुद्धि हार नहीं मानती। वह चालाकीसे एक उपाय ढूँढ़ निकालती है। श्रीधराचार्य पहिले दोनों ओर क से भाग देते हैं। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता और यह रूप हो जाता है—

$$अ^2 + \frac{ख}{क} अ = \frac{ग}{क}$$

फिर वायीं ओर $\frac{ख^2}{४क^2}$ जोड़ा गया। इससे यह वाँया भाग पूरा वर्ग हो गया। अब $अ^2 + \frac{ख}{क}अ + \frac{ख^2}{४क^2}$ को $(अ + \frac{ख}{२क})^2$ लिख सकते हैं। यह तो हुआ, पर $\frac{ख^2}{४क^2}$ जोड़नेसे समीकरण बिगड़ गया। इसलिए उतना ही दाहिनी ओर जोड़ दिया, जिसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि न कुछ जोड़ा गया न घटाया गया। अब नया रूप यह हो गया—

$$(अ + \frac{ख}{२क})^2 = \frac{ख^2}{४क^2} + \frac{ग}{क} = \frac{ख^2 + ४गक}{४क^2}$$

दोनों ओरका वर्गमूल निकालनेसे

$$अ + \frac{ख}{२क} = \frac{\pm\sqrt{ख^2 + ४गक}}{\sqrt{४क^2}} = \frac{\pm\sqrt{ख^2 + ४गक}}{२क}$$

अब दोनों ओर से $\frac{ख}{२क}$ घटा दिया जाय तो भी कुछ अन्तर न पड़ेगा, अतः

$$अ = \frac{-ख}{२क} \frac{\pm\sqrt{ख^2 + ४गक}}{२क} = \frac{-ख \pm\sqrt{ख^2 + ४गक}}{२क}$$

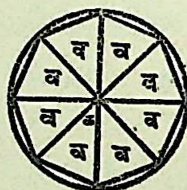
इस प्रकार अज्ञात अ निकल आया। जितने भी वर्गसमीकरण हों सबके उत्तर ऊपरके सूत्र द्वारा निकाले जा सकते हैं।

एक और उदाहरण लीजिये। इसमें अलीकका प्रयोग और खुलकर किया गया है। हमको खेतों या दूसरे समतलोंके क्षेत्रफल नापनेकी बार-बार आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए हमने वर्ग इञ्च, बिस्वा,

बीघा जैसे माप बना रखे हैं। यदि लकड़ीका ऐसा टुकड़ा लिया जाय जो एक इञ्च लम्बा और एक इञ्च चौड़ा हो तो उसके क्षेत्रफल को एक वर्ग इञ्च कहेंगे और उससे दूसरी वस्तुओंके क्षेत्रफलोंको नापेंगे। परन्तु यह नापनेका काम सुगमतासे वहीं हो सकता है जहाँ वस्तुकी सीमाओंपर सरल रेखाएँ हों। गोली वस्तुमें यह नाप ठीक-ठीक नहीं बैठती। गणितके सामने प्रश्न यह था कि गोलाईका क्षेत्रफल कैसे नापा जाय। इसके पहिले गोलाईकी परिधि नापनेमें भी कठिनाई पड़ती थी, क्योंकि गोल रेखाको इञ्च आदिसे नापना सुकर नहीं होता। विशेष युक्तियोंसे यह परिणाम निकला था कि यदि गोलेका व्यासार्द्ध व हो तो उसकी परिधिकी लम्बाई २πव होगी (π = ३·१४१५···)। अब क्षेत्रफल नापनेमें फिर विशेष युक्तियोंकी आवश्यकता पड़ी। हम ऐसी युक्तियोंका स्वरूप उदाहरण द्वारा समझाते हैं।







विद्वानोंने गोलाईके भीतर कई त्रिभुज बनाये। प्रत्येक त्रिभुजकी दो भुजाएँ तो व्यासार्द्ध व के बराबर होंगी, परन्तु तीसरी भुजाकी लम्बाई त्रिभुजोंकी संख्यापर निर्भर करेगी। हमने ऊपर दो चित्र दिये हैं, एकमें चार त्रिभुज हैं, दूसरेमें आठ। पहिले चित्रमें तीसरी भुजा दूसरीसे बड़ी है, उसके सामनेका चाप भी बड़ा है। पहिला चाप कुल परिधिका चतुर्थांश है, दूसरा अष्टमांश। अब यदि हम इन त्रिभुजोंका क्षेत्रफल निकालें तो उनका जोड़ गोलेके क्षेत्रफलसे कम होगा क्योंकि चारों ओर कुछ भाग छूट जायगा। हम यह भी देखते हैं कि ज्यों-ज्यों त्रिभुजोंकी संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनकी तीसरी भुजा पासवाले चापके

बराबर होती जाती है और क्षेत्रका छूटा हुआ अंश कम होता जाता है। यदि दस-बीस लाख त्रिभुज बनाये जायँ तो उनके क्षेत्रफलोंका जोड़ गोलेके क्षेत्रफलसे कुछ ही कम होगा और उनकी तृतीय भुजा और पासके चापकी लम्बाईमें बहुत ही कम अन्तर होगा। गणितज्ञ ऐसा मान लेता है कि त्रिभुजका आधारभुज सचमुच लम्बाईमें चापकी लम्बाईके बराबर है। यह बात अलीक है। त्रिभुजोंकी संख्या चाहे जितनी बढ़ायी जाय, परन्तु आधारभुज और चापकी लम्बाईमें कुछ-न-कुछ अन्तर रहेगा ही और त्रिभुजोंका सम्मिलित क्षेत्रफल गोलेके क्षेत्रफलसे सदैव कुछ-न-कुछ कम रह जायगा। परन्तु व्यवहारमें यह अन्तर बहुत कम होगा। कुछ देरके लिए इसे भुलाया जा सकता है। यदि त्रिभुजोंकी संख्या स हो तो परिधिके भी स टुकड़े हो जायँगे अतः प्रत्येक चापकी लम्बाई $\frac{२ \pi व}{स}$ होगी।

यदि उसकी ज्या अर्थात् उसके ऊपरके त्रिभुजके आधारभुजकी लम्बाई भी यही मान ली जाय तो प्रत्येक त्रिभुजका क्षेत्रफल

$$\frac{\pi व^{२}\sqrt{स^{२}-\pi^{२}}}{स^{२}} \text{ होगा।}$$

अतः सब त्रिभुजोंका सम्मिलित क्षेत्रफल इनका स गुना अर्थात्

$$\frac{स \times \pi व^{२}\sqrt{स^{२}-\pi^{२}}}{स^{२}} = \frac{\pi व^{२}\sqrt{स^{२}-\pi^{२}}}{स} \text{ हुआ।}$$

इसको यों भी लिख सकते हैं—

$$\pi व^{२}\sqrt{\frac{स^{२}-\pi^{२}}{स^{२}}} \text{ या } \pi व^{२}\sqrt{१-\frac{\pi^{२}}{स^{२}}}$$

π की मात्रा नियत है, $\pi^{२}$ दससे कुछ कम पड़ता है। ज्यों-ज्यों त्रिभुजोंकी संख्या अर्थात् स में वृद्धि होती जायगी, त्यों-त्यों $स^{२}$ बढ़ता जायगा और $\frac{\pi^{२}}{स^{२}}$ घटता जायगा। ज्यों-ज्यों स अनन्तप्राय बड़ा होगा

त्यों-त्यों $\frac{\text{π}^२}{\text{स}^२}$ अनन्तप्राय छोटा होगा। जब त्रिभुजोंकी संख्या असंख्य हो जायगी अर्थात् स बढ़कर अनन्त हो जायगा उस समय $\frac{\text{π}^२}{\text{स}^२}$ घटकर ० हो जायगा। उस समय $\sqrt{१-\frac{\text{π}^२}{\text{स}^२}}$ का $\sqrt{१}$ अर्थात् १ रह जायगा और त्रिभुजोंके क्षेत्रफलोंका जोड़ $\text{πव}^२\sqrt{१-\frac{\text{π}^२}{\text{स}^२}}$ उस अवस्थामें $\text{πव}^२$ के बराबर हो जायगा। पर हम यह देख चुके हैं कि ज्यों-ज्यों स बढ़ेगा त्यों-त्यों त्रिभुजोंके सम्मिलित क्षेत्रफल और गोलेके क्षेत्रफलका अन्तर घटेगा। इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि जिस समय स अनन्त हो जायगा उस समय दोनोंके क्षेत्रफलोंका अन्तर शून्य हो जायगा। अतः हमको यह सूत्र मिलता है कि यदि किसी गोलेका व्यासार्द्ध व हो तो उसका क्षेत्रफल $\text{πव}^२$ होगा। यह सूत्र सत्यप्राय, व्यवहारमें सत्य, है क्योंकि गगनचारी पिण्डोंकी गतियोंकी गणनामें, घरोंके बनानेमें, यन्त्रोंके निर्माणमें इसकी बराबर परीक्षा होती रहती है, पर इसकी उपलब्धि अलीक धारणाओंके आधारपर हुई है।

बिन्दुकी परिभाषाके अनुसार उसमें न लम्बाई होती है, न चौड़ाई, न मोटाई; रेखामें न चौड़ाई होती है न मोटाई। जगत्में न कहीं ऐसा बिन्दु होता है, न ऐसी रेखा होती है। चाहे जैसा छोटा बिन्दु बनाया जाय, चाहे जैसी पतली रेखा खींची जाय, पर कुछ-न-कुछ परिमाण होगा, तीनों दिशाओंमें कुछ-न-कुछ फैलाव होगा। परन्तु गणितज्ञ वस्तुओंका विचार नहीं करता। वह वस्तुओंका विचार दूसरे शास्त्रोंके लिए छोड़ता है और स्वयं उनके व्यक्तित्वके केवल एक अंशपर दृष्टि डालता है। यह पार्थक्य अलीक है। जैसे बिना लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई-के वस्तु नहीं हो सकती वैसे ही वस्तुसे पृथक् लम्बाई, चौड़ाई भी नहीं हो सकती। फिर भी गणितज्ञ वस्तुविरहित मापोंको अपना विषय बनाता

है। फिर वह जिन परिणामोंपर पहुँचता है, ज्यामिति और त्रिकोणमिति जैसे शास्त्रोंमें जो सिद्धान्त स्थापित करता है, यह व्यवहारमें वस्तुओंपर लागू होते हैं और व्यवहारमें ठीक उतरते हैं। दो चार दस वस्तुएँ होती हैं, बिना वस्तुओंके अकेले संख्याका कोई अस्तित्व नहीं है, परन्तु अङ्क-गणितमें केवल संख्याओंको विषय बनाया जाता है और बीजगणित तो संख्याओंको हटाकर उनकी जगह अक्षरोंसे काम लेता है। व्यवहारमें अङ्कगणित और बीजगणितके सिद्धान्त उपयोगी पाये जाते हैं। इस प्रकार गणित असत्तावानोंकी सहायता लेकर सत्तावानोंके विषयमें ज्ञानोपार्जन करता है। कई प्रतीक तो ऐसे हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ ही नहीं होता। $\sqrt{-१}$ का कोई अर्थ नहीं होता, किसी भी ऋणात्मक संख्याका वर्गमूल नहीं निकल सकता, परन्तु गणितमें इस संख्यासे बहुत काम लिया जाता है।

गणितमें ऐसे प्रयोग सर्वथा वैध हैं। साधारण मनुष्य चाहे न भी जानता हो परन्तु गणितका प्रत्येक विद्वान् इनकी अलीकताको जानता है और जानकर काम लेता है। जिन अलीकोंका समावेश किया जाता है वह अन्तिम निष्कर्षके पहले निकाल दिये जाते हैं और निष्कर्षकी सत्यताकी परख व्यवहारसे की जाती है। मकरध्वज बनानेमें सोना डाला जाता है। प्रत्येक वैद्य जानता है कि क्रियाके अन्तमें सोना ज्योंका त्यों निकल आता है परन्तु उसको डाले बिना वह रासायनिक क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती जिसके फलस्वरूप मकरध्वज बनता है। गणितमें अलीक यही सोनेका काम करते हैं।

(ख) वर्गीकरणमें अलीकोपयोग

हम प्रथम खण्डमें दिखला आये हैं कि अध्ययनके लिए वस्तुओंका वर्गीकरण करना पड़ता है। यदि वर्गोंमें न बाँटा जाय तो वस्तुओंके जङ्गलसे पार पाना कठिन हो जाय। वर्गीकरणका आधार उन वस्तुओंके कोई विशेष लक्षण ही हो सकते हैं। कुछ लक्षणोंको चुनकर हम शेषको छोड़ देते हैं। यदि सब लक्षणोंको लिया जाय तो वर्गीकरण हो ही नहीं

सकता, क्योंकि किन्हीं भी दो वस्तुओंके सब लक्षण एक-दूसरेसे पूर्णतया नहीं मिलते। प्रत्येक वस्तु अपना व्यक्तित्व रखती है। एक लक्षणको लेकर जो व्यक्ति एक वर्गमें पड़ेगा वही व्यक्ति दूसरे लक्षणके आधारपर दूसरे वर्गमें डाला जा सकता है। जो भारतमें जन्म लेनेके नाते भारतीय है वह रङ्गके नाते गोरा, सम्प्रदायके नाते ईसाई, व्यवसायके नाते वकील आदि हो सकता है। जो लोग एक दृष्टिसे एक ही वर्गमें हैं वह किसी दूसरी दृष्टिसे दूसरे-दूसरे वर्गोंमें देख पड़ते हैं। यह वर्गभेद सुभीतेके लिए किया जाता है परन्तु है कृत्रिम। वस्तुतः प्रकृतिमें ऐसा बँटवारा नहीं है। इसको अलीक जानते हुए काम लेना वैध है परन्तु डर इस बातका रहता है कि यह वर्गभेद नित्य और सत्य मान लिये जायँगे। उस दशामें विकल्प होगा। सामान्योंके सम्बन्धमें हम प्रथम खण्डमें विचार कर चुके हैं। उनकी सत्ताको अलीक मानते हुए यदि उनके व्याजसे वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया जाय तब तो कोई क्षति नहीं है, परन्तु बहुतसे विद्वान् भी इस भूलमें पड़ जाते हैं कि सामान्योंकी स्वतन्त्र सत्ता है। यह भूल बहुतसे विकल्प उत्पन्न करती है।

(ग) समाधि-भाषामें अलीक

योगी लोग अपने अनुभवोंको जैसी भाषामें व्यक्त करते हैं उसे समाधि-भाषा कहते हैं। इस स्थलपर हम इस बातपर विचार नहीं करना चाहते कि योगीके अनुभव कहाँतक विश्वसनीय होते हैं। इस सम्बन्धमें प्रथम खण्डके छठें अध्यायमें जो लिखा जा चुका है वह पर्याप्त है। मैं स्वयं योगानुभवको सत्य मानता हूँ। इस प्रकरणके लिए इतना ही पर्याप्त है कि योगी इसको यथार्थ मानता है। परन्तु वह उसको ज्योंका त्यों शब्दोंमें व्यक्त नहीं करता। कुछ तो ऐसा करना उसके लिए असम्भव होता है। शब्दोंके द्वारा वही बातें व्यक्त की जा सकती हैं जो किसी-न-किसी रूपमें श्रोता और वक्ता दोनोंके अनुभवका विषय हों या रही हों। मैंने कुत्तोंसे खिंचती गाड़ी नहीं देखी है पर कुत्ते देखे हैं, गाड़ियाँ देखी हैं, पशुओंसे उनको खिंचते देखा है। इसलिए यदि कोई मुझसे

रूसकी स्ले नामकी कुत्ते जुती हुई गाड़ियोंका वर्णन करे तो उसकी बात समझ सकता हूँ। परन्तु जिसने शक्कर न खायी हो और कोई दूसरी मीठी वस्तु भी न खायी हो उसे मीठापन नहीं समझाया जा सकता। योगियोंको साधारण लोगोंके सामने अपने अनुभवोंको व्यक्त करनेमें कुछ ऐसी ही कठिनाई होती है। दूसरी कठिनाई यह होती है कि अतर्क्य विषय स्वसंवेद्य होते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। वात्सल्य, पातिव्रत, सौन्दर्य वाणीकी पहुँचके बाहर हैं। जो लोग इनका समान रूपसे अनुभव करते हैं वह भी केवल नामसे निर्देश करते हैं, विस्तारसे एक-दूसरेको भी समझा नहीं सकते। तीसरी बात यह है कि कई कारणोंसे योगी लोग कुछ बातोंको गुप्त रखना चाहते हैं। उनका प्रयत्न यह होता है कि हम जो कहें उसका अर्थ अधिकारी तो समझ ले, दूसरे न समझें! इन सब कारणोंसे वह सीधी भाषा न लिखकर ऐसी भाषा लिखते या बोलते हैं जिसका अर्थ जल्दी समझमें नहीं आता या यों कहिये कि जो अर्थ समझमें आता है वह उसका वास्तविक तात्पर्य नहीं होता। कहीं उपमाओं और लक्षणाओंसे काम लिया जाता है, कहीं प्रतिपादनको कथाका, कहीं कथोपकथनका रूप दिया जाता है। सभी धर्मोंके श्रुति-ग्रन्थ, जैसे वेद, कुरान, बाइबिल, अवेस्ता, ऐसे स्थलोंसे भरे पड़े हैं। इनकी मीमांसा करनेके लिए बड़ी सतर्कता चाहिये। सत्यको प्रकट करनेके लिए वक्ताको अर्थ-वाद, कल्पित कहानी, उपमा जैसी अनेक अलीक बातोंकी सृष्टि करनी पड़ी है। जबतक हम इन अलीकोंको पहिचानकर और इनके आवरणको हटाकर अर्थको ढूँढ़ते हैं तबतक तो ठीक है, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि लोग अलीकोंको सत्य मान लेते हैं। फिर किसी निहित अर्थको ढूँढ़नेका प्रश्न ही नहीं उठता। दुर्गासप्तशती इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। उसके तीनों रहस्योंमें तीन कथाएँ हैं। इनमें वस्तुतः मधुप्रतीक[1] साधककी अवस्था, शरीरके सब बाहरी भागों तथा इन्द्रियोंसे खींचकर

---

१. योगशास्त्रकी परिभाषामें योगियोंके उत्तरोत्तर चार वर्ग होते हैं। इनमेंसे दूसरेको मधुप्रतीक कहते हैं।

जगायी हुई प्राणशक्ति द्वारा साधकके तमोगुण और रजोगुणसे मिले हुए अधम स्वका निधन, साधकका दुर्दम वासनाओंसे युद्ध और अन्तमें पराविद्याके हाथों अस्मिता और अविद्याका संहार, इन सब योगानुभवोंका वर्णन है। परन्तु इस अर्थतक कोई विरला ही पहुँचता है। साधारणतः सोये हुए विष्णुके कानकी खूँटसे दो असुरोंके उत्पन्न होने और उनकी मृत्युकी कहानी, भैंसे जैसे सिरवाले असुरके मारे जानेकी कहानी और रक्तकी बूँदसे उत्पन्न होनेवाले असुर तथा दूसरे कई बलवान् असुरोंके मारे जानेकी कहानी—बस कहानियोंका संग्रह देख पड़ता है। योगचर्चासे शान्त रस दीप्त होना चाहिये, यह पोथी बीभत्स रस जगाती है। जो लोग इन कहानियोंको ऐतिहासिक घटना मान बैठे हैं तथा जो लोग इन्हें बे-सिर-पैरकी भोंड़ी कल्पना मानते हैं, दोनों ही विकल्पके शिकार हैं।

योगियोंको ऐसी अनुभूति होती है कि इस विश्वका मूल एक अद्वय, परमसूक्ष्म, चिद्घन, परमानन्दमय तत्त्व है। उस परतत्त्वकी शक्ति, उसकी सत्ता, आद्याशक्ति या परादेवता है। सर्जन, संहार, पालन, शिक्षण, सम्मोहन, उद्बोधन, जो कुछ हो रहा है या होता प्रतीत होता है उस सबका उद्गम परतत्त्व और परादेवतामें है। अनेक दृष्टियोंसे शक्ति और शक्तिमान्का वर्णन किया गया है, लाक्षणिक भाषामें उनका स्वरूप समझाया गया है। इन वर्णनोंको ध्यान कहते हैं। विष्णु, रुद्र, प्रजापति, इन्द्र, काली, शाकम्भरी आदिके ध्यान तन्त्रग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। उदाहरणके लिए शक्तिका चतुर्भुज ध्यान लीजिये। तन्त्रकारका यह कहना नहीं है कि सचमुच कोई चार हाथोंवाली स्त्री जगत्का सञ्चालन कर रही है। ध्यानके एक हाथमें पाश देकर यह सूचित किया गया है कि वह मूल-शक्ति तमोगुणरूपा है और जीवको मोहपाशमें बाँध रखती है। दूसरे हाथका अंकुश यह बतलाता है कि वही रजोगुणस्वरूपा है। रजोगुणका लक्षण निरन्तर चञ्चलता, क्रियाशीलता है। यदि उसपर रोक न रहे तो वह भयानक अनर्थ कर दे, परन्तु संयत रजोगुण समस्त अभ्युदयकी कुञ्जी है। इसलिए हाथमें अंकुश है। तीसरे हाथका वर सत्त्वगुणका चिह्न है। सत्त्वगुणके

उदय होनेसे सब विद्याबुद्धिकी प्राप्ति होती है। यह तीनों हाथ उस शक्तिके लौकिक स्वरूपके बोधक हैं। चौथे हाथकी अभयमुद्रा यह इङ्गित करती है कि वह त्रिगुणातीत, अलौकिक, अभयपद, मोक्षको भी देनेवाली है। यह हो सकता है कि जिन लोगोंको ऐसी अनुभूतियाँ हुईं उनको भ्रान्ति-दर्शन, मिथ्याज्ञान हुआ हो, परन्तु जो लोग उनकी भाषाका ज्योंका त्यों अर्थ लगाकर ऐसा मानते हैं कि सचमुच विश्वका सञ्चालन अनेक सिर, आँख और हाथवाले, अनेक पुरानी चालके हथियार लिये, काले-गोरे, लाल-पीले, नरनारीविग्रह कर रहे हैं वह घोर विकल्पमें पड़े हुए हैं।

इसी प्रकार सत्य, सदाचार, अहिंसा, श्रद्धा जैसे सद्गुणोंकी महत्ता और उपादेयताको आकर्षक ढङ्गसे अवगत करा देनेके लिए धर्मोपदेष्टाओं-ने कहानियोंसे काम लिया है। इनमेंकी घटनाएँ कल्पित हैं, नायक-नायिका कल्पित हैं, पर इस अलीकरचनाका उद्देश्य स्तुत्य है। दोष तब आता है जब लोग इस बातको भूलकर इनको इतिवृत्त मान लेते हैं। वहाँसे विकल्प आरम्भ होता है

(घ) कलामें अलीक

कवि क्रान्तदर्शी होता है। उसका अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष उच्च कोटिका होता है, इसीलिए गोप्य रखनेकी इच्छा न होते हुए भी उसको उसी प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है जो योगीके सामने आती हैं। बाध्य होकर उसे भी उसी प्रकारकी युक्तियोंसे काम लेना पड़ता है। कवि दृश्यमान् जगत्का चित्रमात्र नहीं खींचता, वह उसके रहस्यको भी उद्घाटित करता है और शिवेतरक्षतिके उद्देश्यको भी अपने सामने रखता है। वह धर्माचार्यकी भाँति गुरुपीठसे उपदेशात्मक शैलीसे काम नहीं ले सकता। वह श्रोतामें रसको उद्बुद्ध करके उसके चित्तको अनुकूल दशामें लाता है। रसको जगानेके लिए जिन विभावोंकी आव-श्यकता होती है उनका उपयोग करनेके लिए वह कथा-कहानियोंकी रचना करता है, नायक-नायिकाओंकी सृष्टि करता है। उपमा, लक्षणा और अन्य एवंभूत उपायोंसे काम लेता है; सत्य, सौन्दर्य, दया जैसे

हृद्गत भावोंको मूर्त बनाता है और जड़ वस्तुओंसे चेतनवत् आचरण कराता है। जो बातें हमने कविके लिए कहीं हैं वह दूसरे कलाकारोंके लिए भी न्यूनाधिक लागू होती हैं। कवि जानबूझकर अलीकसर्जन करता है और सब जानते हैं कि वह ऐसा करता है परन्तु उसकी सफलता इस बातमें है कि श्रोता अलीकसे उत्पन्न रसधारामें इस प्रकार बह जाय कि उसको उसके उद्गमकी स्मृति भी न रहे। नाटक देखनेवाला जानता है कि अभिनेता राजा-रानी नहीं हैं, रङ्गमञ्चपर न कोई मरता है, न कोई मारता है, परन्तु कवि और नटकी कलाकी यही कसौटी है कि प्रेक्षक अपनेको भूल जायँ, यह भूल जायँ कि हम खेल देख रहे हैं और उतनी देरके लिए पात्रोंके साथ तदात्म हो जायँ। इस प्रकार अलीकके द्वारा कलाकार द्रष्टा और श्रोताके अधम स्वको शुद्ध करता है, उनके चित्तमें ऐसे भावोंको जगाता है जो स्यात् अन्यथा उनके जीवनमें न उठते, उनके समवेदना-क्षेत्रका विस्तार कराता है और इस प्रकार उनको अर्थकाममय दैनन्दिनीसे ऊपर उठकार रहस्य, सौन्दर्य और धर्मके जगत्में प्रविष्ट करता है।

यदि कलाकारसे अलीकप्रयोगका अधिकार छीन लिया जाय तो उसका काम असम्भव हो जाय। उसका अलीकोंसे काम लेना वैध है। जब उसकी कृति ऐतिहासिक वर्णन मान ली जाती है तब उसकी उपयोगिता नष्टप्राय हो जाती है। कई प्राचीन काव्योंकी इस प्रकार दुर्गति हुई है। जो लोग काव्यको काव्य न मानकर यह समझते हैं कि कवि विज्ञान या इतिहासकी पोथी लिखने बैठा था और उसमें ऐतिहासिक त्रुटियोंको देखकर उसकी निन्दा करते हैं वह भी विकल्पके वशीभूत होते हैं।

पुरुषसूक्त इस बातका बहुत अच्छा निदर्शन है। उसमें आदर्श समाजका चित्र खींचा गया है। यह बतलाया गया है कि सभी देशों और सभी कालोंमें समाजका सङ्गठन किस प्रकार किया जाय कि प्रत्येक व्यक्तिका अधिकसे अधिक कल्याण हो। यह हो सकता है कि वह आदर्श किसीको ठीक न जँचे परन्तु सूक्तमें इसके सिवाय और कुछ नहीं है। पर

आज उसके आधारपर दोहरा विकल्प फैला हुआ है। एक ओर वह लोग हैं जो ऐसा मानते हैं कि सचमुच विराट्के मुँह और दूसरे अङ्गोंसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति हुई है। यह भलेमानस इतना भी नहीं सोचते कि सूक्तके पहिले मन्त्रमें ही यह कहा गया है कि सब प्राणियोंके सिर विराट्के सिर हैं, फिर ब्राह्मणकी उत्पत्ति किस सिरसे हुई? यदि सभी सिरोंके निचोड़से हुई तो ब्राह्मणकी श्रेष्ठता कहाँ रही, उसमें शूद्र, चाण्डाल, म्लेच्छ, सिंह, वृक, शृगाल, चींटी, बिच्छू सभीके गुण-दोष पाये जायँगे। यही बात इतर वर्णोंके लिए भी लागू होगी और बेचारे म्लेच्छादिका तो नाम ही नहीं लिया गया। वह क्या विराट् शरीरके बाहर हैं? दूसरी ओर वह लोग हैं जो यह समझते हैं कि सूक्तकार सचमुच यह समझता था कि ब्राह्मणादि विराट्के मुखादिसे निकले हैं या वह जन्मगत वर्णव्यवस्थाका प्रतिपादन करके ब्राह्मणोंको पुजवाना और शूद्रोंको मानव अधिकारोंसे वञ्चित रखना चाहता था। यह दोनों धारणाएँ भ्रान्त हैं। कविको समाजका जो रूप ठीक जँचा वह उसने उपस्थित किया। उसकी समीक्षा करके स्वीकार-अस्वीकार करनेका सबको अधिकार है परन्तु उसमें जातिव्यवस्थाका मण्डन देखना और इस आधारपर उसकी प्रशंसा या निन्दा करना विकल्प या विपर्यय है।

५. चेतोव्यापाराधिकरण

व्यावहारिक जीवनमें हम कई अलीकोंसे परिचित हैं। विधानशास्त्रमें संस्थाओंको व्यक्ति माना जाता है। राजनीतिमें राज, लोकमत, सरकार शब्दोंका व्यक्तिवाची नामों जैसा प्रयोग किया जाता है। परन्तु इनके अभिधेयोंमें सत्ताका आरोप किया जाय तो वह विकल्प होगा।

यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि चित्त अलीकोंकी सृष्टि क्यों करता है? यदि सत्यका ज्ञान न प्राप्त हो सके तो शान्त रहनेके स्थानमें अभि-सिद्धान्तों और अपसिद्धान्तोंकी रचना क्यों होती है? इसका उत्तर यह है कि अलीकोंकी रचना उसी लिए होती है जिस लिए अध्यवसाय और

तर्क किया जाता है और सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं। विचार करनेसे प्रतीत होता है कि इस सब चेतोव्यापारका एकमात्र प्रयोजन द्रष्टाका भोग है। चित्तकी यह सब क्रियाएँ द्रष्टाके भोगका साधन हैं। द्रष्टामें अनेक प्रकारकी वासनाएँ हैं। एक प्रसुत होती है, दूसरी उदार होती है। इन वासनाओंकी तृप्तिका नाम भोग है। भोग तब हो सकता है जब भोज्यसे सम्पर्क स्थापित हो। सम्पर्क तो इन्द्रियोंके द्वारा होता है परन्तु अकेले इन्द्रियोंसे काम नहीं चल सकता। यह निश्चय करना आवश्यक होता है कि भोज्यकी परिस्थिति क्या है, उसका ग्रहण इस अवसरपर किस प्रकार किया जाय, इत्यादि। यदि यह अध्यवसायरूपी चेतोव्यापार न हो तो भोज्योंके रहते हुए भी बहुधा उनका उपभोग न हो सके। अतः चेतोव्यापार—अध्यवसाय और तर्क—भोगका साधन है। सबकी वासनाएँ एक-सी नहीं होतीं। वासनाको आशय भी कहते हैं इसलिए कोई महाशय, कोई अल्पाशय कहलाता है। किसीको तुष्टि बीघेभर भूमिसे हो जाती है, किसीके लिए वसुन्धराका साम्राज्य भी पर्याप्त नहीं होता, किसीकी दृष्टि महेन्द्रपदपर रहती है। कोई केवल अपने पेट भरनेकी सोचता है, कोई ऐश्वर्यवान् अभिजनके अर्थकाम-सम्पादनसे सुखी होता है। आशयभेदसे भोज्योंमें प्रकारभेद और उनकी मात्राओंमें तारतम्य होता है। यदि इन सब भोज्योंकी उपलब्धि होनी है तो फिर इनके सम्बन्धमें व्यापक अध्यवसाय करना आवश्यक हो जाता है। चेतोव्यापारका लक्ष्य द्रष्टाका भोगमात्र है, परन्तु भोगके लिए ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है इसलिए चेतोव्यापार ज्ञानोपार्जनका भी साधन बन जाता है। अध्यवसायसे ज्ञान और ज्ञानसे भोग होता है। जिसका ज्ञान जितना ही व्यापक होगा वह यथेष्टाचरणमें उतना ही कुशल होगा।

कभी-कभी अलीक भी सज्ज्ञानका साधन बन सकता है। इसके कई उदाहरण हम देख चुके हैं। घर बनानेमें राजगीर बाँस-लकड़ी-रस्सीसे पायट बाँधते हैं और नसेनियाँ लगाकर ऊपर चढ़ते हैं। काम पूरा हो जानेपर नसेनियाँ फेंक दी जाती हैं और पायट तोड़ दिया जाता है।

यदि कोई पायटको घरका अङ्ग समझकर उसे सुरक्षित रखना चाहे तो उसे पागल कहेंगे। इसी प्रकार चित्त कभी-कभी अलीकोंसे काम लेता है। सत्यपर पहुँचकर उनको छोड़ देता है। अन्तिम निष्कर्षमें उनका कोई स्थान नहीं होता। अपसिद्धान्त ज्ञानप्राप्तिमें सहायक नहीं होते, परन्तु जिज्ञासाकी व्याकुलता उनसे भी मिट जाती है। जबतक भोगमें उनसे बाधा नहीं पड़ती तबतक उनका ग्रहण करनेसे कोई कष्ट नहीं होता। जब बाधा पड़ती है—और ऐसा कभी-न-कभी होना अवश्यम्भावी है—उस समय उनके प्रति शङ्का और फिर अविश्वास हो जाता है।

अलीकोंका व्यापक प्रयोग देखकर हमको जो व्यग्रता होती है उसका कारण यह है कि हम चित्तको ज्ञानका साधन मानते आये हैं। हमारी यह धारणा है कि चित्त यथावस्तु ज्ञान देता है और चेतोव्यापार, चित्तका परिणामक्रम, वस्तुओंके धर्म-परिणामका प्रतीक है। परन्तु ऐसा नहीं है, हो भी नहीं सकता। हमको कुछ संवित् हुए जिनके आधारपर हम यह कहते हैं कि दूधका प्रत्यक्ष हुआ। कुछ दूसरे संवित् हुए जिनको हम दहीका प्रत्यक्ष कहते हैं। दोनों संवितोंका होना निर्विवाद है पर इनके आधारपर हुए प्रत्यक्ष और फिर दूध-दहीका सम्बन्ध चेतोव्यापार हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि चित्तके बाहर तदनुरूप कुछ है। सीपके पेटमें बालूका कण जाता है और जाठर सामग्रीसे मिलकर मोती बन जाता है। वैसा ही कण मनुष्यके पेटमें पूति व्रणकेन्द्र बन सकता है। एक ही प्रकारके संवित्को दूध नामसे भले ही पुकारा जाय, परन्तु स्वस्थ मनुष्य और मन्दाग्निग्रस्तको एक ही प्रकारका प्रत्यक्ष कदापि नहीं होता। संवित् होते रहते हैं परन्तु चित्तको न तो वस्तुओंकी सत्तामें कोई अभिरुचि है न संवितोंमें। उसको तो द्रष्टाके लिए भोग, अर्थात् वासनाओंकी तृप्ति, सम्पन्न करना है। इसलिए वह उनको भाँति-भाँतिसे मिलाता है, उनमेंसे कुछकी ओरसे यथाशक्य पराङ्मुख हो जाता है, पिछले अनुभवके आधारपर, और जहाँ इससे काम नहीं चलता वहाँ अर्थापत्ति और निराधार व्याप्ति-विरहित अनुमानके द्वारा सम्बन्ध जोड़ता है और इस

प्रकार तोड़-मोड़कर उनको भोज्याभोज्यके प्रत्यक्षका माध्यम वनाता है। संवित् वरावर होते रहते हैं, यही अंकुश है, अन्यथा चेतोव्यापार वस्तुस्थितिसे वहुत दूर जा पड़े। संवित्मात्रको छोड़कर अपने परिणामोंका शेष अंश चित्तकी अपनी सम्पत्ति है। संवित् भी चित्तका परिणाम है पर उसके विषयमें अभी इस स्थलपर ऐसा माना जा सकता है कि वह वाह्य जगत्का प्रतीक है अर्थात् चित्तके वाहरकी किसी वस्तुकी सत्ताका सूचक है।

चित्त भोगका साधन है इसलिए उसे अन्तःकरण—भीतरी उपस्कर, औजार—कहते हैं। उससे उतने ही ज्ञानकी आशा की जा सकती है जितनेकी भोगके लिए आवश्यक है। परन्तु यदि वासनाएँ क्षीण हों तो भोगकी आवश्यकता भी कम हो जायगी, चेतोव्यापार भी दूसरे प्रकारका होने लगेगा, संवित् और प्रत्यक्षके वीचकी दूरी भी कम होती जायगी और ज्ञानकी यथावस्तुता भी वढ़ जायगी। उस अवस्थामें चित्त मोक्षका साधन वन जायगा। द्रष्टाके भोग और मोक्षको सम्पादन करनेमें ही चित्तकी कृतार्थता है।

हमने ऊपर कहीं चेतोव्यापार और कहीं चित्त शब्दका प्रयोग किया है। वस्तुतः दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। व्यापारहीन चित्तका कोई अस्तित्व नहीं है। जल निरन्तर वहता रहता है। कहीं उसमें तरंगें उठती हैं, कहीं शान्त देख पड़ता है परन्तु प्रवाह नहीं रुकता। ऐसी जल-राशिको नदी कहते हैं। वहते जलसे भिन्न नदीका कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार अच्छेद्य चेतोव्यापार—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति, राग, द्वेष, सङ्कल्प आदि परिणामोंकी निरन्तरवर्तिनी माला—का ही नाम चित्त है। प्रज्ञानोंके सतत प्रवाहसे भिन्न चित्तकी कोई सत्ता नहीं है।

जिस प्रकार चित्त अन्तःकरण है उसी प्रकार इन्द्रियाँ वाह्यकरण, वाहरी उपस्कर हैं। वह चित्तका ही स्थूल रूप हैं। इन्द्रियोंकी भी द्रष्टाके भोग और मोक्षमें कृतकृत्यता है और इन्द्रियव्यापार भी चेतोव्यापारके अन्तर्गत है। इन्द्रियोंकी सत्ता चित्तसत्ताका ही भेद है।

दूसरा अध्याय

मनःप्रसूति

शरत्के कृष्णपक्षकी रातमें आकाशकी ओर देखिये, सहस्रों तारे चमकते प्रतीत होते हैं। इनमेंसे अधिकांशका रङ्ग श्वेत है, कुछमें नीला-पन या रक्तिमा देख पड़ती है। कुछ वहुत चमकीले हैं, कुछ वहुत धुँधले। सभी पूर्वमें उदय होते हैं, पश्चिममें डूबते हैं। यदि आकाश-प्रेक्षण वरावर कुछ दिनोंतक किया जाय तो यह भी प्रतीत हो जायगा कि ऋतुओंके साथ तारोंके उदयास्त-कालमें भी अन्तर पड़ता है और कुछ पिण्ड जो देखनेमें तारे प्रतीत होते हैं दूसरे तारोंके बीचमें अपना स्थान भी वदला करते हैं। इतना जान लेना पर्याप्त नहीं होता। मनुष्य तारोंकी चालको समझना चाहता है, उनके स्थानको देखकर वर्षाका अनुमान करना चाहता है, वीज डालनेका समय जानना चाहता है। इस व्योरेवार अध्ययनसे ही वह तारोंको अपने उपयोगकी सामग्री बना सकता है। वह सारे आकाशका युगपत् अनुशीलन नहीं कर सकता, इसलिए उसको टुकड़ोंमें बाँटता है। न तो आकाशमें पशु-पक्षी हैं, न नर-देहधारी बैठे हैं, परन्तु मनुष्य तारोंके विस्तारको पुञ्जोंमें बाँटता है और ईषत् आकारसादृश्य देखकर इन पुञ्जोंको सिंह, मेष, मृग, श्येन, तिमि जैसे नाम देता है। इसी प्रकार विशेष तारोंको अगस्त्य, मरीचि, रोहिणी, ध्रुव नामोंसे पुकारता है। आकाश एक और अखण्ड है, क्षितिजसे क्षितिज-तक कोई गोल रेखा नहीं खिंची है परन्तु अपने सुभीतेके लिए १३°२०′ के सत्ताईस भाग कर लिये गये हैं। इस प्रकार ज्योतिषके अध्येताका काम सरल हो जाता है, परन्तु यह न भूलना चाहिये कि यह सारा विभा-जन बुद्धिकृतक है।

चित्तको ऐसे ही काम करने पड़ते हैं। एक ओर तो वासनाएँ और स्मृतियाँ उठती रहती हैं, सुख-दुःखकी अनुभूति होती रहती है, दूसरी ओर संवितोंका प्रवाह जारी रहता है। संवित् कभी तीव्र होते हैं, कभी मन्द, कभी गहरा संस्कार छोड़ जाते हैं, कभी हल्का, उनमें कोई-कोई बार-बार आते हैं, कुछ एक-दूसरेके पीछे नियत रूपसे आते हैं। संवित् भोज्यके सूचक तो हैं, पर जबतक वह अस्तव्यस्त रहते हैं तबतक भोगके निश्चित उपस्कर नहीं हो सकते। द्रष्टाके भोगकी सिसाधयिषासे प्रेरित होकर चित्त संवितोंको विभक्त करता है, उनको भाँति-भाँतिसे सजाता है। वह उनमें पारस्परिक सम्बन्ध ढूँढ़ता है। सम्बन्ध बाहर तो मिलते नहीं, उनके स्वतन्त्र संवित् तो होते नहीं, चित्त अपने आभ्यन्तर व्यापारसे उनकी प्रतिष्ठा करता है; अनेक प्रकारके नियमों और विधानोंकी कल्पना करके संवितोंको एक सूत्रमें ग्रथित करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार संवितोंके प्राचुर्यसे चित्त जगत्का निर्माण करता है।

सबके लिए जगत् एक-सा नहीं होता। किसी युगमें लोग अपने देशोंकी संकुचित सीमाओंके भीतर रहते हैं और शरीरकी मुख्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके सिवाय अन्य बातोंकी ओर कम ध्यान देते हैं, कभी सारी पृथिवी एक हो जाती है और कई पद्म कोस दूरकी नीहारिकासे लेकर त्रसरेणुसे कई सहस्रगुनी छोटी वस्तुओंका अनुशीलन किया जाता है। इस प्रकार संवितोंमें भेद होता है, संविद्भेदके अनुसार नये सम्बन्धोंकी खोज होती है और नये जगत्का निर्माण होता है। प्रत्येक संस्कृतिका अपना जगत् होता है और उस संस्कृतिके भीतर प्रत्येक व्यक्तिका पृथक् जगत् होता है। जो लोग इन जगतोंको बरतते हैं वह उनको मनःप्रसूति नहीं मानते। उनको ऐसा विश्वास रहता है कि संवित् तो सत्य हैं ही, उनके जो सम्बन्ध और हेतु हमारी समझमें आते हैं वह भी उतने ही सत्य हैं। बुद्धिनिर्माण वस्तुस्थितिकी प्रतिच्छाया प्रतीत होता है।

भिन्न होते हुए भी यह जगत् सर्वथा विजातीय नहीं हो सकते। मोती सब एक-से नहीं होते परन्तु नितान्त विसदृश भी नहीं होते, क्योंकि

सीप भी सजातीय हैं और रजःकण भी। इसी प्रकार सभी मनुष्योंकी इन्द्रियाँ सजातीय हैं, शरीर सजातीय हैं, वासनाएँ सजातीय हैं। इसलिए संवित् भी सजातीय ही होते हैं और उनके आधारपर निर्मित जगत् भी सजातीय होते हैं। इसका तात्पर्य यह है संवित्को जगत् बनानेमें जो चेतोव्यापार होते हैं वह भी सजातीय होते हैं। दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि संवितोंका संव्यूहन करनेमें चित्त स्वच्छन्द नहीं है, वह कुछ नियत मार्गोंसे ही चल सकता है। इसका फल यह हुआ है कि कुछ बुद्धि-निर्माण ऐसे हैं जो आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व प्रस्फुटित हुए और अद्यावधि चले आ रहे हैं। समय-समयपर उनका संस्कार और संशोधन होता रहा है परन्तु उनका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय तो जगत्का सङ्घटन नहीं हो सकता। द्रष्टा रह जायगा, चित्त रह जायगा, वासनाएँ और स्मृतियाँ रह जायँगी, दैहिक चेष्टाएँ रह जायँगी और संवित् रह जायँगे परन्तु सङ्घटित जगत्का लोप हो जायगा।

इस अध्यायमें हम इनके सम्बन्धमें विचार करना चाहते हैं। हमारे सामने प्रश्न यह है कि यह केवल सुविधाजनक बुद्धिनिर्माण हैं या पारमार्थिक सत्ता रखते हैं।

१. ईश्वराधिकरण

यह बहुत पुराना और व्यापक विश्वास है कि इस जगत्का कोई कर्ता है, किसीने इसे बनाया है। यह देख ही पड़ता है कि बहुत-सी बाधाओंके रहते हुए भी मनुष्य जी रहा है, पशु-पक्षी जी रहे हैं, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, पहाड़, समुद्र सभी बने हुए हैं, अतः जगत्का पालन भी हो रहा है। इस बातके माननेमें लाघव होता है कि जो कर्ता है वही पालक है। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि वही एक दिन जगत्का संहार भी करेगा। इस कर्ता-पाता-संहर्ताको ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर प्रत्यक्षका विषय नहीं है अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द-प्रमाणसे ही हो सकता है। जबतक सर्वसम्मत आप्तपुरुष

निश्चित न हो जाय तबतक शब्द-प्रमाणसे काम नहीं लिया जा सकता। विभिन्न सम्प्रदायोंमें जो लोग आप्त माने गये हैं उनका ईश्वरके सम्बन्धमें ऐक्यमत्य नहीं है। जो लोग ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द-प्रमाणका सहारा छोड़ना होगा। अब केवल अनुमान रह गया। ईश्वरकी सत्तामें यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तुका कोई-न-कोई रचयिता होता है इसलिए जगत्का भी कोई रचयिता होना चाहिये। इस अनुमानमें कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तुका कर्ता होता है तो फिर वस्तु होनेसे ईश्वरका भी कर्ता होगा और उसका कोई दूसरा कर्ता, दूसरेका तीसरा। यह परम्परा कहीं समाप्त न होगी। ऐसे तर्कमें अनवस्था-दोष होता है। इससे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय कि ईश्वरको कर्ताकी अपेक्षा नहीं है तो फिर ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है कि विश्वको कर्ताकी अपेक्षा नहीं है? फिर ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक होती है, साध्यसम है। सूर्य-चन्द्रमा कर्तृक हैं इसका क्या प्रमाण है? समुद्र और पहाड़को बनाये जाते किसने देखा है? जबतक यह सिद्ध न हो जाय कि प्रत्येक वस्तुका कर्ता होता है तबतक जगत्का कोई कर्ता है ऐसा सिद्ध नहीं होता।

इस तर्कपर यह आपत्ति की जाती है कि ऊपर प्रयोग किया हुआ वस्तु शब्द वहीं लागू होता है जहाँ सङ्घटन होता है। कई अवयवोंके मिलनेसे जहाँ अवयवी बनता है, वहीं उपयोगका प्रश्न उठता है और कर्ताकी खोज होती है, क्योंकि आवश्यकताकी पूर्ति करना ही उपयोगी चीजका लक्षण है। ईंट, चूना, गारा आदिका योग घर है। घर कार्य-विशेषके लिए है। हम ऐसा मानते हैं कि किसी कर्ताने इस सामग्रीको उस कार्यविशेषकी सिद्धिके लिए बनाया। ईश्वर अवयवी नहीं है। सङ्घटन नहीं है, उसका कलेवर किसी उद्देश्यकी सिद्ध नहीं करता। अतः वह 'वस्तु' नहीं है, कर्ताकी अपेक्षा नहीं करता। यह आपत्ति समीचीन नहीं है। यह कैसे जाना गया कि ईश्वर सङ्घटन नहीं है, अवयवोंके मेलसे नहीं बना है?

वेदमें, जिसको भारतीय ईश्वरवादी प्रमाण मानता है, उसके सिर, हाथ, पाँवका उल्लेख है। दूसरे ईश्वरसाधक ग्रन्थमें कहते हैं उसने देखा, उसने आज्ञा दी, उसने सोचा, उसने कहा इत्यादि। यह वाक्य तो मनुष्यसम किसी प्रकारकी शरीरकी ओर संकेत करते हैं। और फिर हमारा मूल प्रश्न तो अपनी जगहपर वर्तमान है। ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण क्या है? जब ईश्वर हो तब तो उसके स्वरूपके विषयमें विचार किया जाय, यदि कोई अपनी ओरसे किसी कल्पित मूर्तिकी मनमानी परिभाषा बना ले तो इससे उस पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।

जो लोग जगत्‌को कर्तृक मानते हैं उनके सामने अपने व्यवहारकी वस्तुएँ रहती हैं। घर बनानेके लिए राजगीर, घड़ेके लिए कुँभार, गहनेके लिए सोनार, घड़ीके लिए घड़ीसाज चाहिये। यह कारीगर ईंट-पत्थर, मिट्टी, सोना, पुर्जोंसे गृहादिका निर्माण करते हैं। कारीगर उपादान-सामग्रीको काममें लाता है और निर्माणकार्यमें लगनेका कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन यदि हमको पहिलेसे न भी ज्ञात हो तो निर्मित वस्तुको देखनेसे समझमें आ सकता है। अब यदि गृहादिकी भाँति जगत् भी कर्तृक है तो उसकी उपादान-सामग्री क्या थी? और सृष्टि करनेमें ईश्वरका प्रयोजन क्या था? जगत्‌में जो कुछ भी है वह या तो जड़ है या चेतन, अतः जो भी उपादान रहा होगा वह या तो इनमेंसे किसी एक प्रकारका रहा होगा या उभयात्मक। दोनों ही अवस्थाओं-में यह प्रश्न उठता है कि वह जगत्‌की उत्पत्तिके पहिले कहाँसे आया? यदि उसका कोई कर्ता नहीं था तो फिर जगत्‌के लिए ही कर्ताकी कल्पना क्यों की जाय? यदि कर्ता था तो वह ईश्वरसे भिन्न था या अभिन्न? यदि भिन्न था तो ईश्वरकी कल्पना क्यों की जाय? क्या जो व्यक्ति जड़-चेतनको उत्पन्न कर सकता था वह उनको मिलाकर जगत् नहीं बना सकता था? जड़-चेतनके बननेपर तो बिना किसी ईश्वरको माने भी जगत्‌का विस्तार समझमें आ सकता है। यदि उपादानकर्ता ईश्वरसे अभिन्न था अर्थात् यदि ईश्वरने ही जड़-चेतनकी सृष्टि की तो इसका तात्पर्य

यह हुआ कि असत्से सत्की उत्पत्ति हुई जो प्रत्यक्षके विरुद्ध होनेसे अनुमानसे भी बाधित है। यदि यह माना जाय कि ईश्वरने अपने सत् स्वरूपसे जड़-चेतनको उत्पन्न किया तो यह प्रश्न होगा कि उसने ऐसा क्यों किया, ऐसा करनेमें प्रयोजन क्या था ? यह नहीं कह सकते कि जीवोंकी भोगोपलब्धिके लिए ऐसा किया गया क्योंकि जीवोंको तो उसीने बनाया ! न उनको बनाता न उनके लिए भोगका प्रश्न उठता। जीवोंका मोक्ष भी उद्देश्य नहीं हो सकता क्योंकि जब जीव थे ही नहीं तो फिर उनका बन्धन कहाँ था जिसे तोड़ना था ? यह कहना भी सन्तोषजनक नहीं है कि जगत् ईश्वरकी लीला है। निरुद्देश्य खेल ईश्वरत्वके साथ अन-मेल है। क्या वह एकाकी घबराता था जो इतना प्रपञ्च रचा गया ? यह भी ईश्वरत्व-कल्पनासे असङ्गत है। यह कहनेसे भी काम नहीं चलता कि ईश्वरकी इच्छा अप्रतर्क्य है। इच्छा किसी ज्ञातव्यके जाननेकी, किसी आप्तव्यके पानेकी होती है। ईश्वरके लिए क्या अज्ञात या अप्राप्त था ? फिर जब उसकी इच्छा ऐसी ही अकारण, निष्प्रयोजन है तो अब उसपर कोई अंकुश तो लग नहीं गया है। वह किसी दिन भी सृष्टिका संहार कर सकता है, आगको शीतल कर सकता है, कमलके वृन्तपर चन्द्र-सूर्य उगा सकता है। अन्धविश्वास चाहे जो कहे परन्तु किसीकी बुद्धि यह स्वीकार नहीं करती कि ऐसा होगा। ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वरका स्वभाव ही अकुश है और नियमवर्तित्व उसका स्वभाव है। जगत्में जो कुछ हो रहा है वह नियमोंके अनुसार हो रहा है। इन सब नियमोंकी समष्टिको ऋत कहते हैं। ऋत ईश्वरका स्वभाव है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि यह स्वभाव ईश्वरका सदासे है या जगत्की सृष्टिके पीछे हुआ ? यदि पीछे हुआ तो किसने यह दबाव डाला ? वह कौन-सी शक्ति है जो ईश्वरसे भी बलवती है ? यदि पहिलेसे है तो जो इच्छा जगत्की उत्पत्तिका मूल थी वह ईश्वरके स्वभावसे अविरुद्ध रही होगी अर्थात् जगत्को उत्पन्न करना ईश्वरका स्वभाव है। परन्तु जहाँ स्वभाव होता है वहाँ पर्याय रहते ही नहीं। ईश्वरकी सिसृक्षा उसके स्वभावके अनुकूल होगी। पानीका स्वभाव

नीचेका ओर बहना है, आगका स्वभाव गर्मी है, ईश्वरका स्वभाव जगत् उत्पन्न करना है। न पानी नीचे बहना छोड़ सकता है, न ईश्वर जगत्को उत्पन्न करना। ऐसी दशामें उसको जगत्का कर्ता कहना उतना ही उचित होगा जितना पानीको नदी या आगको जलनका कर्ता कहना। कर्तृत्वका व्यपदेश वहीं हो सकता है जहाँ सङ्कल्पकी स्वतन्त्रता हो। यह काम करूँ या न करूँ, स्वभावमें इस प्रकारकी स्वतन्त्रताके लिए स्थान नहीं रहता। अतः यह सब तर्क ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध नहीं करते।

यह हो सकता है कि हम किसी अपरिचित यन्त्रके बननेके उद्देश्यको न समझा सकें, फिर भी उसकी बनावट देखकर इस निश्चयपर पहुँचें कि यह कर्तृक है, स्वतः नहीं बन गया है। क्या जगत् हमको ऐसा माननेपर विवश करता है कि उसका कोई कर्ता है? ऐसा माननेके पक्षमें सबसे बड़ा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि जगत्का सञ्चालन ऋतमय है, सब काम नियमोंके अनुसार होते हैं, प्रत्येक घटनाका कोई-न-कोई कारण होता है। नियमितताके कारण हम भविष्यत् घटनाओंको पहिलेसे जान सकते हैं और वस्तुओंको अपने भोगकी सामग्री बना सकते हैं। नियम नियामककी अपेक्षा करता है। इससे प्रतीत होता है कि जगत्का कोई कर्ता है, चाहे हम उसके प्रयोजनकी थाह न पा सकते हों। इस तर्कमें भी दो दोष हैं। पहिले तो यह माननेका कोई आधार नहीं है कि नियमके लिए नियामक चाहिये। प्राकृतिक नियम मानव-विधान नहीं हैं। विधानका रूप होता है : आजसे इस प्रकार काम किया जाय, जो न करेगा उसको अमुक प्रकारका दण्ड दिया जायगा। प्राकृतिक नियमका रूप होता है : ऐसा होता देखा गया है। उसमें दण्डका कोई प्रश्न नहीं उठता। मानव-विधान आज्ञात्मक होता है : कोई दुकानदार रुपयेके ढाई सेरसे कम गेहूँ न बेचे, जो बेचेगा उसे पाँच सौ रुपये जुर्माने तथा दो वर्ष कारावासका दण्ड दिया जायगा। प्राकृतिक नियम वर्णनात्मक होता है : धनविद्युत् और ऋणविद्युत् एक-दूसरीको आकृष्ट करती हैं। ऐसी दशामें प्राकृतिक नियमोंको देखकर नियामकका अनुमान नहीं किया

जा सकता। यह माननेमें लाघव है कि जगत्का स्वभाव ऋत है। जगत्के जड़-चेतन जो भी अवयव हैं वह अपने अवयवीके स्वभावका अतिक्रमण नहीं कर सकते। तर्कमें दूसरा दोष यह है कि यह मान लिया गया है कि सचमुच जगत्में ऋतकी सत्ता है पर यह निर्विवाद नहीं है। हम पहिले कई बार कह आये हैं कि संवितोंसे ही हमको वस्तुओंकी सत्ताकी सूचना मिलती है। यह संवित् होते हैं यहाँतक तो ठीक है। इससे यह भी भले ही मान लिया जाय कि वस्तुएँ हैं और उनमें कुछ परिवर्तन होते हैं, जिनको हम घटना या दृग्विषय कहते हैं। यह सब होगा, परन्तु दृग्विषयोंमें जो सम्बन्ध प्रतीत होते हैं वह चेतोव्यापारके फलस्वरूप हैं। चेतोव्यापार द्रष्टाके भोगके हेतु होता है, इसलिए चित्तमें ऐसे सम्बन्ध स्थापित करता है जो भोगके लिए अधिक अनुकूल प्रतीत होते हैं। भौतिक पिण्ड एक-दूसरेके सान्निध्यमें स्थानपरिवर्तन करते हैं, ऐसा हमको प्रत्यक्ष होता है। इस स्थान-परिवर्तनके सम्बन्धमें न्यूटनने यह मत प्रकट किया कि भौतिक पिण्ड एक-दूसरेको आकर्षित करते हैं और इस आकर्षणके सम्बन्धमें यह नियम निकाला कि यदि दो पिण्डोंका गुरुत्व $गु_1$ और $गु_2$ हो और उनकी दूरी दू हो तो उनके बीचका आकर्षण होगा $क \frac{गु_1 \times गु_2}{दू^2}$ [क एक नियत संख्या है जो वस्तुमात्रके लिए समान है।]

यह तो नियम हुआ, परन्तु कोई मनुष्य यह भी तो मान सकता है कि स्थानपरिवर्तन वरुणदेवकी इच्छाके अनुसार होता है। यह कैसे सिद्ध होगा कि उसका मानना निराधार है? हम वरुणदेवको नहीं जान पाते परन्तु इससे क्या होता है। आज यह पता चला है कि कुछ छोटे-छोटे कीटाणु हैं जो दूधको दहीमें परिणत कर देते हैं। जिस समय लोग यह बात नहीं जानते थे उस समय भी कीटाणु अपना काम करते थे। हम वरुणकी इच्छाको गणनाका विषय नहीं बना सकते और नियमको बना सकते हैं पर इतनेसे ही नियमकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। हाँ, यह

बात निश्चित है कि वरुणेच्छा माननेकी अपेक्षा नियम माननेमें सुभीता है। सूर्य, मङ्गल, गुरु, शनि पृथ्वीकी परिक्रमा नहीं करते, परन्तु प्राचीन ज्योतिषी ऐसा मानकर गणना करते थे और उस गणनासे इन पिण्डोंके स्थानोंका ठीक पता लगा सकते थे। ग्रहोंके असम्बद्ध भ्रमणकी अपेक्षा उनका पृथिवीकी परिक्रमा करना माननेमें गणनाकी सुविधा थी, इसलिए बुद्धिने इसे स्वीकार किया। जब रेलके डब्बे लाइनपर चलते हैं तो जो स्वन उत्पन्न होता है उसमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार लोग नाना प्रकारकी बोलियाँ सुनते हैं। वह स्वन तो जैसा है वैसा है, यह सब बोलियाँ श्रोताओंका बुद्धिनिर्माण हैं। इसी प्रकार संवित् तो हैं, वह 'कुछ' भी होंगे जिनकी सूचना संवित् देते हैं परन्तु वस्तुओंके सम्बन्ध, उनको एकमें बाँधनेवाले नियम, बुद्धिनिर्माण हैं। जब नियमोंकी चित्तके बाहर सत्ता असिद्ध है तो फिर नियामककी सत्ता भी असिद्ध है। अतः जगत्का दृश्यरूप हमको ईश्वरकी सत्ता माननेको बाध्य नहीं करता।

कुछ लोग ईश्वरको जगत्का स्रष्टा न मानकर आरम्भक मानते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि जगत्की रचनाकी जो जड़-चेतनात्मक उपादान-सामग्री थी उसको ईश्वरने बनाया नहीं परन्तु ईश्वरके सान्निध्यसे सामग्रीका उस रूपमें संव्यूहन हो गया जिसको जगत् कहते हैं। चुम्बकके सान्निध्यमात्रसे लोहेके टुकड़े अपनेको विशेष प्रकारसे विन्यस्त कर लेते हैं। यह विन्यास लोहेका स्वभाव होगा अन्यथा चुम्बक सोने या चाँदी या लकड़ीको भी वैसे ही विन्यस्त कर देता। लोहेका स्वभाव किन्हीं बाधाओंसे अभिभूत था, चुम्बक उन्हें हटा देता है। यह सोचना चाहिये कि जगत्के आरम्भमें वह कौनसे अवरोध थे जिन्हें ईश्वरने हटाया। ऐसी कोई बात समझमें नहीं आती। लोहा अकेला नहीं है, जगत्में और पदार्थ भी हैं। इनमेंसे कोई उसका अवरोधक हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है। पानीका स्वभाव नीचे बहना है पर उसके अतिरिक्त दूसरे भौतिक पदार्थ उसकी गतिको कभी-कभी रोक देते हैं। वह स्वयं अपना अवरोधक नहीं होता। जगत्की मूल सामग्रीके सिवाय तो कुछ था नहीं,

फिर वह अपने स्वभावके अनुसार क्यों संव्यूढ़ न हो सकी जो ईश्वरकी आवश्यकता पड़ी ?

मैंने कुछ दिन पहिले बिल्लीका एक बच्चा देखा। आज उसे फिर देखता हूँ तो पहिलेसे बड़ा पाता हूँ। इस वृद्धिका साक्षी कौन था ? ज्ञाता और ज्ञेयका ऐसा सम्बन्ध है कि जब एक होगा तो दूसरा भी होगा। बिल्ली ज्ञेय है, उसकी वृद्धि ज्ञेय है अतः कोई ज्ञाता भी चाहिये। यदि कोई मनुष्य बिल्लीको बढ़ते नहीं देख रहा था तो कोई दूसरा साक्षी रहा होगा। यह साक्षी ईश्वर है। ईश्वर सब घटनाओंका साक्षी है, उसके लिए नित्य वर्तमान है। जिस समय मुझको प्रत्यक्ष होता है उस समय मैं ईश्वरका सधर्मा हो जाता हूँ अर्थात् ईश्वरको और मुझको विषयका समान रूपसे ज्ञान होता है। मेरे चित्तमें ईश्वरीय ज्ञान प्रतिबिम्बित हो जाता है।

यह तर्क समीचीन नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञेय और ज्ञाताका अन्योन्याश्रय है पर जब ज्ञेय न हो तब ज्ञाताकी कल्पना नहीं की जा सकती। बिल्ली दोनों बार ज्ञेय थी, उसका दोनों बार ज्ञाता मैं था। पहली बार और दूसरी बारके संवितोंमें भेद था, इसलिए मुझे एक बार छोटी बिल्ली, दूसरी बार बड़ी बिल्लीका प्रत्यक्ष हुआ। यों कहिये कि पहली बारके प्रत्यक्षको मैंने छोटी बिल्ली, दूसरी बारके प्रत्यक्षको बड़ी बिल्ली नाम दिया। संवितोंमें समानताके कारण दोनोंको बिल्ली कहा गया और उनकी असमानताके कारण छोटी-बड़ीका व्यपदेश हुआ। दोनों बार संवित् तो हुए पर उनके बीचके वृद्धि नामका जो सम्बन्ध हम जोड़ते हैं वह तो चेतोव्यापारका फल है। यदि मैं बिल्लीके बच्चेको अपनी आँखों-के सामने बराबर बँधा रखूँ तो भी यही बात होगी। बराबर नये संवित् होते रहेंगे और मैं इन संवितोंको वृद्धि नामके कल्पित सूत्रपर पिरोता जाऊँगा। संवितोंका होना निर्विवाद है परन्तु वृद्धि चित्तमें है। बुद्धि-निर्माण अवस्तु, अथ च अज्ञेय है, इसलिए उसको मेरे सिवाय ईश्वर या किसी अन्य ज्ञाताकी अपेक्षा नहीं है।

यह आपत्ति की जा सकती है कि इस तर्कसे तो दोनों बार देखनेके

बीचमें बिल्लीका अस्तित्व ही न रह जायगा। न रहे, इसमें घबरानेकी क्या बात है? अस्तित्व था, इसका ही क्या प्रमाण है? कुछ संवित् होते हैं, उनके आधारपर हम कहते हैं कि बिल्ली है। जब संवित् नहीं हैं तब बिल्ली भी नहीं है। अप्रत्यक्षावस्थामें बिल्लीका अस्तित्व तो बुद्धि-निर्माण है।

इस सम्बन्धमें बारम्बार मनन करना चाहिये। हमको वस्तुओंके अस्तित्वका ऐसा विश्वास जमा हुआ है कि सहसा यह सोचकर घबराहट होती है कि चित्तके बाहर वस्तुएँ नहीं हैं। मेरे सामने कुर्सी पड़ी है। क्या सचमुच यह नहीं है? ऐसी कथा है कि किसी विद्वान्‌ने कहा था कि एक ठोकर मारो, चोट लगना कुर्सीके अस्तित्वको सिद्ध कर देगा। यही उनकी भूल थी। चोट लगना एक संवित् है और हम संवित्का अस्तित्वका अनङ्गीकार नहीं करते। एक विशेष प्रकारका संवित् होगा इतना ठीक है, चक्षुरिन्द्रियादिसे कुछ और भी संवित् हो रहे हैं, जिनके आधारपर हमको कुर्सीका प्रत्यक्ष हो रहा है। हम सभी संवितोंकी सत्ता स्वीकार कर रहे हैं परन्तु इनके सिवाय कुर्सी कहाँ और क्या है? तो फिर प्रश्न उठता है कि क्या वह कुर्सी जिसपर मैं बैठा हूँ मेरे चित्तके भीतर है? जिस कुत्तेने मुझे कल काटा था मेरे भीतर था? यह प्रश्न विभज्यवचनीय हैं अर्थात् इनके उत्तरमें सीधा हाँ या नहीं नहीं कहा जा सकता वरन् दो-तीन टुकड़ोंमें उत्तर देना होगा। वह संवित्—रङ्ग, स्पर्श आदि—जो कुर्सीकी विशेषता हैं चित्तमें हैं; वह संवित्—रङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, चाटनेकी प्रवृत्ति हो तो रस, वह अनुभूति जिसे पीड़ा कहते हैं—यह सब कल चित्तके भीतर थे। इनकी सत्ता निर्विवाद है। इस अर्थमें ऐसा कहा जा सकता है कि कुर्सी चित्तमें है, कुत्ता चित्तमें था। इनके सिवाय कुर्सी और कुत्तेका कोई अस्तित्व नहीं है; न कुर्सी चित्तके भीतर है न बाहर, न कुत्ता चित्तके भीतर था न बाहर। इससे व्यवहारमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। कुछ संवित् हुए जिनको मिलाकर यह प्रत्यक्ष हुआ कि कुत्ता है। कुछ देरके बाद कई और संवित्

हुए जिनके आधारपर यह कहा गया कि कुत्ता पास आया, वह गुर्राया, उसने दाँत निकाले, शरीरके अमुक भागको दाँतोंसे दबाया, पीड़ा हुई। संवित्क्रम ठीक हैं, संवितोंके बीचके सम्बन्ध बुद्धिनिर्माण हैं। पर यह अनुमान किया जा सकता है कि फिर संवित् इसी क्रमसे अपनेको दुहरायेंगे। कुक्कुरदर्शनवाले संवित्से आरम्भ हुई संविन्माला पीड़ापर जाकर समाप्त होगी। इसको व्यावहारिक ढङ्गसे यों कहेंगे कि कुत्ता देख पड़ा है तो काटेगा। अतः मालाको बीचसे काट देनेके जो भी उपाय हो सकते हों—पीड़ा नामके हेय संवित्से बचनेके जो उपाय हो सकते हों—उनकी करणीयतामें बाधा नहीं पड़ती। 'कुत्तेने नहीं काटा' कहनेका यह अर्थ है कि अमुक-अमुक अप्रिय संवित् नहीं हुए।

इससे कुछ लोगोंको परितोष नहीं होता। यह हमारा परिचित जगत् लुप्त हुआ जाता है, इससे एक प्रकारकी घबराहट होती है। इसको बचानेकी युक्तियाँ सोची जाती हैं। एक युक्ति यह है कि द्रव्यकी परिभाषा इस प्रकार की जाय कि उसमें संवेद्यताकी सम्भावना भी अन्तर्गत हो जाय। मेरे हाथमें एक बीज है। मैंने उसे भूमिमें गाड़ दिया। इस समय उससे सम्बद्ध कोई संवित् नहीं हो रहा है, परन्तु यदि कोई खोदे तो बीज मिल जायगा, संवित् होने लगेंगे। अतः यह माननेसे कि बीजमें संवित् देनेकी सम्भावना है, बीजकी सत्ता भूमिके नीचे होनेकी अवस्थामें भी सुरक्षित रहेगी। पर सम्भावनाको हमने कब अस्वीकार किया? सम्भावनाका अर्थ यही है कि अमुक अव्यवस्थामें अमुक प्रकारके संवित् प्रायः होते हैं। हम इसे मानते हैं। देखे जानेपर कुत्ता काटता है इसकी मीमांसा हमने की है। कुत्तेमें काटनेकी सम्भावना है, इसका अर्थ यह है कि अमुक-अमुक संवित्के पीछे अमुक-अमुक संवित् होते हैं। इसी प्रकार भूमि खोदनेपर बीजविषयक संवित् होते हैं। बस, सम्भावनाका इतना ही अर्थ है।

कुछ लोगोंका ऐसा विश्वास है कि यदि ईश्वरकी सत्ता न स्वीकार की जायगी तो सदाचारके लिए कोई सहारा न रह जायगा। ऐसा माननेसे

कि ईश्वर लोकोपयोगी कामोंमें प्रसन्न होता है और उनके लिए कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, पुरस्कार देता है और लोकोद्वेजक कामोंसे अप्रसन्न होता है तथा उनके लिए कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, दण्ड देता है सत्कर्मकी मर्यादा बनी रहती है। पुरस्कार और दण्डकी बात छोड़ दी जाय, तब भी ईश्वरकी प्रसन्नता प्रोत्साहन देती है। हम इस सम्बन्धमें एक अगले अध्यायमें फिर विचार करेंगे परन्तु इतना तो स्पष्ट ही होना चाहिये कि यह कोई पुष्ट तर्क नहीं है। कोई ईश्वरकी प्रसन्नताकी क्यों परवाह करे? कौन-सा काम अच्छा, कौन बुरा है इसका निर्णय ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छासे करता है या इस बातकी समीक्षा करता है कि वर्तमान परिस्थितिमें क्या श्रेयस्कर है? किस कामके लिए क्या पुरस्कार या दण्ड दिया जाय यह ईश्वरकी स्वतन्त्र इच्छापर निर्भर है या नियम-बद्ध है अर्थात् अमुक कामका अमुक फल होगा यह नियत है? यदि इन बातोंमें ईश्वरकी इच्छा स्वतन्त्र है तो फिर सदाचार निराश्रय हो जाता है। इच्छाका क्या भरोसा, न जाने कब पलट जाय; जो पुण्य है वह पाप हो जाय, जो दण्ड्य है वह पुरस्कार्य हो जाय। यदि कार्याकार्यका निर्णय वस्तुस्थितिकी समीक्षापर निर्भर है तो प्रत्येक मनुष्यको अपनी बुद्धिके अनुसार स्वयं समीक्षा करनी होगी क्योंकि किसी समयविशेषपर ईश्वरकी क्या सम्मति है इसके जाननेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि कामका फल नियमानुकूल मिलता है तो ईश्वरको मानना बेकार है। ईश्वर फल देता है न कहकर यह कहना ठीक होगा कि नियतिके अनुसार फल मिलता है। ऐसी नियतिको वैदिक वाङ्मयमें सत्यका नाम दिया गया है। अपनेसे बाहर किसी ईश्वरकी ओर दृष्टि लगाये रहनेकी अपेक्षा काम और फलके अटल सम्बन्धको, जिसे कर्म-सिद्धान्त कहते हैं, बराबर सामने रखना सदाचारके लिए दृढ़तर सहारा है।

मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् है, उसकी इच्छाओंका पदे-पदे अभिघात होता है, इसलिए वह वह एक ऐसे व्यक्तिकी कल्पना करता है, जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। ऐसे व्यक्तिकी इच्छाएँ सदा अप्रतिहत

होंगी। यह कल्पित व्यक्ति आदर्शका काम करता है। मनुष्य जो कुछ होना चाहता है उस सबको एकत्र करके इस आदर्शकी सृष्टि करता है। हम दूसरोंकी सेवा करना चाहते हैं पर उपकरणोंकी कमी ऐसा करने नहीं देती; कभी-कभी यह समझमें नहीं आता कि क्या करें, क्या न करें; स्वार्थसङ्घर्षके फलस्वरूप किसीके अधिकारोंका कुचला जाना, किसीके हृदयका विदारण, आये दिन देखना पड़ता है। ऐसी अवस्थामें अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त वैराग्य, अनन्त करुणा, अनन्त माधुर्यमय व्यक्तिकी सत्तापर विश्वास होनेसे बड़ा सम्बल प्राप्त होता है। अन्यायसे लड़नेके लिए स्फूर्ति मिलती है, दुःख सह्य हो जाते हैं।

ईश्वर मनुष्यका परिवर्द्धित और परिशोधित संस्करण है। उसमें वह सब सद्गुण हैं जो मनुष्य अपनेमें देखना चाहता है। इसीलिए प्रत्येक संस्कृति, प्रत्येक व्यक्तिके ईश्वरमें थोड़ा-थोड़ा भेद है। किसीके लिए कोई गुणविशेष मुख्य है, किसीके लिए गौण। जो एककी दृष्टिमें सद्गुण है वह दूसरेकी दृष्टिमें दुर्गुण हो सकता है। परन्तु इतनी बात सभी ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, नित्य है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वसद्गुणसम्पन्न है, निराश्रयोंका आश्रय है और सत्कर्म करनेवालोंका सहायक है। उनका यह भी विश्वास है कि उसपर दृढ़ विश्वास रखनेवालोंकी आध्यात्मिक उन्नति होती है, उनके चरित्रमें निर्मलता आती है और उनकी लोकसंग्रह-शक्ति बढ़ती है।

हम इन बातोंको अस्वीकार नहीं करते, पर इनसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। वह उन उपयोगी अलीकोंमेंसे है जिनकी सृष्टि अपनी, सुविधाके लिए चित्त करता है। बहुत-सी बातें हैं जो समझमें नहीं आतीं, बहुत-सी घटनाएँ हैं जो अप्रिय लगती हैं। इन सबके लिए 'ईश्वरकी इच्छा' कह देनेसे चित्तका क्षोभ मिट जाता है, अज्ञात और अप्रियका अदृश्य सम्बन्ध-सूत्र मिल जाता है।

ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें यह विचारविमर्श अपरिचित-सा प्रतीत होता है परन्तु नितान्त नया नहीं है। प्राचीन भारतमें सांख्य आचार्योंका

यह मत था कि ईश्वर असिद्ध है अर्थात् उसके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं है। नैयायिकोंने आस्तिक-नास्तिक, सभी अनीश्वरवादियोंके तर्कोंके खण्डन करनेका प्रयत्न किया है। उनके तर्कको संक्षेपमें न्यायकुसुमाञ्जलिके पञ्चमस्तवकका यह श्लोक व्यक्त करता है:

कार्यायोजनधृत्यादेः, पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च, साध्यो विश्ववदव्ययः॥

थोड़ेमें इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी आदिके कार्य होनेसे, आरम्भमें परमाणुओंके आयोजनसे, विश्वके धारणादिसे, वृद्धव्यवहारसे, वेदसे, और संख्याविशेषसे ईश्वरकी सिद्धि होती है।

शब्दान्तरसे इसके कई तर्कोंपर हम विचार कर चुके हैं। यह जगत् कार्य है, इसलिए इसका कोई कर्ता रहा होगा। आरम्भमें इसकी उपादान सामग्री निश्चेष्ट रही होगी, क्योंकि वह अचेतन थी: बिना उस सामग्रीमें गति हुए जगत्का निर्माण हो नहीं सकता था, यह गति बतलाती है कि किसी चेतनने उसका आयोजन, प्रेरण, आरम्भण किया होगा; जगत्की धृति अर्थात् पालन और संहार चेतन निमित्तकी ओर संकेत करता है क्योंकि यह क्रियाएँ आपसे आप नहीं हो सकतीं; बहुतसे काम जैसे खेती करना, घर बनाना, आदि अनादिकालसे परम्परया होते चले आ रहे हैं। लोग इनको वृद्धोंके आचरणसे सीखते हैं परन्तु जगत्के आरम्भमें जो मनुष्य हुए उनको सिखानेवाला कौन था? उन्होंने इन कामोंको किया है, इससे प्रतीत होता है कि उनको सिखानेवाली कोई चेतन सत्ता थी। इन सब उपपत्तियोंपर हमने विचार कर लिया है और इनकी निःसारता देख चुके हैं।

दो तर्क और हैं—वेद और संख्या। हम पहिले संख्याको लेते हैं। माना यह गया है कि आरम्भमें क्षिति आदि महाभूतोंके पृथक् परमाणु थे। इनके मिलनेसे ही जगत् क्रमशः स्थूलसे स्थूलतर होता गया। यह स्थूलता कैसे आयी? नैयायिक कहता है कि मिलनेसे आयतनमें वृद्धि नहीं होती। परमाणुका परिमाण परम अणु—इतना छोटा जिससे छोटा

होना असम्भव है, शून्यवत्—है। यदि दो परमाणु मिलेंगे तब भी आयतन वही रहेगा क्योंकि कुछ नहींमें कुछ नहीं मिलनेसे ० + ० = ० योगफल कुछ नहीं ही रहेगा।

परन्तु वृद्धि होती तो है। यह वृद्धि परिमाणसे नहीं, संख्यासे होती है। जहाँ पहिले एक परमाणु था, वहाँ अब दो हो गये। परन्तु यह दो-की संख्या कहाँसे आयी? दोकी संख्या किसी पृथक् परमाणुमें नहीं थी। नैयायिक कहता है कि दो, तीन आदि संख्याकी कल्पना हमारी बुद्धि करती है। सृष्टिके आदिमें तो कोई मनुष्य नहीं था, अतः चेतन ईश्वरकी बुद्धिने यह काम किया होगा।

देखनेमें यह तर्क बहुत सूक्ष्म और गम्भीर प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः इसमें कोई तथ्य नहीं है। आजकल तो परमाणुका परिमाण नापा जा सकता है। यह प्रत्यक्षका विषय है कि दो परमाणुओंका आयतन या परिमाण एकका दूना होता है। आजसे कई सौ वर्ष पहिले आयतन नापना तो सम्भव नहीं था, परन्तु इतना तो समझा जा सकता था कि चाहे कितना भी छोटा हो परमाणुका आयतन शून्य नहीं हो सकता, वह कुछ जगह तो घेरता ही होगा। अतः परमाणुओंके मिलनेपर आयतन बढ़ेगा ही। फिर, यह ठीक है कि संख्याकी कल्पना द्रष्टाकी बुद्धि करती हैं परन्तु ऐसा क्यों माना जाय कि सृष्टिकालमें कोई कल्पना करनेवाला होना ही चाहिये था? हो सकता है कि कोई द्रष्टा न रहा हो। परमाणु मिलते गये हो। कोई दो-तीन-चार-दस उनकी संख्या गिननेवाला न रहा हो। यदि यह कहा जाय कि बिना द्रष्टाके दृश्य नहीं रह सकता तो हमको इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इसी अधिकरणमें यह बात आगे चलकर दिखलायी गयी है। यदि ईश्वरवादी यह मान सकता हो कि बिना साक्षीके भी वस्तु रह सकती है तो हम यह कहेंगे कि उस अवस्थामें यह संख्यावाला प्रमाण कोई अर्थ नहीं रखता।

अन्तिम तर्कका आधार वेद है। वेद वाक्योंके रूपमें है। वाक्यका कोई वक्ता, कर्ता होता है, परन्तु वेदवाक्योंका कोई मनुष्य कर्ता नहीं

है, मन्त्र अनादि कालसे चले आ रहे हैं। अतः वह ईश्वरकृत हैं। इससे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है। इस तर्कको देखिये। वेदमन्त्र अनादि कालसे चले आ रहे हैं, इसका क्या प्रमाण है? यदि किसी मन्त्रके रचयिताका पता न हो तो वह ईश्वरकृत कैसे सिद्ध हो जायगा? यदि किसी कुर्तेके सीनेवालेके नामका पता न चलता हो तो क्या वह ईश्वरका सिया हुआ माना जायगा? प्रत्येक मन्त्रके साथ उसके ऋषिका नाम दिया रहता है। ऐसा माना जाता है कि ऋषि समाधिकी अवस्थामें मन्त्रको देखता या सुनता है, उसको बनाता नहीं। इसका क्या प्रमाण है? ऋषिका कथन-मात्र प्रमाण नहीं हो सकता। बुद्ध और महावीर भी समाधिकी उच्च कोटितक पहुँचे थे, ऐसा उनके अनुयायी मानते हैं। उनको तो मन्त्र नहीं देख-सुन पड़े। क्यों ऐसा हुआ? इसका क्या प्रमाण है कि वह वैदिक ऋषियोंसे नीचेके स्तरपर थे? यह आश्चर्यकी बात है कि याज्ञ-वल्क्यपर तो मन्त्र अवतरित हुए, परन्तु उनके परमगुरु व्यासको ऐसा अनुभव नहीं हुआ। कुछ मन्त्रोंमें स्पष्ट कहा गया है: मैं, अमुक ऋषि, हे इन्द्र तुम्हारे लिए साम प्रस्तुत करता हूँ या नया स्तोत्र रचता हूँ। मुझपर प्रसन्न हो। क्या यह मंत्र ईश्वरकृत हैं? ब्राह्मण भी वेदके अंग माने जाते हैं। उनमें तो बहुत-सी कथाएँ हैं, पारिक्षितों अर्थात् परीक्षित-वंशीय नरेशोंका चर्चा है। यह मानना सम्भव नहीं हैं कि ईश्वरने ही इन कहानियोंकी, जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियोंका उल्लेख है, सृष्टिके आरम्भमें ही रचना कर डाली।

श्रुतिके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि एक तो वह निर्दोष रचना है, दूसरे उसमें साधिकारोक्ति है। निर्दोष रचनाका लक्षण यह है कि वह रचना उक्ति, अनुक्ति और पुनरुक्ति दोषोंसे मुक्त हो अर्थात् उसमें कोई आवश्यक बात छूट न गयी हो, कोई अनावश्यक बात न कही गयी हो और पुष्ट कारणविशेषके विना कोई बात दुहरायी न गयी हो। इस कसौटीपर वर्तमान संहिताओंको कसनेसे कोई उपयोगी परिणाम नहीं निकलता। सपत्नीपर विजय पानेका उपाय दिया हुआ है: क्या यह

बहुत आवश्यक था ? कई रोगोंके, प्रसववेदनाके उपशमके, रुके मूत्रको उतारनेके मन्त्र हैं : यदि यह बातें आवश्यक मानी भी जायँ तो और बहुत-सी व्याधियाँ क्यों छूट गयीं ? एक ही आशयके सैकड़ों मन्त्र मिलते हैं : यह पुनरुक्ति क्यों की गयी ? यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः पुनरुक्ति नहीं है, मन्त्रोंके गम्भीर अर्थ केवल कोश और व्याकरणसे नहीं जाने जा सकते। यह बात भले ही यथार्थ हो, पर इसका प्रमाण क्या है ? किसी भी सरल वाक्यका गम्भीर अर्थ लगाया जा सकता है। साधिकारोक्तिका अर्थ यह है कि वेद ऐसी बात कहता है जिसको मनुष्य अपनेसे नहीं जान सकता था। अमुक यज्ञ करनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है—यह इस प्रकारका आदेश है। यह ठीक है कि मनुष्य इस बातको अपनेसे नहीं जान सकता था, परन्तु इसकी सत्यताका क्या प्रमाण है ? यदि वेदमें दिये हुए अन्य आदेश सत्य निकला करते थे तब भी एक बात थी। अमुक इष्टिसे पुत्र होगा, अमुक यज्ञसे धन मिलेगा—यदि तत्तत् यज्ञ-यागका वह फल बराबर मिलता रहता तो भी यह भरोसा होता कि अन्य बातें, स्वर्गपरक आदेश, भी सत्य होंगी। परन्तु ऐसी क्रियाओंमें इस प्रकारकी फलवत्ता देखी नहीं जाती, इसलिए वेदके आधारपर ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

२. सर्गप्रतिसर्गाधिकरण

ईश्वरके अस्तित्वके पक्षमें जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं उनमेंसे कईके मूलमें यह विश्वास है कि जगत्की कभी-न-कभी सृष्टि हुई, परन्तु इस बातका प्रमाण क्या है ? हम वस्तुओंका बनना-बिगड़ना देखते हैं, इस आधारपर यह अनुमान किया जा सकता है कि जगत्का भी कभी सर्ग हुआ होगा और उसका भी कभी प्रतिसर्ग होगा। परन्तु जिसको वस्तुओंका बनना-बिगड़ना कहते हैं उसमें क्या होता है ? छोटे टुकड़ोंके मिलनेसे बड़े पिण्ड बनते हैं, बड़े पिण्ड टूटकर छोटे टुकड़ोंमें बिखर जाते हैं, तत्त्वोंके मेलसे मिश्रित पदार्थ बनते हैं और मिश्रित पदार्थोंके अवयव पृथक् हो जाते हैं, स्थूलसे सूक्ष्म रूपोंमें परिणत हो जाते हैं, परन्तु ऐसा

कदापि नहीं होता कि जो है वह कुछ नहीं हो जाय, कुछ नहींसे कुछ बन जाय। सत्का असत् नहीं होता, असत्से सत् नहीं निकलता। बनना-बिगड़ना केवल रूपान्तरित होनेका, धर्मपरिणामका नाम है। जो बात छोटे पिण्डोंके लिए है वह समूचे जगत्के लिए भी लागू हो सकती है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुराने तारे, ग्रह, गिरि, सागर आदिका क्षय हो रहा है और नयोंका उदय। जो परिवर्तन थोड़े कालमें नहीं देख पड़ता वह भी दीर्घ कालमें प्रत्यक्षका विषय बन जाता है। यह माना जा सकता है कि कभी ऐसा रहा होगा कि यह नीहारिकाएँ, यह नक्षत्र और ग्रह न रहे हों और फिर एक दिन ऐसा आ सकता है कि न रहें। इसको सर्गप्रतिसर्ग कह सकते हैं पर इसमें उत्पत्ति-विनाशकी कोई बात नहीं है। केवल एक रूपसे दूसरा रूप हुआ है और होगा। किसी बाहरी व्यक्ति या शक्तिको बीचमें लानेकी आवश्यकता नहीं है। जो ऋत, जो स्वभाव, आज परिवर्तन करा रहा है वह आजसे पहिले भी था और बादमें भी रहेगा। उसीने यह रूप दिया, वही दूसरा रूप देगा। हम यह न बतला सकें कि जिसको हम सर्ग कहते हैं उसके पहिले क्या रूप था और जिसको हम प्रतिसर्ग कहते हैं उसके बाद क्या रूप होगा, पर इतना अनुमान कर सकते हैं कि वह सर्गवाला रूप भी पहिला नहीं था, परिणामका फल था और प्रतिसर्गवाला रूप भी अन्तिम न होगा, उसमें भी परिणाम होगा। वह धर्मी क्या है जिसमें इस प्रकार धर्म-परिणाम होता रहता है, यह स्वतन्त्र प्रश्न है जिसपर अन्यत्र विचार होगा। इस विमर्शका यह मथितार्थ निकला कि जिसको हम जगत् कहते हैं वह सदा एक-सा नहीं रहता, रूप बदलता रहता है पर उसका न प्रागभाव था, न प्रध्वंसाभाव होगा, परिणामप्रवाह निरन्तर जारी रहता है। इसलिए उसके आत्यन्तिक उत्पाद और विनाशकी कल्पना निराधार है।

ज्योतिषके विद्वानोंने दृश्यजगत्के स्वरूपका गहिरा अध्ययन किया है। उनको ऐसा लगता है कि जैसे विश्वका विस्तार हो रहा है। इसमेंकी सब वस्तुएँ एक-दूसरेसे दूर होती जा रही हैं। यदि किसी रबरके गेंदपर बहुतसे

चिह्न बना दिये जायँ और फिर गेंदमें धीरे-धीरे हवा भरी जाय तो गेंद बढ़ेगा और उसपरके निशान एक-दूसरेसे दूर होते जायँगे। जो एक-दूसरेसे जितने ही दूर होंगे उनकी दूरी उतने ही वेगसे बढ़ती प्रतीत होगी। वस्तुतः यह दूरीका बढ़ना हवा भरनेके वेगपर निर्भर है। तारे और नीहारिकाएँ भी ठीक इसी प्रकार एक-दूसरेसे दूर भागती प्रतीत होती हैं। जिस क्रमसे विश्व बढ़ रहा है और यह पिण्ड दूर होते जा रहे हैं वह नापा गया है। आजके स्थानोंको देखकर यह गणना की जा सकती है कि सौ वर्ष बाद क्या स्थान होंगे और सौ वर्ष पहिले-क्या स्थान रहे होंगे। इस प्रकार गणना करनेसे ऐसा विदित होता है कि यह फैलाव लगभग ५,००,००,००,००० वर्ष पहिले आरम्भ हुआ। इसका अर्थ यह है कि उस समय यह सभी पिण्ड एक-दूसरेमें चिपके हुए थे। क्या उस दिनको सर्गका आरम्भ मान सकते हैं ? यदि आपसमें चिपके थे तो अलगाव क्यों आरम्भ हुआ ? जो शक्ति उनको अब अलग कर रही है वह कहाँ थी ? यदि कहें कि विश्वने बढ़ना आरम्भ किया तो उसी दिनसे यह क्रिया क्यों होने लगी ? कुछ वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि उस समय यह सब नीहारिक आदि वर्तमान स्थूल रूपमें न थे। किसी प्रकारका प्रबल विस्फोट हुआ, जिसके फलस्वरूप भाँति-भाँतिके परमाणु बने, परमाणुओंके समूह बने, और सब, जैसा कि विस्फोटमें होता है, बिखर गये और दूर होते जा रहे हैं। फिर भी वही प्रश्न रहता है, उस दिन विस्फोट क्यों हुआ ? किसमें हुआ ? कुछ था, तब तो फूटा, फिर सर्ग कैसा ?

यदि यह पिण्ड दूर होते गये तो एक दिन एक-दूसरेके आकर्षणक्षेत्रके बिलकुल बाहर हो जायँगे। इनकी शक्ति भी क्षीण होती जा रही है। तब क्या दूर होना, फैलाव, बन्द हो जायगा ? यह पिण्ड तो रहेंगे, इनका विनाश तो होगा नहीं। फिर क्या इसे प्रतिसर्ग कह सकते हैं ? क्या फिर कोई शक्ति प्रकट होगी ? फिर किसी प्रकारका विस्फोट होगा ? फिर इनमें गति होगी ? फिर एक-दूसरेके पास आने लगेंगे ? फिर एक दिन टकरायेंगे और

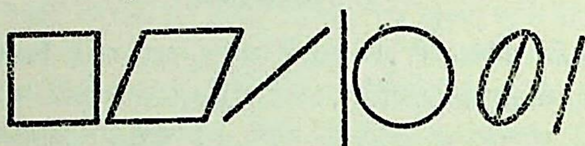
इस प्रकार नष्ट हो जायँगे ? क्या उसे प्रतिसर्ग कहेंगे ? हो सकता है कि उसी विस्फोटसे नया फैलाव आरम्भ हो, प्रतिसर्गके साथ ही सर्ग हो। विज्ञान नयी सृष्टि और पूर्ण विनाशकी बात नहीं सोच सकता।

३. द्रव्याधिकरण

गुणोंके अधिष्ठानको द्रव्य कहते हैं अर्थात्, द्रव्य वह है जिसमें गुण होते हैं, जो गुणवाला होता है। जिसके द्वारा एक वस्तु दूसरीसे व्यावर्तित होती है, पहिचानी जा सकती है, उसको गुण कहते हैं। आगे चलकर हमको गुण शब्दका दूसरे अर्थमें प्रयोग करना है इसलिए द्रव्यके प्रसङ्गमें हम लिङ्ग शब्दसे काम लेंगे। लिङ्गोंकी कोई नियत सूची नहीं है। विद्वानोंने कई बड़ी लम्बी तालिकाएँ बनायी हैं। इन तालिकाओंमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, एकत्व, पृथक्त्व, संयोग, संख्या, परिमाण, आकृति जैसे नाम मिलते हैं। यह निश्चित है कि इनमेंसे कुछ लिङ्गोंसे कई तिर्यक् प्राणी भी परिचित हैं।

लिङ्गोंकी सूची देखनेसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम इनको दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं। पहिले वर्गमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इनको हम बराबर संवित् कहते आये हैं। इनके ही सम्बन्धमें प्रथम खण्डके प्रामाणाध्यायमें यह कहा गया था कि विषय इन्द्रियके द्वारा चित्तमें संवित्रूपसे प्रवेश करता है। जहाँतक शेष लिङ्गोंकी बात है उनको ग्रहण करनेके लिए हमारे पास कोई इन्द्रिय नहीं है। अतः न उनका संवित् होता है, न प्रत्यक्ष। ऐसी दशामें उनके स्वतन्त्र अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं है। वह बुद्धिनिर्माण हैं। संवितोंमें सम्बन्ध स्थापित करके चित्त उनकी सृष्टि करता है। यदि किसी मनुष्यके अनुभवमें केवल एक दृग्विषय आये तो उसे एकत्व, संख्या, पृथक्त्व, संयोग आदिका ज्ञान न होगा। कमसे कम दो अनुभूतियाँ हों तब उनको मिलानेसे यह सम्बन्ध बनते हैं, क्योंकि इन सब शब्दोंके अर्थ सापेक्ष हैं। परिमाण—छोटाई-बड़ाई, अल्प-महा—भी सापेक्ष होता है। आकृति निरपेक्ष प्रतीत होती

है पर वह भी वस्तुगत नहीं है। जो वस्तु ठीक ऊपरसे देखनेसे समचतुरस्र प्रतीत होती है वही दूरसे दीर्घचतुरस्र लगती है। जो आकृति ऊपरसे गोली प्रतीत होती है वह दूरपर अण्डाकार बन जाती है। बहुत दूरसे दोनों ही रेखावत् प्रतीत होती हैं। इनमें वस्तुकी अपनी आकृति



कौन-सी मानी जाय ? विचार करनेसे प्रतीत होगा कि आकृति वह गौण लिङ्ग है जिसका निर्माण बुद्धि रूप और स्पर्शको मिलाकर करती है। बुद्धि-निर्माण चेतोव्यापारके फल हैं अतः वस्तुगत नहीं हैं। इसलिए द्रव्यस्वरूपके सम्बन्धमें विचार करनेमें हमको केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी ओर ध्यान देना चाहिये।

अभीतक हम ऐसा मानते आये हैं कि संवितोंका होना बाह्य वस्तुओं-के अस्तित्वका सूचक है। यह उपयोगी अभिसिद्धान्त है पर अब इसकी समीक्षाका अवसर आ गया है। यदि नाड़िसंस्थानका वह अंश जो इन्द्रियोंके बाहरी अधिष्ठानोंसे संलग्न है प्रकम्पित हो तो संवित् होते हैं। आँखको अँगुलियोंसे दबानेसे, सिरके दीवारसे टकरा जानेसे, हम भाँति-भाँतिके रंगीन गोले, तारे, फूलझड़ीको देख सकते हैं। बिजलीसे भी ऐसा प्रकम्पन उत्पन्न किया जा सकता है। स्वप्नमें बहुत-कुछ देख पड़ता है, बहुत-कुछ सुन पड़ता है। किसी-किसी वायुरोगमें नाना प्रकारके चलाचल दृश्य देख पड़ते हैं और शब्द सुन पड़ते हैं। किसी-किसी कर्णशूलमें सङ्गीत सुन पड़ता है। संवित् होनेके नाते इन संवितोंका पद किन्हीं दूसरे संवितोंसे छोटा नहीं है। तो फिर क्या इनको वस्तुसत्ताका सूचक माना जा सकता है ? यदि माना जाय तो जगत् अवस्तु हो जायगा क्योंकि एक तो जिस जगत्का अनुभव एक व्यक्तिको होगा उसी देश-कालमें उसका अनुभव दूसरे व्यक्तिको नहीं होगा; दूसरे, उसी व्यक्तिके लिए जाग्रत् और स्वास्थ्यवाला

जगत् स्वप्न और रोगवाले जगतोंको बाधित कर देगा और स्वप्न तथा रोगवाले जगत् जाग्रत् और स्वास्थ्यवाले जगत्को बाधित कर देंगे। यदि हम कहें कि हम इन संवितोंको वस्तुसत्ताका सूचक नहीं मानते, तो न माननेका हमको क्या अधिकार है ? यदि यह कहा जाय कि यह संवित् थोड़ी देरतक और विशेष अवस्थाओंमें ही होते हैं इसलिए अमान्य हैं तो प्रश्न यह होगा कि देरतक होना क्यों मान्यताके लिए आवश्यक है ? यदि किसीने अपने जीवनमें एक ही बार शक्करको चखा तो क्या उसके लिए शक्करका स्वाद अमान्य होगा और उसको शक्करके अस्तित्वको अस्वीकार करना चाहिये ? विशेष अवस्थाका अनुभव क्यों अस्वीकार्य है ? नाड़िसंस्थानका क्षोभ उभय दशामें होता है; एक अवस्थामें हमको सूर्य देख पड़ता है, दूसरीमें पिशाच। पिशाच भी उतना ही सत्य है जितना कि सूर्य। ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता कि जगत्में सूर्य भी है और पिशाच भी ? साधारणतः नाड़ियोंमें उस प्रकारका कम्पन नहीं हो पाता जिससे पिशाचका प्रत्यक्ष हो सके। विशेष अवस्थामें उनमें उस नाप-तौलका प्राण-सञ्चार होता है जिससे प्रेत-दर्शनके उपयुक्त कम्पन हो सके। इसको यों कहना अधिक अच्छा होगा कि शरीरकी विशेष अवस्थाओंमें ही पिशाच चक्षुरिन्द्रिय द्वारसे चित्तमें संवित् रूपसे प्रवेश कर सकता है। यदि साधारण अवस्थामें जो देख पड़े वही मान्य हो तो फिर दूरबीन जैसे यन्त्रोंका प्रयोग अवैध हो जायगा।

कुछ संवितोंको वस्तुसत्ताका सूचक न माननेके पक्षमें यह हेतु दिया जाता है कि सर्वमान्य नहीं होते अर्थात् उसी देशकालमें सबको नहीं होते। परन्तु जो अनुभूति सर्वमान्य हो वही क्यों मान्य हो ? क्या कोई माता अपने बच्चेको इसलिए प्यार करना छोड़ देती है कि कोई दूसरा उसको प्यार करने योग्य नहीं समझता ? बहुतसे सूक्ष्म गन्धों, स्वादों और स्वरोंका अनुभव थोड़े लोगोंको ही होता है परन्तु इस हेतुसे उनकी सत्ता अमान्य नहीं होती। कमलके फूलका रंग दिनमें कुछ होता है, रातमें दीपकके प्रकाशमें कुछ और। जिसने रातमें फूल देखा है वह रङ्गके विषयमें

उन लोगोंकी बात क्यों मान ले जिन्होंने दिनमें देखा है? जिन दूसरे लोगोंके संवित् मेरे संवितोंको मान्यता प्रदान करनेवाले हैं उनकी सत्ताका मेरे लिए क्या प्रमाण है? मेरे लिए तो वह लोग संवित् मात्र हैं। मुझको 'ट'का संवित् हो रहा है; क, ख, ग को ऐसा संवित् नहीं हो रहा है। मुझसे कहा जाता है कि तुम अपने संवित्का विश्वास मत करो क्योंकि क, ख, ग उसका समर्थन नहीं करते। परन्तु मेरे लिए तो क, ख, ग भी संवित् हैं। मैं क्यों अपने उन संवितोंका विश्वास करूँ जिनसे क, ख, ग के अस्तित्वकी सूचना मिलती है और उस संवित्का विश्वास न करूँ जो 'ट'के अस्तित्वका सूचक है? इसका एक ही उत्तर है। कुछ संवित् ऐसे हैं जिनको विश्वसनीय अर्थात् वस्तुसूचक मान लेनेसे हमको व्यवहारमें सुविधा होती है। भोगके लिए जो चेष्टा की जाती है उसका नाम व्यवहार है। जो संवित् भोगोपयोगी होते हैं वह वस्तुसूचक माने जाते हैं, शेषका हम परित्याग कर देते हैं।

चित्तपर एक ओर वासनाओंका प्रहार हो रहा है, दूसरी ओर संवित् उठ रहे हैं। उसकी दशा उस रस्सीके समान है जिसके दोनों सिरे खिंच रहे हैं। यदि वासना और संवित्में सामञ्जस्य स्थापित न हो सका तो रस्सी टूट जायगी, चित्त पागल हो जायगा। सौभाग्यसे सामञ्जस्य करना कठिन नहीं है। वासनाओंकी तृप्ति संवितोंसे होती है। यह मानना भूल है कि वासनाको भोगके लिए वस्तु चाहिये। किसी-न-किसी स्पर्श या गन्ध या रूप या रस या शब्दकी चाह होती है। परन्तु अस्त-व्यस्त संवितोंसे काम नहीं चलता। चित्त इनको छाँटता है, जो भोगानुकूल होते हैं उनके गुच्छे बनाता है, इस प्रकार उनको पृथक् करता है। यह वर्गीकरण चेतोव्यापार है। वस्तुस्थितिमें संवित् इस प्रकार विभक्त नहीं हैं, एक-दूसरेसे सम्बद्ध नहीं हैं। भीड़में सैकड़ों मनुष्य जा रहे हैं। सब एक-दूसरेसे अलग हैं परन्तु मोची अपने सुभीतेके लिए उनको नंगे पाँववाले, नये जूतोंवाले और फटे जूतोंवाले, तीन वर्गोंमें बाँट लेता है।

संवित् चित्ततन्त्र नहीं हैं। कभी होते हैं, कभी नहीं होते। इसलिए

चित्तको ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक संवित्का कोई-न-कोई हेतु होगा, 'कुछ' होगा जो उस संवित्को उत्पन्न करता है। वह यहीं नहीं रुकता, एक कदम और आगे जाता है। ऐसा मान लेता है कि जिन संवित्-गुच्छोंको उसने चुना है उनके भी हेतु होंगे, कुछ वस्तुएँ होंगी जो उनको उत्पन्न करती होंगी। इन हेतुओंकी द्रव्य संज्ञा की जाती है। सुभीतेके लिए प्रत्येक द्रव्यका नामकरण किया जाता है, पर यह सिद्ध है कि द्रव्य अवस्तु है, उसकी कोई सत्ता नहीं है। संवितोंके कृत्रिम गुच्छोंके हेतु भी अलीक, बुद्धिनिर्माणमात्र ही हो सकते हैं।

एक उदाहरण लीजिये। हम कहते हैं कि दूध ऐसा द्रव्य है जिसमें मीठा स्वाद, श्वेत रङ्ग, तरलता आदि लिङ्ग पाये जाते हैं। पहिली बात तो यह है कि यह लिङ्ग संवितोंसे अभिन्न हैं। मीठा स्वाद संवित् है, श्वेत रंग संवित् है, तरल स्पर्श संवित् है। यदि चित्त न हो तो न स्वाद होगा, न रङ्ग, न स्पर्श। तो फिर दूधके सब लिङ्ग तो चित्तके संवित्विशेष हैं, लिङ्गोंका आश्रय, लिङ्गी, क्या है? निश्चित रूपसे तो इतना ही कहा जा सकता है कि हम अपने सुभीतेके लिए इन तीनों संवितोंको दूसरे संवितोंसे अलग करके दूधका नाम देते हैं अतः

मीठा रस + श्वेत रूप + तरल स्पर्श = दूध

जब हम यह कहते हैं कि दूध मीठा होता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम दूध नामक द्रव्यके किसी लिङ्गविशेषको बतला रहे हैं, परन्तु वस्तुतः हम उन संवितोंमेंसे, जिनकी समष्टिको हमने दूध नाम दे रखा है, एकका उल्लेख कर रहे हैं। 'दूध मीठा होता है' कहनेका तात्पर्य है मीठा रस + श्वेत रूप + तरल स्पर्श मीठा होता है। मिठास तो उन तीन संवितोंमें है ही जिनका सम्मिलित नाम दूध है अतः 'दूध मीठा होता है' कहनेसे हमारे ज्ञानमें कोई वृद्धि नहीं होती। इससे सिद्ध है कि हमारे संवितोंसे पृथक् द्रव्यका अस्तित्व नहीं है। वह बुद्धिनिर्माण है।

द्रव्यकी दूसरे प्रकारसे भी परिभाषा की जाती है। जिसमें अवस्था-परिणाम होता है, जो बदलता रहता है, जो परिवर्तनका आश्रय है, वह

द्रव्य है, ऐसा कहा जाता है। यहाँ परिणाम, बदलना, परिवर्तन शब्दोंका प्रयोग विचारमें बाधक होता है क्योंकि यह सब किसी परिणामीकी विवक्षा रखते हैं। इनको छोड़कर उदाहरणके द्वारा विचार कीजिये। हम कुण्डल, कड़ा, अँगूठी, कटोरीको जानते हैं क्योंकि यह सब संवित् रूपसे हमारे चित्तमें आते हैं; घड़ा, खपरैल, ठीकरा धूलिके संवित् होते हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त धर्मीकी सत्ताका क्या प्रमाण है? सोने या मिट्टीका अस्तित्व क्यों माना जाय? ऐसा कहना निराधार है कि कोई द्रव्यविशेष है जो कुण्डलादिमें परिवर्तित होता रहता है। हम संवितोंके एक गुच्छेको कुण्डल, दूसरेको कड़ा, तीसरेको अँगूठी कहते हैं। इन संवितोंका सन्तुलन करनेसे कुछ समता प्रतीत होती है, कुछ संवित् बार-बार आते हैं। अतः उनमें सम्बन्ध जोड़कर चित्त सोनेकी कल्पना करता है। यों कह सकते हैं कि कुण्डलादि गुच्छोंमें जो संवित् समान रूपसे पाये जाते हैं उनका चित्तने एक पृथक् गुच्छा बना लिया है और उसे सोना नाम दे दिया गया है। इसके बाद यह कहा जाता है कि सोना धर्मी है, कुण्डलादि उसकी अवस्थाएँ हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि संवितोंके बाहर द्रव्यकी सत्ता नहीं है, वह बुद्धिनिर्माण है।

हम प्रथम खण्डमें कई जगह 'वस्तुस्वरूप' शब्दका प्रयोग कर आये हैं। इस अधिकरणके अन्तमें यह परिणाम निकलता है कि संवितोंसे अलग न वस्तु है, न वस्तुस्वरूपका प्रश्न उठ सकता है।

४. भूताधिकरण

द्रव्योंकी जितनी भी सूचियाँ मिलती हैं उनमें महाभूत या भूतका नाम रहता है। कोई भूतको एक मानता है, कोई पाँच भूतोंकी सत्ता मानता है। भूत वह है जो इन्द्रियोंके द्वारा चित्तमें संवित् उत्पन्न करता है। भारतीय विद्वानोंने भूतोंकी संख्याको नामका अंग-सा बना दिया है, यहाँतक कि यदि यूरोपीय 'मैटर' शब्दके लिए पर्याय लिखना हो तो पञ्चभूत संज्ञाका प्रयोग किया जाता है। भूतका एक पर्याय तत्त्व भी है,

परन्तु इसको उन अमिश्र पदार्थोंकी संज्ञाके लिए अलग कर रखना अच्छा है जो रासायनिक क्रियाओंमें भाग लेते हैं। भूतोंके नाम क्षिति, अप, तेज, वायु और आकाश हैं। क्षितिसे पाँचों प्रकारके संवितोंका, अपसे गन्ध छोड़कर शेष चारका, तेजसे गन्ध और रस छोड़कर अन्य तीनका, वायुसे स्पर्श और शब्दका, तथा आकाशसे केवल शब्द संवित्का होना माना जाता है। क्षितिका अर्थ मिट्टी और उसके प्रस्तरादि भेद, अपका जल, तेजका आग, वायुका हवा और आकाशका क्षितिजसे क्षितिजतक फैला हुआ नीला वितान या हवासे भी पतला कोई तरल पदार्थ मानना अशास्त्रीय है। यह स्मरण रखना चाहिये कि भूत दिग्वर्ती होते हैं अर्थात् दिक्‌में जगह घेरते हैं।

रासायनिक प्रयोगोंसे यह देख पड़ता है कि लगभग नब्बे या छानबे ऐसे पदार्थ हैं जिनके एक-दूसरेसे मिलनेसे वह सब वस्तुएँ बनती हैं जो सामान्यतः इन्द्रियग्राह्य हैं। इनको तत्त्व कहते हैं। तत्त्व अमिश्र हैं, क्योंकि इनका रासायनिक विश्लेषण करके इनमेंसे पदार्थान्तर नहीं मिलता। यह सम्भव है कि आगे चलकर इनमेंसे भी कुछ मिश्र सिद्ध हो जायँ, तब उनका नाम तत्त्वोंकी सूचीसे निकल जायगा। यह भी सम्भव है कि ऐसे उपाय उपलब्ध हो जायँ जिनसे एक तत्त्वसे सब तत्त्वान्तर बन सकें। तत्त्व वह सामग्री है जिससे समस्त इन्द्रियग्राह्य जगत् बना है। मिट्टी, पर्वत, जल, हवा, ओषधि, प्राणियोंके शरीर, खनिज तथा ग्रह, नक्षत्र, सभी इन तत्त्वोंसे बने हैं। तत्त्व और मिश्र पदार्थोंके समुदायका नाम क्षिति है। ऐसे कई तत्त्व और मिश्र पदार्थ हैं जिनसे साधारणतः पाँचों प्रकारके संवितोंकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु ऐसा मानना असमीचीन नहीं है कि प्रत्येकमें प्रत्येक प्रकारकी संवेद्यता रहती है। हवामें यों न रस है, न रूप, परन्तु वैज्ञानिक उपायोंसे उसको ठोस बनाया जा सकता है। उस अवस्थामें वह रूप और रसयुक्त प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार बहुत-सी वस्तुओंमें गन्ध नहीं मिलती। यह हमारी नाककी बनावटका फल है। कुत्तों तथा कई अन्य प्राणियोंको ऐसी वस्तुओंमें गन्धकी अनुभूति होती

है जो साधारणतः मनुष्यके लिए निर्गन्ध हैं।

तत्त्वके सबसे छोटे टुकड़ेको परमाणु कहते हैं। परमाणुकी छोटाईका अनुमान नीचेके अंकोंसे किया जा सकता है—

परमाणुका व्यासार्द्ध $=\frac{१०^{-८}}{२\cdot५४}$ इंच

(=१ इंचका लगभग १ खर्बवाँ भाग

हाइड्रोजनतत्त्वके परमाणुका गुरुत्व $=१\cdot६५\times१०^{-२४}$ ग्राम

(१ ग्राम = लगभग ८½ रत्ती)

इसका तात्पर्य यह है कि एक रत्तीमें हाइड्रोजनके जितने परमाणु हैं उनकी संख्या बतानेके लिए सात लिखकर उसके पीछे छब्बीस शून्य लिखने पड़ेंगे। हमने हाइड्रोजनके परमाणुका गुरुत्व दिया है। सब तत्त्वोंके परमाणुओंके गुरुत्व बराबर नहीं होते। हाइड्रोजन सबसे हल्का होता है। परमाणु-रूपसे ही तत्त्व रासायनिक क्रियाओंमें सम्मिलित होते हैं। परमाणुओंके मिलनेपर तत्त्वोंके समूह और मिश्र द्रव्य बनते हैं और मिश्र द्रव्य तथा तत्त्वसमूह टूटकर फिर परमाणु रह जाते हैं। परमाणुओंकी सम्मिलित संज्ञा अप है।

रासायनिक क्रियाओंमें अविभक्त रहते हुए भी परमाणु वस्तुतः अविभक्त नहीं है। इतना छोटा-सा कलेवर है पर वह भी छोटा-सा जगत् है। बीचमें ऋण-विद्युन्मय कण, उसके चारों ओर एक या अधिक धन-विद्युन्मय कण घूमते रहते हैं। सभी परमाणुओंके ऋण और धन-विद्युत्कण एक-से होते हैं। कणोंकी संख्यापर ही तत्त्व-तत्त्वका भेद निर्भर करता है। इस विद्युत्कणावस्थाको तेज कहते हैं।

क्षिति, अप और तेजमें गुरुत्व होता है। इनसे परे चौथा भूत वायु है। वायुका पर्याय शक्ति है। विद्युत्, ताप, प्रकाश, रासायनिक शक्ति, मांस-पेशियोंकी शक्ति, पाचन शक्ति सब वायुके भेद हैं। वायु गुरुत्वहीन है। पिण्डीभूत वायु तेजरूप धारण करती है, तेज टूटकर वायुरूप हो

जाता है। पाँचवाँ भूत आकाश रह जाता है। उसके सम्बन्धमें हम दिक्स्वरूपाधिकरणमें विचार करेंगे।

भूतोंका यह विवरण बहुत ही संक्षिप्त है। तेज और वायुके सम्बन्धमें आज विज्ञान जो कुछ कहता है वह आश्चर्यजनक है। सम्भवतः आगे चलकर इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बातोंका पता लगेगा। वायुके भेदोंमें विद्युत् सबसे सूक्ष्म है। वह अभीतक ऋण और धन दो प्रकारकी मानी जाती थी। अब ऐसा सोचा जाने लगा है कि वस्तुतः विद्युत् केवल ऋणात्मक है; उसके विभुविस्तारमें कहीं-कहीं रिक्त स्थल हैं। वहीं हमको धन-विद्युत्की प्रतीति होती है। विद्युत्कण छोटे भौतिक पिण्ड हैं परन्तु उनका व्यवहार कुछ प्रयोगोंमें तरङ्गों जैसा होता है। दूसरी ओर विद्युत्की तरङ्गोंका भौतिक कणोंपर कण जैसा आघात होता है और उसकी भी ऐसी बँधी मात्राएँ होती हैं जिनको भौतिक कणोंकी भाँति विद्युल्लव कह सकते हैं। इन सब शोधोंका परिणाम यह हुआ है कि यह कहना कठिन है कि जगत्की आदिम वस्तु तरङ्ग है या कण है या उभयात्मक है। एक वैज्ञानिक मत यह है कि यह जगत् मनःप्रसूति है। सम्भावनाकी महाराशि तरङ्गित होती रहती है। यह तरङ्गें ही भौतिक वस्तु और घटनाएँ हैं।

अबतक जो कुछ कहा गया है वह इस समयतककी वैज्ञानिक खोजका निचोड़ है। जिसको इस विषयमें अभिरुचि हो उसको एतत्सम्बन्धी भौतिक विज्ञानकी पुस्तकें पढ़नी चाहिये। अभी तेज और वायुके सम्बन्धमें बहुत शोध करना है। बहुत सम्भव है कि आगे चलकर जो शोध हो उसके फलस्वरूप वैज्ञानिक मतमें बहुत परिवर्तन हो जाय। दर्शनका स्वसिद्धान्त आगे चलकर भूतविस्ताराधिकरणमें दिखलाया गया है। उस सीमाके भीतर विज्ञानका जो भी मत होगा, दार्शनिक उसका आदर करनेको तैयार होगा।

यह भौतिक विज्ञानका क्षेत्र है, दर्शनका निजी क्षेत्र नहीं। शुद्ध दार्शनिक दृष्टिसे इन बातोंका महत्त्व यही है कि इनसे उस कथनका निदर्शन मिलता है जो हम पिछले कई अधिकरणोंमें, विशेषतः

द्रव्याधिकरणमें, साग्रह करते आये हैं।

हम क्षिति, अप, तेज और वायुके सम्बन्धमें क्या जानते हैं? तारा, ग्रह, गिरि, सागर, तत्त्व, परमाणु, विद्युत्कण, विद्युत्, ताप, प्रकाश, वायु, प्राकृतिक नियम और सिद्धान्तकी सत्ताका क्या प्रमाण है? इन प्रश्नोंका एक ही उत्तर है, हमारे संवित्। वेधालय और प्रयोगशालामें लाखों रुपये लगाकर बारीकसे बारीक यन्त्र बनाये जायँ परन्तु उनसे काम लेनेपर प्रयोक्ता-को कुछ संवित् ही मिलते हैं: नलीमें पारा चढ़ता देख पड़ा, अमुक यन्त्रमें रखी सूई इधरसे उधर हिली, प्रकाशका बिन्दु इतना हट गया, इत्यादि। संवित्का होना विवादका विषय नहीं है। बस इतना समझ लेना चाहिये कि इन संवितोंके बीचमें जो सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं, संवित् क्यों और कैसे होते हैं यह समझनेके लिए जो बातें आवश्यक प्रतीत होती हैं, वह अवस्तु हैं। समझदार वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानता है। वह जानता है कि संवित् मात्रकी सत्ता तो प्रत्यक्षका विषय है परन्तु उनके आधारपर जो सिद्धान्त या अभिसिद्धान्त खड़े किये गये हैं या होंगे वह बुद्धिनिर्माण हैं और होंगे। अन्य द्रव्योंकी भाँति भूतोंकी पारमार्थिक सत्ता असिद्ध है।

५. भूतवादाधिकरण

वायु, तेज, अप और क्षितिके समुच्चयको चतुर्भूत कह सकते हैं। वैज्ञानिकोंका विश्वास है कि इनमें वायु आदिम रूप या मूल अवस्था है। वायुका स्वरूप विद्युत् या इससे भी कोई सूक्ष्म भेद है, यह बात शोधा-पेक्षी है। यह भी हो सकता है कि शोधसे वायुसे भी सूक्ष्म किसी भूतभेद-का पता चले। पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि कोई-न-कोई ऐसा भूत होगा जिससे क्रमात् और भूत निकले होंगे। उसे मूलभूत कह सकते हैं। यह मूलभूत जगत्के उस सारे प्रपञ्चका मूल या मूलावस्था होगा जिसका ज्ञान हमको आज संवित् रूपसे हो रहा है। यदि एकसे अधिक प्रकारके मूलभूतोंका अस्तित्व वैज्ञानिक दृष्टिसे सिद्ध हो तब भी हमारे तर्कमें कोई

अन्तर न पड़ेगा। मूलभूतका स्वभाव परिवर्तनशील है। वह इस स्वभावकी अन्तःप्रेरणासे अवस्थासे अवस्थान्तरमें परिणत होता हुआ आज इस विशाल जगत्के रूपमें आ गया है। परिणाम होता तो बराबर रहता है परन्तु इतने धीरे-धीरे होता है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें बहुत भेद नहीं होता। काल पाकर इन छोटे-छोटे परिवर्तनोंका योग हमको नयी अवस्थाके रूपमें प्रतीत होता है। पानी जब गरम होने लगता है तो हमको पहिले पानीके रूपमें ही प्रतीत होता है परन्तु जब तापवृद्धिकी मात्रा सीमा-विशेषतक पहुँच जाती है तो पानीका स्थान भाप लेती है। इस प्रकारके क्रमिक परिवर्तनको 'मात्राभेदसे लिङ्गभेद' कहते हैं। दूसरी अवस्था पहिली अवस्थाकी प्रतियोगी, उससे विपरीत होती है, परन्तु परिवर्तनक्रम वहीं नहीं रुक सकता। वह और आगे बढ़ता है और मात्राभेदसे लिङ्गभेद होकर तीसरी अवस्थाका उदय होता है जो दूसरीकी प्रतियोगी होती है और इस प्रकार पहिलीकी प्रतियोगीकी प्रतियोगी होती है। इसको यों कहते हैं कि पूर्वावस्था, तत्प्रतिषेध, प्रतिषेधका प्रतिषेध—इस क्रमसे अवस्था-परिणामका प्रवाह निरन्तर जारी है। जो अवस्था प्रतिषिद्ध होती है वह सर्वथा नष्ट नहीं होती, अपने प्रतिषेधकमें अपने संस्कार छोड़ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्तीमें प्रत्येक पूर्ववर्ती विद्यमान है। धर्म-परिवर्तनकी इस प्रक्रियाको द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कहते हैं। परिवर्तनका क्रम अन्यथा भी सोचा जा सकता है परन्तु औरोंकी अपेक्षा यह प्रक्रिया अधिक पुष्ट और विस्तृत है। इसको सिद्धान्तरूपसे उपस्थित करनेका श्रेय मार्क्सको है। यह न भूलना चाहिये कि मार्क्सके विचारके अनुसार सभी धर्मियोंके धर्म-परिवर्तन इस प्रक्रियाके अनुसार होते हैं। मार्क्सने इस प्रक्रियाका ग्रहण हीगेलसे किया था। भेद यह था कि हीगेल ऐसा नहीं मानते थे कि जगत्की आदिम अवस्था किसी प्रकारके मूलभूतसे आरम्भ हुई थी।

मूलभूतकी सत्ताको स्वीकार करते हुए ऐसा माना जा सकता है कि आदिम अवस्थामें उसके साथ-साथ किसी प्रकारका चेतन, कोई द्रष्टा भी था। ऐसा मानना कपिलके मतका भेदविशेष होगा। परन्तु कई ऐसे

दार्शनिक हैं जिनका यह मत है कि जगत्का मूल केवल अचेतन भूलभूत है। अपनी स्वाभाविक नोदनासे परिवर्तित होता हुआ उसने अनेक रूप धारण किये। उसकी विभिन्न अवस्थाओंमेंसे चेतना भी एक है। परिणाम-क्रम बहुत आगे बढ़ जानेके बाद जब पृथिवीका तापमान अनुकूल हुआ और नदी-समुद्रादि बन चुके उस समय चार-पाँच तत्त्वोंके मिलनेसे एक ऐसा मिश्र पदार्थ बना जिसमें चेतना नामक लिङ्ग था। अनुकूल परिस्थिति-में जिस मिश्र पदार्थका विकास हुआ, वह आज हमको वनस्पति, कीटाणु, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य रूपमें देख पड़ रहा है। इन सबमें चेतना है। जिस समय उस मिश्र पदार्थके अवयवभूत तत्त्व बिखर जाते हैं, शरीर मृत हो जाता है, चेतना नष्ट हो जाती है। इस मिश्र पदार्थको जो कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन, गन्धक और फास्फरसके मिलनेसे बना है, सत्त्वमूल, प्रोटोप्लाज्म कहते हैं।

इस मतको भूतवाद कहते हैं, अचेतनवाद भी कह सकते हैं। भारतमें इसको सबसे पहिले चार्वाकने उपस्थित किया था। आज वैज्ञानिक शोधोंके आधारपर इसके प्रतिपादनमें स्वभावतः पहिलेकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक शब्दावलीसे काम लिया जाता है।

हम पिछले अधिकरणमें भूतोंकी सत्ताके सम्बन्धमें विचार कर चुके हैं। बड़ा क्षैत पिण्ड हो या मूलभूत हो, या तो वह संवित् उत्पन्न करता है या नहीं करता। यदि नहीं करता तो वह परिभाषाके अनुसार भौतिक नहीं है। यदि करता है तो हमारे पास उसकी सत्ताका एतावत् मात्र प्रमाण है। संवित् हैं यह निर्विवाद है। संवितोंके बीचमें जो प्रक्रियारूपी सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह बुद्धिनिर्माण है। अभिसिद्धान्तके रूपमें उसकी उपादेयता अंगीकार की जा सकती है, पर यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि कोई भी अभिसिद्धान्त या सिद्धान्त हो उसकी पदवी बुद्धि-निर्माणसे अधिक नहीं है।

मूलभूत भूत है, अतः उसकी सत्ताके सम्बन्धमें वही तर्क लागू होगा जिसका अनुसरण पिछले दोनों अधिकरणोंमें किया गया है। हम संवित्

मात्रको जानते हैं, क्षिति, अप, तेज, वायु, भूत, मूलभूत यह सब बुद्धि-निर्माण हैं।

भूतवादी कहता है कि आदिम अवस्थामें मूलभूत था परन्तु चेतन न था। इस कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि दृश्य था परन्तु द्रष्टा न था। यह अकल्प्य है। न दृश्यके विना द्रष्टा हो सकता है, न द्रष्टाके विना दृश्य। यदि चेतन नहीं था, अस्मत् नहीं था, तो भूलभूत भी नहीं था, युष्मत् भी नहीं था। यदि संवित्का कोई ग्रहण करनेवाला नहीं था; तो संवित् हो नहीं सकते थे। संवितोंसे पृथक् भूतसत्ता हो नहीं सकती, इसलिए उस अवस्थामें मूलभूत भी नहीं था। भूतवाद अमान्य है। जगत्की जो कोई भी अवस्था ली जाय वह द्रष्टृदृश्यात्मक होगी। जो लोग भूतवादको ग्रहण करते हैं वह विज्ञानकी असमीचीन मीमांसा करते हैं। वह भूल जाते हैं कि विज्ञान जिन कम्पन, वेग, विद्युत्, रासायनिक योग आदिकी चर्चा करता है वह सब बुद्धिनिर्माण हैं।[1]

६. कार्यकारणाधिकरण

कार्यकारणवादका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक घटना, प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई कारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी पदार्थ अहेतुक, निष्कारण, असम्बद्ध नहीं होता। यह कार्यकारण-शृङ्खला अनादि है। हम इस विषयमें प्रथम खण्डमें विचार कर चुके हैं परन्तु यहाँ उस विचारको और विशद करना उचित प्रतीत होता है। यदि दो वस्तुओं या घटनाओंमें यह बात देखी जाय कि एक दूसरेसे नियत रूपसे पहिले आती है तो पहिले आनेवालीको कारण और पीछे आनेवालीको कार्य कहते हैं। यदि कारणकार्य-निर्देशका इतना ही तात्पर्य है कि अमुक अनुभव पहिले, अमुक पीछे होता है तो किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। क सदा ख के पहिले आता है कहनेके स्थानमें यह कहा जा सकता है कि क कारण है, ख कार्य है। पर जो लोग इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं

---

१. इस सम्बन्धमें विस्तृत विचार अगले अध्यायके देहात्मवादाधिकरणमें होगा।

वह इनको केवल पूर्वापरके अर्थमें नहीं बोलते, उनका तात्पर्य यह होता है कि वस्तुओं और घटनाओंमें एक प्रकारका वास्तविक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध केवल पूर्वापरका नहीं है। आकाशमें पहिले आर्द्रा नामक तारा देख पड़ता है, तब पुनर्वसु, परन्तु आर्द्रादर्शन पुनर्वसुदर्शनका कारण नहीं माना जाता। दोनोंमें कोई सम्बन्ध नहीं है। आकाशमें दोनों युगपत् विद्यमान हैं परन्तु पृथिवीका अक्षभ्रमण ऐसा है कि हम दोनोंको एक साथ नहीं देख सकते। इस उदाहरणमें पौर्वापर्य आकस्मिक है अर्थात् वस्तुगत नहीं है। परन्तु जहाँ वस्तुगत पौर्वापर्य होता है वहाँ भी ऐसा हो सकता है कि कार्यकारण-सम्बन्ध न हो। कोई कर्मठ व्यक्ति अग्निमें आहुति डालकर तब भोजन करता है। परन्तु आहुति डालना भोजन करनेका कारण नहीं कहा जा सकता। इसलिए कारण उसीको कहा जाता है जिसमें नियतपूर्ववर्तित्वके साथ-साथ अविनाभाव भी हो। यदि दो वस्तुओं या घटनाओंमें एक नियत रूपसे पहिले आती हो और उसके बिना दूसरी न होती हो तो उसको कारण और दूसरीको कार्य कहेंगे। केवल अविनाभावका नाम लेना पर्याप्त नहीं है। दोनों कालोंमें अविनाभाव है परन्तु इनमेंसे एक दूसरेका कारण नहीं है। दही बननेके पहिले दूध भी था और कमलका फूल भी, परन्तु दूधके बिना दही नहीं बन सकता, कमलपुष्पके बिना बन जाता है। इसलिए दूधको कारण, दहीको कार्य कहते हैं।

हम प्रथम खण्डके सातवें अध्यायमें देख आये हैं कि ऐसा माननेमें कि कारणद्रव्यसे कार्यद्रव्य नामकी किसी नयी वस्तुकी, ऐसी वस्तुकी जिसका पहिले अभाव था, उत्पत्ति होती है, कई अड़चनें पड़ती हैं। यह माननेमें सुभीता होता है कि कार्य बीजरूपसे कारणमें पहिलेसे विद्यमान था। यदि ऐसा न माना जाय तो अवस्तुसे वस्तुकी, असत्से सत्की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। परन्तु अभी कार्यकारण-विषयक सब अड़चनें दूर नहीं हुई। कपड़ेका कारण सूत है क्योंकि सूतमें कपड़ेके प्रति अविनाभाव है। तो यह कारणत्व क्या प्रत्येक सूतमें है अर्थात् क्या प्रत्येक

सूत कपड़ेका कारण है ? ऐसी दशामें एक सूतसे भी कपड़ा मिलना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। सूत जब तानेबानेके ढङ्गपर एक विशेष प्रकारसे संव्यूढ किये जाते हैं तब कपड़ा मिलता है। तब क्या यह संव्यूहन कपड़ेका कारण है ? यदि ऐसा होता तो लोहेके तारोंमें ऐसा संव्यूहन लानेसे कपड़ा मिलता पर यह भी नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि संव्यूढ सूत कपड़ेके कारण हैं तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो कारणत्व पहिले असत् था वह सूत और संव्यूहनके योगसे उत्पन्न हो गया। यह तो असत्से सत्की उत्पत्ति हुई जो अमान्य है। यदि कहें कि न सूत कारण है न संव्यूहन वरन् दोनोंका योग कारण है और योग सत् है इसलिए कपड़े-की उत्पत्ति सत्से सत्की उत्पत्ति है तो भी काम नहीं चलता। पहिली बात यह है कि यदि योग सत् है तो उसका कारण क्या है ? प्रागभावके पहिले और प्रध्वंसाभावके बाद वह कहाँ रहता है ? फिर योग और कपड़ेमें पौर्वापर्य नहीं है। दोनोंका जन्म एक साथ होता है। यदि पहिले योगकी अनुभूति होती तो योगको कपड़ेका कारण कह सकते थे। अतः कपड़ेका कारण न सूत है, न संव्यूहन है, न सूत और संव्यूहनका योग है। कपड़ेका जन्म बिना कारणके होता है। परन्तु ऐसा माननेसे स्वपक्ष हानि होती है।

इन शङ्काओंकी निवृत्ति यों हो सकती है कि यह माना जाय कि प्रत्येक सूतमें वस्त्रकारणत्व है। कपड़ा वह द्रव्य है जिसका लक्षण है देह ढाँकना। जितना बड़ा कपड़ा होता है उतना ही बड़ा अंश देहका ढँकता है। देहके छोटेसे प्रदेशको सूत भी ढँक सकता है। जिस अवस्थामें वह ऐसा करता है उस अवस्थामें वह कपड़ा है। संव्यूहन कोई नयी वस्तु नहीं बनाता, सूतोंमें जो कपड़ारूपी कार्य पहिलेसे विद्यमान रहता है उसको व्यक्त कर देता है अर्थात् व्यक्त होनेका अवसर देता है। कपड़ा प्रत्येक सूतमें और सूतोंके समुच्चयमें समवेत है। यों भी कह सकते हैं कि रुईका ढेर, सूतोंका ढेर, कपड़ा वह धर्मपरिणाम हैं जिनकी अभिव्यक्तिमें कातने और बुननेकी क्रियाओंसे सहायता मिलती है। यह क्रियाएँ वह अवस्था उत्पन्न कर देती हैं जो इस प्रकारके धर्मपरिणामोंके अनुकूल होती है।

इस विमर्शका मथितार्थ यह निकला कि नियत पूर्ववर्तित्व और अविनाभाव इस बातका सूचक है कि असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं होती। जिसे कार्यद्रव्य या नया धर्म कहा जाता है वह कारणद्रव्य या धर्मोंमें पहिलेसे विद्यमान रहता है।

हम द्रव्याधिकरणमें द्रव्य और धर्मोंके विषयमें विचार कर चुके हैं। वहाँ हमने देखा है कि हमारे संवितोंके बाहर 'द्रव्य या धर्मोंकी कोई सत्ता नहीं है। कारणद्रव्य भी संविद्रूपी है और कार्यद्रव्य भी संविद्रूपी है, प्रत्येक धर्म भी संविद्रूपी है। संवितोंके होनेको हम बराबर निर्विवाद मानते आये हैं, परन्तु उनके बीचमें जो सम्बन्ध प्रतीत होते हैं वह बुद्धि-निर्माण हैं। सम्बन्ध जातीय होनेसे कारण-कार्यपरम्परा भी बुद्धिनिर्माण है। जब हम कारणकार्यकी बात करते हैं तो हम निश्चित रूपसे इतना ही कह सकते हैं कि अमुक संवित् अमुक संवित्के पहिले हुआ करता है।

हम पहिले कई बार कह आये हैं कि चेतोव्यापारका निमित्त द्रष्टाका भोग होता है। जिन संवितोंका प्रवाह निरन्तर जारी है उनमेंसे कुछ भोग-साधक, कुछ बाधक, कुछ उदासीन होते हैं। जो साधक होते हैं चित्त उनका संग्रह करना चाहता है, जो बाधक होते हैं उनको दूर रखना चाहता है। यदि दो संवितों या संवितोंके दो गुच्छोंमें एक-दूसरेसे बराबर पहिले आता हो तो वह उस दूसरेका प्रतीक या चिह्न-सा बन जाता है। भोग होगा या न होगा इसका पूर्वाभास मिल सकता है। इस प्रकार दो संवितों या संविद्गुच्छोंकी अनुभूतियोंके बीचमें जो प्रतीक्षा या एक प्रकारका तनाव चित्तमें रहता है वही उनके, या उन द्रव्योंके जिनके यह संवित् सूचक माने जाते हैं, बीचका कारण-कार्य-सम्बन्ध है। संवितोंमें अनुभूति-क्रम तो है; इसके अतिरिक्त, उनको भाँति-भाँतिकी सम्बन्ध-डोरोंमें बाँधना चित्तका काम है। इसी प्रकार वह उनको अधिकसे अधिक भोगोपयोगी बना सकता है।

७. दिक्स्वरूपाधिकरण

महाभूतोंमेंसे चारके सम्बन्धमें हम भूताधिकरणमें विचार कर चुके हैं।

पाँचवाँ भूत आकाश है। आकाश दिक्का नाम है। दिक्के सम्बन्धमें हम प्रथम खण्डमें कुछ विचार कर आये हैं। वह विचार अधूरा था। अब यहाँ हम उस सूत्रको फिर हाथमें लेते हैं।

आकाशको भूत भले ही कहा जाय, परन्तु उसमें और भूतोंके लक्षण नहीं मिलते। वह गुरुत्वहीन है। उसके परमाणु नहीं होते। बीचमें वस्तुओंके आ जानेसे आकाशके टुकड़ोंकी कल्पना की जा सकती है, पर यह विभाजन कल्पनामात्र है, क्योंकि इससे आकाशकी अखण्डतामें विघात नहीं होता। आकाश विभाजक वस्तुके पोर-पोरमें विद्यमान है, परमाणु-परमाणुके भीतर है। यह अखण्डता भी आकाशका विशेष लक्षण है। उसका दूसरी वस्तुओंसे अन्योन्याभाव नहीं होता। जहाँ और वस्तुएँ रहती हैं वहाँ आकाश होता है, जहाँ आकाश होता है वहाँ अन्य वस्तुएँ रह सकती हैं। अन्य भूतोंको आकाश अवकाश प्रदान करता है, जगह देता है, परन्तु आकाश आकाशमें रहता है ऐसा कहनेका कोई अर्थ नहीं है। साधारणतः हमको आकाशका ज्ञान संवित् रूपसे नहीं होता। 'साधारणतः' शब्दका प्रयोग इसलिए किया गया है कि शब्द और आकाशका एक विशेष अर्थमें सम्बन्ध है। उसका निर्देश हम एक-दूसरे अध्यायमें करेंगे। परन्तु यों हमको शब्द संवित्की उपलब्धि क्षेत वस्तुओंसे ही होती है। सब भौतिक वस्तुएँ आकाशमें ही होती हैं, सब भौतिक घटनाएँ आकाशमें ही घटित होती हैं इसलिए आकाशको भले ही भूत कहा जाय, किन्तु वह वायु आदि चतुर्भूतका सजातीय नहीं है।

हम पहिले खण्डमें देख चुके हैं कि चित्तपरिणाम कालगत होता है परन्तु भौतिक घटनाएँ दिक् और काल, उभयावच्छिन्न होती हैं। वहीं हमने यह भी देखा था कि व्यावहारिक काल दिक्में वास्तविक कालका प्रतिक्षेप है इसलिए उसे दिक्की ही एक दिशा मान सकते हैं। उस स्थल-पर ऐसा मान लिया गया था कि दिक्की पारमार्थिक सत्ता है। अब इस अभिसिद्धान्तकी विवेचना करनी होगी।

हमको दिक्का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसा कोई संवित् नहीं है जो

दिक्‌का संवित् कहा जा सके। हम वस्तुओंमें आयतन नामका लिङ्ग पाते हैं अर्थात् वस्तुओंमें लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई होती है। चूँकि हमको प्रत्येक वस्तुमें यह लिङ्ग मिलता है इससे बुद्धि ऐसा मानती है कि आयतन अर्थात् तीन ओर फैलाव वस्तुओंका स्वगत लक्षण न होकर उनपर किसी अन्य पदार्थने आरोपित किया है। चौकोर बोतलमें दूध, पानी, मदिरा, पारा जो द्रव पथार्थ पड़ेगा वह चौकोर प्रतीत होगा, गोल बोतलमें जो पदार्थ भरा जायगा उसकी आकृति गोल देख पड़ेगी। इससे यह कहा जाता है कि चौकोरपन या गोलाई बोतलमें है, न कि उसमें भरी वस्तुमें। इसी प्रकार जब सभी वस्तुएँ तीन दिशाओंमें फैली देख पड़ती हैं तो बुद्धिको ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ है जो तीन दिशाओंमें फैला हुआ है, सब वस्तुएँ उसीमें हैं इसलिए तीन दिशाओंमें फैली प्रतीत होती हैं। इस कुछको दिक् कहा जाता है, तीन दिशाओंमें फैलावके सिवाय इसके विषय-में और कुछ प्रतीत नहीं होता।

किसी सरल रेखापर हाथ फेरिये, किसी समतल, जैसे इस पृष्ठ, पर हाथ फेरिये, किसी ठोस वस्तु, जैसे बन्द बकस, पर हाथ फेरिये। बकसकी कोई भी कोर सरल रेखाका और उसका ढक्कन या पेंदा या चारमेंसे कोई भी दीवार समतलका काम दे देगी। सरल रेखापर एक प्रकारका स्पर्श मिलता है, समतलमें जहाँ-जहाँ कोनोंपर एकसे दूसरी रेखापर जाते हैं, दूसरे प्रकारका स्पर्श होता है, फिर सरल रेखावाला स्पर्श आता है, ठोस वस्तुमें कई कोने आते हैं, कई बार स्पर्श बदलता है। गोली वस्तुमें कोने नहीं होते फिर भी स्पर्श बदलता है। स्पर्शोंमें जो इस प्रकारके भेद प्रतीत होते हैं उनको हम वस्तुओंकी लम्बाई आदि नामसे अर्थात् दिक्‌के दिशाभेदके नामसे व्यक्त करते हैं। हम पहिले देख आये हैं कि द्रव्य बुद्धिनिर्माण है। संवित् चित्तमें होते हैं। स्पर्शसंवित्‌के इन भेदोंके आधारपर बुद्धिनिर्मित वस्तुओंमें प्रतीत होनेवाला आयतन लिङ्ग और उसके आधारपर कल्पित दिक् बुद्धिनिर्माण है। यदि शरीरसे स्पर्श न किया जाय तो वस्तुको देखनेके लिए आँख हिलानी पड़ती है। उसपर

आँख दौड़ानेसे कई प्रकारके रूपसंवित् और पुतलियोंको हिलानेमें मांसशियोंपर जोर पड़नेसे कई प्रकारके स्पर्शसंवित् मिलते हैं। श्रम करना होता है। ऐसी दशामें भी संवितोंके वैषम्यके आधारपर बुद्धि दिक्का निर्माण करती है।

हमको वस्तुओंमें दूरीकी प्रतीति होती है, इससे भी दिक्की कल्पना करते हैं। दूरीका अनुपात हम या तो उस कालसे या उस श्रमसे करते हैं जो एकसे दूसरीतक जानेमें लगता है। जहाँ पाँवसे नहीं चलते वहाँ एकसे दूसरीकी ओर सिर घुमाते हैं या आँख चलाते हैं। इस प्रकार भी दिक्की सिद्धि नहीं होती। वस्तुओंकी सत्ता संवित् मात्रतक परिसीमित है, यह हम देख चुके हैं। अपने प्रज्ञानोंकी जो अनुभूति होती है वह काल है, ऐसा प्रथम खण्डके छठें अध्यायमें प्रतिपादित हो चुका है। संवित् और काल, दोनों चित्तके भीतर हैं। चलने और चलनेके श्रमको भी हम संवित्के रूपमें ही जानते हैं। सिर हिलानेका भी संवित्के रूपमें ही बोध होता है। आँख हिलाना भी रूप और श्रममात्र है। अतः जिसे वस्तुओंकी दूरी कहते हैं वह संवितोंमें सम्बद्ध है। जिस प्रकार वस्तुएँ बुद्धिनिर्माण हैं उसी प्रकार उनकी दूरीके आधारपर कल्पित दिक् बुद्धिनिर्माण है।

हमको ऐसा प्रतीत होता है कि दिक्की सत्ता असन्दिग्ध है, क्योंकि जहाँ कोई वस्तु नहीं होती वहाँ रिक्त दिक्की अनुभूति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो वस्तुओंके बीचमें रिक्त दिक् है। ऊपर दृष्टि डालनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि तारे एक विशाल वितानमें जड़े हुए हैं। जहाँ तारे नहीं हैं वहाँ भी यह वितान है। इसी प्रकार हवाके पारदर्शक होनेसे वस्तुओंके बीचमें कुछ नहीं देख पड़ता पर यह 'कुछ नहीं' ऐसा है जिसमें नयी वस्तुएँ आ सकती हैं। इस प्रकार चित्तमें यह विचार आता है कि चारों ओर यह 'कुछ नहीं', यह 'वितान' फैला है। जहाँ-जहाँ वस्तुएँ आ गयी हैं वहाँ-वहाँ कुछ देख पड़ता है, रिक्त जगह भर जाती है। पर यह रिक्त जगह क्या है? या तो लम्बाई है या आयतन।

लम्बाई और आयतनके विषयमें हम विचार कर चुके हैं। दो वस्तुसूचक संवितोंके बीचमें जो विशेष प्रकारकी अनुभूतियाँ होती हैं उनके ही आधार-पर हम लम्बाई या आयतनकी कल्पना करते हैं। संवित् न होनेपर भी हम संवित्की कल्पना कर सकते हैं, इसलिए यदि एक वस्तुको देखनेके बाद दूसरी वस्तु न देख पड़े तब भी हम उस श्रम या स्पर्शकी कल्पना कर सकते हैं जिसका उसकी अनुभूतिके पहिले होना अनिवार्य है। इस कल्पनाके आधारपर चित्त सर्वव्यापी रिक्त दिक्की कल्पना करता है। दिक्में जहाँ वस्तु नहीं होती वहाँ वस्तुके होनेकी सम्भावना होती है।

हम वस्तुओंके दिग्गत भेदोंको ऊपर, नीचे, दाहिने, बायें, में, पर, बड़ा, छोटा जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं। हमको कुछ संवित् हुए : हमने कहा पुस्तक है। कुछ दूसरे संवित् हुए : हमने कहा मेज है। एक तीसरे प्रकारके संवित् हुए, जिनमें पिछले दोनों संवित् अन्तर्भूत हैं, पुस्तक और मेज दोनों हैं। एक चौथे प्रकारके संवित् हुए, इनमें भी प्रथम दोनों संवित् अन्तर्भूत हैं, पुनः पुस्तक और मेज दोनों हैं, परन्तु तीसरे और चौथे संवितोंमें भेद है, दोनों एक-से नहीं हैं। यदि दोनोंमें मेज और पुस्तक-सूचक संवित् सदृश हैं तो उनमें जो भेद है उसको चित्त सूचित वस्तुओंमें निक्षिप्त करके दिग्गत भेद मानता है। एक अवस्थामें पुस्तक मेजके ऊपर है, दूसरीमें मेजके नीचे है। इसी प्रकार दूसरे संविद्भेदोंसे दूसरे दिग्गत भेदोंका निर्माण होता है। संविद्भेद होते हैं इतना ठीक है, परन्तु वस्तुओंके दिग्गत भेद बुद्धिनिर्माण हैं। दिक्के द्वारा वस्तुओंमें सम्बन्ध स्थापित किया जाता है पर जब वस्तु ही नहीं है तो सम्बन्ध किस-किसमें होगा और कैसा होगा ?

गणित शास्त्रमें दिक्का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिक्की सत्ताको अभ्युगत किये बिना गणितका काम चल ही नहीं सकता। हम इस खण्डके पहिले अध्यायमें देख चुके हैं कि गणितमें कई अलीकोंसे काम लिया जाता है। उन अलीकोंमेंसे एक यह है कि वस्तुसे उसके लिङ्ग आहृत हो सकते हैं, अलग किये जा सकते हैं। गणित वस्तुओंको

छोड़कर उनके कुछ लिङ्गोंमें सम्बन्ध स्थापित करता है। यह कहा जा सकता है कि चार आम दो आमोंके दूने होते हैं, दो इञ्च लम्बी, दो इञ्च चौड़ी, दो इञ्च मोटी वस्तुकी अपेक्षा चार इञ्च लम्बी, चार इञ्च चौड़ी, चार इञ्च मोटी वस्तुका आयतन आठगुना होता है। संख्या वस्तुओंमें होती है, आयतन वस्तुओंमें होता है। संख्या और आयतन ऐसे बुद्धि-निर्माण हैं जिनके द्वारा संवितोंमें सम्बन्ध स्थापित होता है। परन्तु गणित शास्त्र कहता है कि चार दोका दुगुना है, चौंसठ घन इञ्च आठ घन इञ्चका आठगुना है। ऐसा कहना संख्याओं और आयतनोंमें, वस्तुओंके सम्बन्धोंमें, सम्बन्ध स्थापित करना है। त्रिभुजाकार, चतुरस्र, गोलाकार, अण्डाकार वस्तुएँ होती हैं। वस्तुविरहित आकृति नहीं हो सकती। मिस्रीकी चौकोर डली लीजिये। उसकी प्रत्येक कोर एक सरल रेखा है, परन्तु हम देख चुके हैं कि रेखा बुद्धिनिर्माण है। यदि डलीकी सारी मिस्री निकल जाय तो क्या बचेगा? वही कोरवाली रेखाएँ। वस्तु बुद्धिनिर्माण है, उसको परिमित करनेवाली रेखाएँ बुद्धिनिर्माण हैं, अतः आयतन बुद्धि-निर्माण है। गणित इस बुद्धिनिर्माण-युगलमेंसे एकको छोड़ देता है और केवल दूसरेको, जिसकी पहिलेसे अलग न सत्ता है न सार्थकता, ले लेता है। गणितज्ञ त्रिभुज आदि आकारवाली वस्तुओंको अपना विषय नहीं बनाता। वह त्रिभुज, चतुरस्र, अण्डाकृति आदिका ही अनुशीलन करता है। इन बुद्धिनिर्माणोंमें जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं वह दिक्के लिङ्ग माने जाते हैं। यह स्पष्ट है कि द्रविण प्राणायामके द्वारा जो लिङ्ग प्राप्त होते हैं वह बुद्धिनिर्माण हैं क्योंकि वस्तुएँ बुद्धिनिर्माण हैं, संख्या, आयतन, परिमाण बुद्धिनिर्माण हैं और स्वयं दिक् बुद्धिनिर्माण है। एक और बात है। गणित शास्त्र भी दिक्को अखण्ड मानता है। जब दिक् अखण्ड है तो उसके टुकड़े नहीं हो सकते। चतुरस्र दिक्, गोल दिक्, त्रिभुजाकृति दिक्का अस्तित्व नहीं है। यह सब दिग्वि-भाग अलीक हैं। परन्तु गणितज्ञ इन अलीकोंके लिङ्गोंको, अलीकोंके सम्बन्धोंकी खोज करता है और इस खोजके आधारपर अविभाज्य दिक्के

लिङ्गोंका निर्णय करता है। यह सब बुद्धिनिर्माण है परन्तु इसके बिना दृग्विषयों अर्थात् संवितोंके सम्बन्ध समझमें नहीं आते और संवितोंका उपयोग नहीं हो सकता।

गणित शास्त्र गतिका अनुशीलन करके भी दिक्के लिङ्गोंका परिचय पाता है, परन्तु गतिके आकुञ्चन, प्रसारण आदि जितने भी भेद हैं उनका तथ्य क्या है? एक वस्तु एक जगह प्रतीत होती है, फिर दूसरी जगह, इसको हम यह कहते हैं कि वह स्थानान्तरित हुई। दोनों स्थानोंके बीचमें दूरी है। वस्तुके प्रथम एक स्थान फिर दूसरे स्थानपर देख पड़नेको चित्त यों समझता है कि उसमें गति हुई, इस गतिके कारण वह स्थानपरिवर्तन कर सकी। हमको गतिका प्रत्यक्ष नहीं होता, गतिसूचक कोई पृथक् संवित् नहीं होता। वस्तुका ही प्रत्यक्ष होता है। उसके स्थानान्तरित होनेसे बुद्धि गतिकी कल्पना करती है और स्थानोंके बीचकी दूरी तथा कालको मिलाकर गतिवेगकी गणना की जाती है। गणित वस्तुको छोड़ देता है, दूरी, काल और गतिको ले लेता है।

हम इसी प्रकरणमें देख चुके हैं कि लम्बाई या दूरी बुद्धिनिर्माण है। वस्तु स्वयं बुद्धिनिर्माण है। पर यह निर्विवाद है कि संवित् होते हैं। जिस प्रकार दो स्थानोंमें दो वस्तुओंके संवित् होते हैं उसी प्रकार दो स्थानोंमें एक वस्तुका संवित् हो सकता है। क्रमागत दोनों संवितोंमें जो सादृश्य है उसके आधारपर हम उनको एक ही वस्तुका सूचक मानते हैं, जो वैषम्य है उसके आधारपर स्थानान्तरित होनेकी कल्पना करते हैं। इन बुद्धि-निर्माणोंमें सम्बन्धरूप जो गति आरोपित होती है और गतिके आधारपर दिक्के जिन लिङ्गोंका परिचय मिलता है उनकी सत्ता भी बुद्धिनिर्माण-मात्र है।

विज्ञानकी उन्नतिके फलस्वरूप नये यन्त्रोंका निर्माण होता है। यह यन्त्र हमारे जगत्का विस्तार बढ़ा देते हैं, हमारे अनुभूति-क्षेत्रमें नयी वस्तुओंको ले आते हैं। साधारण मनुष्य अपनी आँखसे लगभग ३००० तारोंको एक समय देख सकता है। आज यन्त्रोंकी सहायतासे यह कहा

जाता है कि कमसे कम $१०^{११}$ नीहारिकाएँ हैं जिनमेंसे प्रत्येकमें कमसे कम $१०^{११}$ तारे हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तारोंकी संख्या कमसे कम $१०^{२२}$ है। इस अङ्कको लिखनेके लिए १ के बाद बाईस शून्य देने पड़ेंगे। पुराने ज्योतिषीको उन थोड़से तारों और ग्रहोंकी गतिविधि समझनी थी जो आँखसे देख पड़ते थे। आजसे चार-पाँच सौ वर्ष पहिलेतक जो यन्त्र बने थे उनकी शक्ति अधिक न थी, इसलिए उनसे जगत्का विस्तार बहुत नहीं बढ़ा। उसका अनुशीलन करके न्यूटनने आकर्षण-सिद्धान्त निकाला। उन्होंने बतलाया कि प्रत्येक भौतिक वस्तु प्रत्येक दूसरी भौतिक वस्तुको अपनी ओर आकृष्ट करती है। उन्होंने इस पारस्परिक खिंचावको नापनेके लिए सूत्र भी निकाला। आज आकर्षण-सिद्धान्त अपूर्ण प्रतीत होने लगा है। जैसा कि हम पहिले कह आये हैं, ऐसा जान पड़ता है कि नीहारिकाएँ एक-दूसरीकी ओरसे हटती जा रही हैं। यदि दो नीहारिकाओंके बीचमें एक मीगा पार्सेककी[1] दूरी हो तो वह एक-दूसरेसे पाँच सौ अट्ठाईस किलोमीटर[2] प्रति सेकण्डके वेगसे दूर भागती प्रतीत होती हैं। यह नये प्रकारका अनुभव हुआ। यदि आकर्षण-सिद्धान्त सच्चा हो तो नीहारिकाओं-को क्रमशः पास आते जाना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक वस्तुओंमें दो विरोधी शक्तियाँ काम करती हैं। एक साथ ही आकर्षण और विकर्षण होता है। यह कई परिस्थितियोंपर निर्भर करता है कि दोनोंमें कौन बलवती पड़ जायगी। नीहारिकाओंके भीतर नक्षत्र, सौर मण्डलके भीतर ग्रहोपग्रह, पृथिवीपर छोटे-बड़े पिण्ड, सबको आकर्षण थामे हुए है। अन्यथा एक-दूसरेसे कबके दूर हो जाते। उधर नीहारिकाओंको विकर्षण दूर करता जा रहा है और ज्यों-ज्यों दूरीके बढ़नेसे आकर्षण दुर्बल पड़ता जाता है त्यों-त्यों उनको और दूर करता जायगा। होते-होते कभी ऐसी अवस्था आ जायगी कि दूरी बढ़ते-बढ़ते इतनी हो जायगी कि

१. मीगा पार्सेक = ३२,६०,००० ज्योतिर्वर्ष। प्रकाशकी किरण १ सेकेण्डमें ९३,००० कोस चलती है। वह एक वर्षमें जितना चलेगी उसको ज्योतिर्वर्ष कहते हैं। २. किलोमीटर=लगभग $\frac{1}{2}$ कोस।

एकका दूसरीपर कोई प्रभाव न पड़ सकेगा; न आकर्षण काम कर सकेगा, न विकर्षण। उस दिन इस प्रकारकी गतिका अन्त हो जायगा।

जगत्में विकर्षणशक्तिके अन्तर्निवेशमात्रसे गणितका काम नहीं चला। ऐसा मानना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि पहिले दिक् अर्थात् समस्त भौतिक जगत् छोटा था। इस समय वह बढ़ रहा है। बढ़नेके वेगका परिमाण इस बातसे जाना जा सकता है कि १ अरब ३० करोड़ वर्षोंमें उसका व्यासार्द्ध दूना हो जाता है। इस समय व्यासार्द्ध कितना है यह अभी ठीक नहीं कहा जा सकता, परन्तु जिस समय दिक्ने बढ़ना आरम्भ किया उस समय उसकी लम्बाई १ अरब ६ करोड़ ८० लाख ज्योतिर्वर्ष थी। जिस समय नीहारिकाएँ एक-दूसरीसे इतनी दूर हो जायँगी कि उनमें न आकर्षण काम करेगा न विकर्षण, उस समय दिक्का बढ़ना भी बन्द हो जायगा।

यह अङ्क इस समयके हैं, अभिसिद्धान्त भी इस समयके हैं। सम्भवतः नये यन्त्रोंके बननेपर या विद्यमान यन्त्रोंकी सहायतासे नयी खोज होनेपर यह बातें पुरानी हो जायँगी। जिस प्रकार न्यूटनके मतमें आइंस्टाइनने संशोधन किया है उसी प्रकार स्यात् आइंस्टाइनके मतका भी संशोधन करना होगा।

इन सब विचारोंका आधार नीहारिकाओंकी गति है। गतिका अनुमान इस बातसे होता है कि हमारे उनके बीचकी दूरी बढ़ती जा रही है। नीहारिकाओंकी सत्ताका प्रमाण यह है कि वह हममें सीधे या यन्त्रोंके माध्यमसे संवित् उत्पन्न करती हैं। हमको उनसे रूपसंवित्की उपलब्धि होती है। उनके दूर हटनेका अनुमान इस बातसे होता है कि उनसे आया हुआ जो प्रकाश हमारे यन्त्रोंपर पड़ता है उसमें कुछ अन्तर पड़ता प्रतीत हो रहा है। यह अन्तर ऐसा है जो इसी प्रकार समझमें आ सकता है अर्थात् ऐसा ही माननेसे समझमें आ सकता है कि नीहारिकाएँ दूर हटती जा रही हैं। नीहारिकाओंका दूर हटना तब समझमें आ सकता है जब विकर्षणकी शक्तिकी सत्ता स्वीकार की जाय और यह माना जाय कि

दिक् बढ़ रहा है। प्रकाशके अन्तरको नापनेसे विकर्षण और दिग्वृद्धिकी गणना की जा सकती है।

नीहारिकाओंकी सत्ता संवित् मात्र है। प्रकाशमें अन्तर पड़नेका अर्थ हुआ रूपसंवित्में वैषम्य। माना कि वैषम्य धीरे-धीरे बढ़ रहा है परन्तु संवित् और वैषम्य दोनों चित्तमें हैं। इनमें सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए आकर्षण, विकर्षण, गति, दिग्वृद्धि यह सब बुद्धिनिर्माण हैं। अपने संवितों-को सम्बद्ध करनेके लिए चित्त दिक् और उसके लिङ्गोंका निर्माण करता है।

यही बात उस छोटे जगत्के लिए लागू है जो हमको लघुकाय भौतिक पिण्डोंमें मिलता है। परमाणुओं और उनके भीतर विद्युत्कणोंकी गतिविधिको देखकर भौतिक विज्ञानको दिक्के सम्बन्धमें कुछ बातें माननी पड़ती हैं। परन्तु परमाणु और विद्युत्कण भी संवित्से अभिन्न हैं इसलिए वह जिस दिक्में हैं वह भी बुद्धिनिर्माणमात्र है।

ठीक यही शब्द उस माध्यम दिक्के लिए कहे जा सकते हैं जिसमें हम अपनेको पाते हैं, जिसमें हमारा जीवन साधारणतः बीतता है। हमको सैकड़ों वस्तुओंकी अनुभूति होती है अर्थात् बराबर शब्दादि संवित् होते रहते हैं। इन संवितोंको सम्बद्ध करनेके लिए वस्तुओंकी कल्पना होती है, अनेक प्रकारके कम्पनों और लहरोंकी कल्पना होती है और इनके लिए माध्यमकी कल्पना होती है। शब्दके लिए तो भौतिक माध्यम काम देते हैं, रूपानुभूति समझनेके लिए दिक्के अनेक लिङ्गोंकी कल्पना की जाती है जो गणित शास्त्रके विषय हैं। यह कहना अनावश्यक होना चाहिये कि यह सब बुद्धिनिर्माण है। जब दिक्का अभाव है तो 'सर्वव्यापक' शब्द निःसार हो जाता है और उपमानकी असत्ताके कारण किसीको आकाशवत् विभु कहना निरर्थक हो जाता है।

८. मनोराज्याधिकरण

हमने इस अध्यायमें कई महत्त्वपूर्ण विषयोंपर विचार किया है। जो कोई इन अधिकरणोंपर गम्भीरतासे मनन करेगा उसके चित्तमें स्वभावतः

यह प्रश्न उठेगा कि जगत्में क्या बच गया है जो बुद्धिनिर्माण नहीं है? अभी अस्मदंशके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा गया है, परन्तु ईश्वर, चतुर्भूत, मूलभूत, दिक्, कारण-कार्य-शृङ्खला, गति, जब यह सब मनःप्रसूति हैं तो फिर जगत्के युष्मदंशमें अवशिष्ट क्या रहा? अपने शरीरकी सत्ता भी तो हम संवितोंके आधारपर ही मानते हैं। वह संविद्भिन्न नहीं है। दूसरे जीवोंकी सत्ताका एकमात्र प्रमाण दूसरे शरीरोंकी चेष्टाएँ हैं। पर यह दूसरे शरीर मेरे लिए संवितोंके सिवाय और क्या हैं? तो फिर मेरे सिवाय दूसरे जीव, दूसरे चेतन हैं—इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। दर्शनका विद्यार्थी यह मानकर चला था कि उसके चित्तके बाहर विशाल जड़-चेतनात्मक जगत् है जिसका कुछ-कुछ परिचय उसको अपने संवितोंके द्वारा मिल जाया करता है। मनन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि संवितोंके बाहर इस विशाल बाह्य जगत्की कहीं सत्ता नहीं है। युष्मत् सिमिटकर चित्तके भीतर आ गया, उसका प्रतीयमान रूप मनोराज्यमात्र रह गया।

संवितोंपर बहुत बड़ा बोझ है। संवित् होते हैं यह तो निर्विवाद है, पर उनमें नानात्व किस प्रकार होता है, इस विषयमें जिज्ञासा होती है। उनके नानात्वपर प्रतीयमान जगत्का नानात्व, युष्मत्की प्रतीति, निर्भर है।

तीसरा अध्याय

आत्मा

दूसरे अध्यायके अन्तमें हम इस परिणामपर पहुँचे कि युष्मत् प्रपञ्च मनःप्रसूति है। अब हमको जगत्के दूसरे अङ्ग अर्थात् अस्मत्के सम्बन्धमें विचार करना है।

अस्मत्के विषयमें विद्वानोंके अनेक प्रकारके मत हैं और इनमेंसे कई मत एक-दूसरेके विरोधी हैं, परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि अस्मत् चेतन, चेतनाविशिष्ट, है। चेतन होना ही अस्मत्का अस्मत्पन है। ज्ञातृत्व, द्रष्टा होनेकी सामर्थ्यको चेतना कहते हैं। ज्ञातृत्वके साथ भोक्तृत्व और कर्तृत्व भी विवक्षित हैं। चेतनाकी सत्ता निर्विवाद है। जो वासनाओं, सङ्कल्पों, संवितोंका आस्पद है वह चेतन है, उसके इस आस्पद-भावका नाम चेतना है। चेतनके कई नामोंमेंसे एक नाम आत्मा है। हम अब इसी नामसे काम लेंगे। इस प्रसंगमें जीव शब्द भी आता है। उसपर पीछे विचार होगा। आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें जो विभिन्न मत हैं उनमेंसे दो-तीन विशेष महत्त्व रखते हैं। उनकी विवेचना करनेसे ही आत्मस्वरूप समझमें आ सकता है।

साधारण मनुष्यकी यह धारणा है कि वह चेतनायुक्त है। वह ऐसा मानता है कि उसका चेतनांश शरीरसे भिन्न है। उसके पृथक् हो जानेपर शरीर मृत हो जाता है, उसमें शब्दादि संवितोंके ग्रहण करनेकी, शीतोष्ण-की अनुभूतिकी, रागद्वेषसे उद्विग्न होनेकी सामर्थ्य नहीं रह जाती। आत्मा 'मैं' है, और सब कुछ—वासना, सङ्कल्प, संवित्, प्रत्यक्ष, शरीर—'मेरा' है। 'मेरा' घटता-बढ़ता रहता है; शरीर छोटेसे बड़ा होता है, उसका कभी-कभी अङ्गच्छेद हो जाता है; जगत्में व्यवहारसे, शिक्षासे,

मननसे ज्ञानमें वृद्धि होती है; वयोभेदसे तथा वाहरी परिस्थितियोंके भेदसे वासनाओंके रूप वदलते रहते हैं; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें शरीर और चित्तकी अवस्था एक-सी नहीं रहती। परन्तु इन सब परिवर्तनोंके बीचमें 'मैं' ज्योंका त्यों रहता है, उसमें कोई वृद्धि, ह्रास या परिवर्तन नहीं होता। शरीरमें चाहे जहाँसे आया हो, शरीरको छोड़कर चाहे जहाँ जाता हो, पर जवतक रहता है तवतक स्वामी वनकर रहता है। शरीर 'मेरा' शरीर है, चित्त 'मेरा' चित्त है, शरीर और चित्त दोनों 'मेरे' लिए हैं, 'मेरे' भोगके उपकरण हैं। यह 'मैं' क्या और कैसा है ?

१. देहात्मवादाधिकरण

इस मतका आंशिक विचार हम इस खण्डके दूसरे अध्यायके भूत-वादाधिकरणमें कर आये हैं। इसके कई अवान्तर भेद हैं, पर उन सवका निष्कर्ष यह है कि आत्मा देहका धर्म है। कोई यह कहता है कि देहकी एकीभूत जीवनक्रियाका नाम जीव है। मनुष्यके शरीरमें कई करोड़ छोटे जीवकोष हैं। प्रत्येक जीवकोष सत्त्वमूलका विन्दु है। सव कोष जीवित हैं। रक्तमेंसे छनकर उनके भीतर भोजन जाता है और इसी प्रकार छनकर मल निकल जाता है। जिस क्रियाके द्वारा कोष अपनेको जीवित रखता है अर्थात् भोजन ग्रहण करता है, मलको विसर्जित करता है, तापमानको ठीक रखता है और साँस लेता है उसको जीवनक्रिया या जीवन कह सकते हैं। इन सव जीवनव्यष्टियोंकी समष्टि समस्त शरीरका जीवन है। एक धानके छिलकेमें लगी आग दमभरमें नष्ट हो जाती है और उसका ताप-मान भी वहुत कम होता है परन्तु छिलकोंके ढेरमें आग लगा देनेसे ताप-मान कई गुना वढ़ जाता है और आँच तथा चमक देरतक रहती है। यही सम्बन्ध कोषजीवन और देहजीवनमें है। देहजीवनसे हमको प्रकाशकी भाँति चेतना नामके धर्मकी उपलब्धि होती है। कोषोंके विखर जानेपर इसका लोप हो जाता है।

यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो कोषोंके योगके पहिले आत्माका अभाव था इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि देह आत्माके

भोगसम्पादनका साधन है। पर देहकी बनावट कोषोंके आकस्मिक ढेर जैसी नहीं है। प्रत्येक अवयव प्रत्येक दूसरे अवयवको ध्यानमें रखकर बना प्रतीत होता है। जब बच्चा गर्भमें कललरूपमें होता है तबसे ही यह बात स्पष्ट होने लगती है। देहका विकास किसी पूर्वनिश्चित आलेख्यके अनुसार होता देख पड़ता है। हाथ, पाँव, मुँह, पेट, फेफड़े, हृदय, सुषुम्ना, मस्तिष्क, सब एक-दूसरेके साथ-साथ बढ़ते हैं, सब इस प्रकार बने हैं कि एकको दूसरेकी अपेक्षा है। तभी शरीर अयुतसिद्धावयवसंघात है। एक और बात है। इस संघातपर दृष्टि डालनेसे ही यह विदित हो जाता है कि भोगोपयोगी है। आँख-कान-नाक वस्तुकी सत्ता और उसके स्थानको जाननेके लिए, पाँव उसके पासतक जानेके लिए, हाथ उसे पकड़नेके लिए, पेट उसे पचानेके लिए, नाड़ियाँ इन्द्रियों और मांसपेशियोंके कामको एकतन्त्र करनेके लिए, रक्त सर्वत्र भोजन पहुँचानेके लिए—सब अवयव एक-दूसरेके सहायक हैं और इस सहायताके फलस्वरूप भोगकी सिद्धि हो सकती है। परन्तु यह सब आयोजन किसके भोगके लिए है ? प्रत्येक अवयवमें, प्रत्येक कोषमें, जो 'कुल' विद्यमान है, जो इन सबको एक सूत्रमें बाँधे हुए है, वह इनके बादका नहीं हो सकता, इनके योगका परिणाम भी नहीं हो सकता है। जब बच्चेका शरीर सत्त्वमूलक छोटा-सा बिन्दु था तब भी यह पदार्थ उसके साथ बीज-रूपमें रहा होगा। वह बिन्दु भी जीवित था। वह माँके शरीरसे भोजन लेता था, मल छोड़ता था, छोटेसे बड़ा हुआ, उसकी इस प्रकार सन्तति हुई कि उसमेंसे टूटकर दो बिन्दु निकले; इसी प्रकार उन बिन्दुओंकी सन्तति-परम्परा चली, यहाँतक कि उन सबका समूह इस रूपमें आया कि उसे मनुष्यका शरीर कह सकें। उसमें चेतना थी, क्योंकि गरम-ठण्डे स्पर्शोंका, प्रकाशका उसपर प्रभाव पड़ सकता था। ज्यों-ज्यों शरीरका विकास हुआ त्यों-त्यों चेतनाका भी विकास हुआ। असत्से सत् नहीं होता। देहके प्रत्येक कोषमें जो जीवन है वह सत्त्वमूलके उस आदिबिन्दुके जीवनसे निकला है, इसी प्रकार देहमें इस समय जो चेतना है वह उसी चेतनाका विकसित रूप है जो

उस विन्दुमें थी। ऐसा माननेसे कि आत्मा—चेतन पदार्थ—देहके मूल-रूपके साथ थी और उसीके भोगके अनुकूल देहका विकास होता है, अव-यवोंका विशेष प्रकारसे सम्बद्ध होना सुगमतासे समझमें आता है। जैसा चेतन है, जैसी उसकी वासनाएँ होनेवाली हैं और उनकी तृप्ति अर्थात् भोगका जैसा स्वरूप होनेवाला है, वैसा ही शरीर बनता है।

ऐसा माननेसे एक और अड़चन भी दूर होती है। यदि आत्माको जीवनका पर्याय माना जाय और यह कहा जाय कि कोषसमष्टिका सम्मि-लित जीवन आत्मा है तो प्रश्न यह होगा कि कोषोंके जीवन एकमें मिलते कैसे हैं और उनमें यह 'मैं'की प्रतीति कैसे होती है? यदि किसी जगह बहुत-से मनुष्य एकत्र हों और मिलकर कोई काम कर रहे हों तब भी उनके चेतनांश नहीं मिलते। हम सुभीतेके लिए उनको वर्ग, पूग, कक्षा, सेना, समिति, चाहे जो कहें, परन्तु प्रत्येकका व्यक्तित्व अलग रहता है। जो समूहका निर्णय कहलाता है वह या तो प्रत्येक व्यक्तिका निर्णय होता है या बहुसंख्यकोंका, परन्तु उभय दशामें प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्मतिको जानता है। सब एक-सा ही काम करते भले ही देख पड़ें, परन्तु उस कामके पीछे प्रत्येकका पृथक् सङ्कल्प होता है। किसी भी दशामें सामूहिक चेतनका जन्म नहीं होता। अतः ऐसा माननेके लिए कोई आधार नहीं है कि कोषोंके मिलनेसे वह पदार्थ उत्पन्न हो जाता है जिसको आत्मा कहते हैं, जो अपनेको 'मैं' कहकर व्यक्त करता है, जिसके सङ्कल्प और वासनाओंसे प्रत्येक कोष परिचालित हो रहा है।

देहात्मवादका एक रूप यह है कि चेतन देहका धर्म है। जिस प्रकार विशेष मात्राओंमें गन्धक, हाइड्रोजन और आक्सिजनके परमाणुओंके मिलनेसे गन्धकका तेजाब नामक द्रव्यकी उत्पत्ति होती है जिसमें एक विशेष प्रकारका नया दाहक धर्म पाया जाता है, उसी प्रकार विशेष मात्राओंमें कार्बन, आक्सिजन, हाइड्रोजन, गन्धक, नाइट्रोजन और फास्फरसके परमाणुओंके मिलनेसे एक विशेष अपूर्व धर्मकी अनुभूति होती है जिसे चेतना कहते हैं। पानमें जो अपूर्व स्वाद है वह पत्ते, चूने,

कत्थे और सुपारीमेंसे किसीमें नहीं है। यदि चेतना सत्त्वमूलका ऐसा धर्म हो तो शरीर और चेतनाका साथ-साथ विकास होगा। यह भी हो सकता है कि अन्य मिश्र द्रव्योंकी भाँति रासायनिक प्रयोगशालामें सत्त्वमूल बनने लगे और उसमें चेतनाकी उपलब्धि हो।

यह मत पहिले मतकी कई कठिनाइयोंको तो दूर करता है, परन्तु इससे भी सब अड़चनें समाप्त नहीं होतीं। गन्धकका तेजाब सब एक-सा होता है। इसी प्रकार मानव सत्त्वमूल सब एक-सा होना चाहिये, क्योंकि कार्बन, गन्धक आदिके परमाणु सब एक-से होते हैं। ऐसी दशामें मानव-सत्त्वमूलमें एक ही प्रकारका धर्म होना चाहिये। सब शरीरोंका विकास भी एक ही ढंगसे होना चाहिये, सबमें चेतनांश भी एक-सा होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। शारीरिक भेदोंको जाने दीजिये, चैत्त भेदोंको ही लीजिये। यह भेद अंशतः देश, काल, शिक्षा, संस्कृति, आर्थिक स्थिति, आदिके कारण होते हैं, पर यह सब मिलकर भी वासना और बुद्धि-वैषम्य-को पूरा-पूरा नहीं समझा सकते। किसीकी प्रवृत्ति बचपनसे ही गणितकी ओर होती है, किसीकी संगीतकी ओर; कोई विचारशील होता है, कोई युद्धप्रिय। शिक्षादिके भावाभावसे इन प्रवृत्तियोंको पनपनेका अवसर मिलता है या बाधा पड़ती है, परन्तु प्रवृत्ति सहजा होती है। लाख प्रयत्न करनेपर भी किसीमें प्रतिभा या दूरदर्शिता या संयमशीलताका सन्निवेश नहीं किया जा सकता। यदि चेतना सत्त्वमूलका धर्ममात्र होती तो यह वैषम्य न होना चाहिये था। सत्त्वमूल और चेतनाका साहचर्य देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा पहिलेसे थी। उसमें वासनाएँ थीं, योग्यताएँ थीं, पर वासनाओंकी तृप्ति और योग्यताओंके उपयोगके अनुकूल साधनकी आवश्यकता थी। यह साधन सत्त्वमूलसे बना शरीर होता है। जब, जहाँ कहीं, उसको सत्त्वमूल मिलता है उसमें प्रवेश कर जाती है। सत्त्वमूलका बनना और उसमें चेतनका प्रवेश युगपत् होते हैं। ऐसा मानने-से यह बात समझमें आ जाती है कि रासायनिक दृष्टिसे एक ही प्रकारके सत्त्वमूलमें जो चेतन पाये जाते हैं उनमें क्यों न्यूनाधिक भेद होता है।

यदि भेद बहुत हो तो सत्त्वमूल भी दूसरे प्रकारका होना चाहिये। यह बात वैज्ञानिक प्रयोगसे देख भी पड़ती है। पशु-पक्षी-कीट, सबके शरीर सत्त्वमूलके ही बने हैं, परन्तु इन सत्त्वमूलोंमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है। एक प्राणीका सत्त्वमूल दूसरेसे नहीं मिलता। ओषधियों और वनस्पतियोंके शरीर भी सत्त्वमूलसे ही बने होते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि उनमें भी कुछ-न-कुछ चेतना होती होगी।

हम देखते हैं कि देहात्मवादसे काम नहीं चलता। उसको माननेमें कई अड़चनें पड़ती हैं। इनपर विचार करनेपर हमको विवश होकर यह मानना पड़ता है कि आत्मा देहका धर्म नहीं है प्रत्युत उसकी स्वतन्त्र सत्ता है जो देहसे योग होनेके पहिले भी थी।

देहात्मवादके विषयमें एक और दृष्टिसे भी विचार हो सकता है। हम उसकी ओर द्वितीय अध्यायके भूतवादाधिकरणमें संकेत कर चुके हैं। वहाँ हमने जो कहा था उसका तात्पर्य यह है कि भौतिक होनेसे देह दृश्य है, अत उसे द्रष्टाकी अपेक्षा होती होती है। द्रष्टाके पहिले दृश्य नहीं हो सकता, अतः चेतनके पहिले देह नहीं हो सकती। फिर, देहकी सत्ता वहीं तक है जहाँतक चेतन उसे संवित् रूपसे जानता है। देह चेतनपर अवलम्बित है अतः उसका कारण नहीं हो सकती। कुछ भूतवादी ऐसा नहीं मानते कि भूत चेतनपर अवलम्बित है। वह कहते हैं कि भूतमें दृश्य-योग्यता है, वह दृश्य हो सकता है, पर यह आवश्यक नहीं है कि नित्य दृश्य हो। यदि चेतनका सान्निध्य हुआ तो दृश्य हो जायगा। अपने स्वभावकी अन्तःप्रेरणासे अनेक अवस्थाओंमें परिणत होता हुआ मूलभूत ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुआ जिससे उसमें चेतना धर्म उदय हुआ। उसी समय वह दृश्य हो गया। चेतनाके आनेके बाद जो पदार्थ अबतक जड़ भूत था वह ज्ञाता और ज्ञेय दोनों हो गया। फिर देह-देहीका उस क्रमसे विकास हुआ जिसकी रूपरेखा डार्विन और उनके अनुयायियोंने बतायी है।

भूत द्रव्य है अतः उसकी सत्ता चेतनापेक्षी ही है। इसको प्रमाणित

करनेके लिए हमको पिछले अध्यायका सारा द्रव्याधिकरण यहाँ अवतरित करना होगा। यह प्रयास अनावश्यक है। संवितोंसे अलग न भूतकी सत्ता है न उस दिक्‌की, जिसमें अदृश्यावस्थामें भूतका रहना भूतवादी मानता है। जड़से चेतनकी उत्पत्ति भी बुद्धिग्राह्य नहीं है। परमाणुओंके योगसे सहस्रों प्रकारके मिश्र द्रव्य बनते हैं और इन सबमें नये लिङ्ग होते हैं। परन्तु इन सबमें एक समानता होती है: यह किसी-न-किसी इन्द्रियके विषय होते हैं। एकसे एक भिन्न रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श उदय होते हैं, पर यह सब इन्द्रियोंके विषय हैं। गन्धकके तेजाबमें जो दाहकता है वह न गन्धकमें प्रतीत होती है, न हाइड्रोजनमें, न आक्सिजनमें; नमकका स्वाद न सोडियम धातुमें है, न क्लोरीनमें; मिट्टीके तेलकी दुर्गन्ध न कार्बनमें है, न हाइड्रोजममें, न आक्सिजनमें। परन्तु यह सब धर्म नितान्त अपूर्व नहीं हैं। दाहकता, नमकीन स्वाद, दुर्गन्ध, स्पर्श, रस और गन्धके ही भेद हैं और यह ऐसे धर्म हैं जो गन्धकादि तत्त्वोंमें पहिलेसे विद्यमान थे। परन्तु चेतना सचमुच अपूर्व है क्योंकि उसका संवित् नहीं होता। कोई ऐसी इन्द्रिय नहीं है जो चेतनाका ग्रहण करती हो। मैं किसी भूतसङ्घातकी चेष्टाओंको देखकर यह अनुमान भले ही कर लूँ कि इसके भीतर चेतना है यद्यपि ऐसे यन्त्र और खिलौने भी बनाये जा सकते हैं जो दूरसे चेतनवत् आचरण करते प्रतीत हों, परन्तु अनुमानके सिवाय चेतनको जाननेका कोई और साधन नहीं है। इस अनुमानका आधार यह है कि उस संघातकी चेष्टाएँ मेरी चेष्टाओंके सदृश हैं और मैं अपनेको चेतन जानता हूँ। कहनेका तात्पर्य यह है कि चेतना इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिए यदि जड़ भूतमें चेतनाका उदय हुआ तो वस्तुतः असत् सत् हो गया जो अमान्य है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि भूत अन्धेकी भाँति लुढ़कता हुआ अकस्मात् चेतनाको प्राप्त कर बैठा।

दो शब्द विकासक्रमके सम्बन्धमें कहना अप्रासङ्गिक न होगा। सत्त्वमूलमें चेतना कहाँसे आयी इस विषयमें डार्विनका कोई आग्रह नहीं है। उनके सिद्धान्तका सार यह है कि प्रत्येक जीवित पिण्डमें दो प्रवृत्तियाँ

काम करती हैं। यह वह प्रवृत्तियाँ हैं जिनका उल्लेख हम पुस्तकसे आरम्भमें अर्थ और कामके नामसे कर आये हैं : मैं न मरूँ और सन्तति छोड़ जाऊँ। छोटे प्राणी अपनी प्रवृत्तियोंको पहिचानते न होंगे पर उनकी चेष्टाओंसे प्रवृत्तियोंका होना जाना जा सकता है। भीतरसे इन प्रवृत्तियोंकी प्रेरणा, बाहरसे भोजनादि परिस्थितियोंका निरन्तर प्रहार—इन दोनों दिशाओंसे आनेवाले प्रभावोंके कारण शरीरोंका और उनके साथ-साथ चेतनाका विकास होता है। विकासक्रम सत्त्वमूलके बूँद जैसे प्राणियोंसे आरम्भ हुआ और इस समय मनुष्यतक पहुँचा है। आगे कहाँ जायगा यह नहीं कहा जा सकता। हमको इस मतसे कोई विरोध नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसको माननेवाले बाहरी परिस्थितियोंको कुछ अनुचित महत्त्व देते हैं। परिस्थितियोंके थपेड़े अर्द्ध-सुप्त चेतनको जगानेका काम करते हैं। वह नयी परिस्थितिके अनुकूल व्यवहार करना चाहता है, पुराने ढङ्गके व्यवहारसे तृप्ति नहीं होती, भोग अपूर्ण रह जाता है या प्राप्त ही नहीं होता। इस अवस्थामें मृत्यु और सन्तानोच्छेदसे बचनेके लिए चेतनकी सोयी शक्तियाँ जागती हैं, वह नयी परिस्थितिके अनुसार काम करनेमें सक्षम हो जाता है। जबतक ऐसा नहीं हो पाता तबतक बेचैनी रहती है। इस मतसे डार्विनवादमें थोड़ा-सा संशोधन हो जाता है, परन्तु प्राणिविकासक्रम-सम्बन्धी कई बातें अधिक सुगमतासे समझमें आ जाती हैं। इसमें यदि कोई विशेषता है तो इतनी कि एक तो चेतनमें आरम्भसे ही बीजरूपसे वह सभी योग्यताएँ मानी जाती हैं जो लाखों वर्षोंमें विकसित हुई हैं, दूसरे चेतनको सक्रिय माना जाता है। वह परिस्थितिको ग्रहण करने और तदनुकूल व्यवहार करनेके लिए स्वयं भीतरसे जोर लगाता है, क्योंकि उसको निरन्तर भोग चाहिये। यह सक्रियता चेतनमें तभी पायी जा सकती है जब वह शरीरका धर्ममात्र न हो, वरन् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता हो।

देहात्मावादीका एक तर्क और रह गया है। शरीरका प्रभाव चेतनपर पड़ता है यह विवादका विषय नहीं हो सकता। कम या बुरा भोजन

मिलनेसे, किसी अङ्गमें व्यथा होनेसे, चेतनमें भी परिवर्तन होता है। नाडि-संस्थानको चोट लगनेसे इन्द्रियव्याघात होता है, बुद्धि दुर्बल पड़ जाती है, मनुष्य पागल हो जाता है। इससे यह अनुमान होता है कि चेतन देहका धर्म है। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि यह अनुमान ठीक नहीं है। इन सब दशाओंमें चेतना बनी रहती है, परन्तु जिन साधनोंसे वह काम लेती है वह बिगड़ जाते हैं। इसलिए यथार्थ संवित् नहीं होते, अध्यवसाय नहीं होता, प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए यथास्थिति निर्णय नहीं हो सकता, तर्क नहीं हो सकता, सङ्कल्प नहीं हो सकता; जो सङ्कल्प होता है वह कार्यान्वित नहीं होता। नाडिसंस्थानके बिगड़ जानेसे बाहरी आकृति तो दूसरे मनुष्योंके समान रहती है, परन्तु चेतन अपनेको जिस परिस्थितिमें पाता है वह दूसरे लोगोंसे भिन्न है। उसको दूसरे प्रकारके अनुभव होते हैं। अपनी परिस्थितिके अनुसार चेतन योग्यताओं, शक्तियों-को दिखलाता है, शेषको अपनेमें खींच लेता है क्योंकि उनका उपयोग नहीं है। इसलिए वह दूसरे मनुष्योंकी भाँति आचरण नहीं करता। हमारे लिए वह पागल है, परन्तु अपने लिए उसका आचरण ठीक है। चेतना शरीरका धर्म नहीं है, शरीरके कारण उदय नहीं होती, परन्तु चेतन अपने उपयुक्त शरीरमें जन्म लेता है और, यदि जन्म लेनेके बाद शरीरमें कोई विकार आ जाता है तो, अपनी अभिव्यक्ति तदनुसार कर लेनेका प्रयत्न करता है।

२. प्रज्ञानात्मवादाधिकरण

आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें दूसरी महत्त्वपूर्ण विचारधाराको प्रज्ञानात्मवाद कह सकते हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें इसको विज्ञानवाद कहा गया है, परन्तु आजकल विज्ञान शब्द गणित, ज्योतिष, रसायन जैसी विद्याओंके लिए प्रयुक्त होता है, इसलिए मैं विज्ञानकी जगह प्रज्ञान शब्दसे काम ले रहा हूँ। किसी क्षण-विशेषमें चित्तका जो रूप होता है उसे प्रज्ञान कहते हैं। प्रज्ञानात्मवादी कहता है कि आत्मा प्रज्ञान ही है।

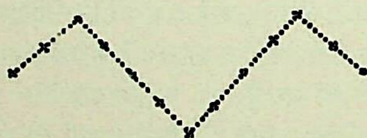
चित्तकी अवस्था या रूपके कई अङ्ग होते हैं। उसका एक अङ्ग तो ज्ञान है। कभी ज्ञान प्रमाके रूपमें रहता है, कभी विपर्ययके, कभी विकल्पके और कभी स्मृतिके। ज्ञान अकेला नहीं होता। उसके साथ राग या द्वेषके रूपमें इच्छा या वासना भी लगी रहती है और वासनाकी तृप्ति, भोग, के लिए क्रिया भी रहती है। जिसमें ज्ञानांश प्रधान होता है उस अवस्थाको प्रमाणवृत्ति, इच्छांशकी प्रधानताकी अवस्थाको रसवृत्ति और क्रियाशक्तिकी प्रधानताको सङ्कल्पवृत्ति कहते हैं। हम क्षणकी परिभाषा प्रथम खण्डके कालाधिकरणमें दे आये हैं। उससे स्पष्ट है कि कोई प्रज्ञान एक क्षणसे अधिक नहीं ठहर सकता। उसका स्थान दूसरा प्रज्ञान लेता है। इस प्रकार प्रज्ञानोंका प्रवाह जारी रहता है। दो प्रज्ञानोंमें ज्ञेय-भेद, अर्थात् ज्ञानके विषयमें भेद, वासनाभेद और सङ्कल्पभेद हो सकता है। दो प्रज्ञानोंमें बहुत-कुछ तुल्यरूपता हो सकती है, परन्तु अनन्यरूपता नहीं हो सकती। थोड़ा-थोड़ा भेद बराबर रहता है। इसीलिए चित्त परिवर्तनशील कहा जाता है। प्रज्ञानोंके क्षणस्थायित्वको लक्ष्य करके प्रज्ञानात्मवादको क्षणिक विज्ञानवाद भी कहते थे।

साधारण मनुष्यको ऐसा प्रतीत होता है कि उसके चेतनांशके दो भाग हैं, एक आत्मा और दूसरा चित्त। आत्माका जिस प्रकार शरीरपर स्वामित्व है उसी प्रकार चित्तपर भी, इसीलिए 'मेरा शरीर'की भाँति 'मेरा चित्त' प्रयोग भी किया जाता है। वह शरीरकी भाँति चित्तसे भी काम लेता है। चित्तकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, आत्मा अविकारी है। वह चित्तकी अवस्थाओंका साक्षी है, प्रत्येक अनुभूतिके साथ 'मैं' लगा रहता है। एक ही साथ विषय और वृत्ति, दोनोंका ज्ञान होता है। गऊका प्रत्यक्ष होना चित्तकी प्रमाणवृत्तिका एक निदर्शन है, परन्तु जिस समय गऊका प्रत्यक्ष होता है उस समय दो बातें एक साथ होती हैं : गऊ देखी जाती है और यह बात जानी जाती है कि गऊ देखी जा रही है। इस बातको हम यों कहते हैं—'मैं गऊको देख रहा हूँ'। यह 'मैं', यह गऊके ज्ञानको जाननेवाला, यह ज्ञानका ज्ञाता, यह चित्तका साक्षी, आत्मा है।

प्रज्ञानात्मवादी कहता है कि आत्माको चित्तसे पृथक् मानना भ्रम है। 'मेरा' चित्त कहना आत्माके पृथक् अस्तित्वका प्रमाण नहीं है, भाषाकी दुर्बलताका परिणाम है। 'में', 'का' जैसे विभक्तिप्रत्यय कारकोंके प्रतीक हैं। 'मेरा घर', 'घरमें कपड़ा' वस्तुपरक हैं। इनसे यह बोध होता है कि मैं, जो घरसे अलग वस्तु है, घरका स्वामी है; कपड़ा जो घरसे अलग वस्तु है, घरके भीतर है। परन्तु जब मैं कहता हूँ 'चित्तके संवित्', 'चित्तमें विचार' तो यह तात्पर्य नहीं है कि संवित् और विचार चित्तसे अलग हैं। यह प्रयोग वैसे ही हैं जैसे 'घरमें कमरे'। घर कमरोंसे अलग वस्तु नहीं है। इसी प्रकार 'मेरा चित्त' यह नहीं सिद्ध करता कि 'मैं' चित्तसे पृथक् वस्तु है। यह भाषाका दोष है कि वह हमको दो अर्थोंमें एक ही प्रकारका प्रयोग करनेपर विवश करती है। यह भी कह सकते हैं कि दोष भाषाका नहीं, हमारा है; हमारी धारणा भ्रान्त है इसलिए भाषाका अनुचित प्रयोग करते हैं। वस्तुतः बात भी यही है। परन्तु 'मैं' और चित्तके बीचमें सम्बन्धसूचक विभक्तिका बराबर आना भ्रान्तिको और पुष्ट करता जाता है।

पुरानी धारणाओं और भाषाके प्रयोगोंको छोड़कर अपने प्रज्ञानोंपर ध्यान देनेसे 'मैं'का पता नहीं चलता। मैं पुस्तक पढ़ रहा हूँ, मैं भैरवी सुन रहा हूँ, मैं पूरी खा रहा हूँ, तो कहनेके ढङ्ग हैं। इन अनुभूतियोंको यों व्यक्त करना अधिक उचित है—'पुस्तक पढ़ी जा रही है', 'वह स्वर-समूह जिसे भैरवी कहते हैं, सुना जा रहा है', 'वह रससमूह जिसे पूरी कहते हैं, आस्वादित हो रहा है।' प्रज्ञानोंसे पृथक् अकेले 'मैं'की कभी अनुभूति नहीं होती। जिस प्रकार संवितोंके आधारपर बुद्धि वस्तुओंका निर्माण करती है उसी प्रकार 'किसको संवित् हो रहे हैं?' इस प्रश्नके उत्तरमें उनके साक्षीकी कल्पना करती है। ऐसा मान लेती है कि जिस प्रकार तागेपर फूल गूँथे होते हैं उसी प्रकार सब प्रज्ञानोंमें एक अपरिवर्तनशील आत्मा अनुस्यूत रहती है। उसीको प्रज्ञान होते हैं। बिखरे हुए फूल एक-दूसरेसे मिल सकते हैं, पर एक माला दूसरीसे व्यभिचरित नहीं हो

सकती। इसी प्रकार एक आत्माके साथ बँधे हुए प्रज्ञान दूसरे आत्माके साथ बँधे प्रज्ञानसे अलग रहते हैं। दो चित्त कभी टकरा नहीं सकते। बुद्धिकी यह कल्पना अवस्तु है। जलकी बूँदोंके प्रवाहसे अलग नदीका कोई अस्तित्व नहीं है। बूँदोंका अविछिन्न प्रवाह ही नदीको एकता, एक-सूत्रता प्रदान करता है। पानीमें यदि कङ्करी फेंकी जाय तो लहर उठती है। ऐसा प्रतीत होता है कि लहर उस स्थानसे आरम्भ होकर किनारेतक चली जाती है। परन्तु वस्तुतः क्या आता है? यह सरल वैज्ञानिक प्रयोगसे स्पष्ट हो जाता है कि पानीकी कोई बूँद किनारेतक नहीं आती। प्रत्येक बूँद थोड़ा-सा ऊपर-नीचे हिलती है और अपनी गति अपने पड़ोसकी बूँदको देकर शान्त हो जाती है। कङ्करी फेंकनेके बाद किसी भी क्षणमें कुछ बूँदें शान्त हो चुकी होती हैं; कुछ शान्त होनेवाली होती हैं, कुछ पूरी उठी हुई हैं, कुछ आधी। इन सबको मिलानेसे लहरकी आकृति बन जाती है। ज्यों-ज्यों एकके बाद दूसरी बूँदमें ऊपर-नीचेवाली गति आती है त्यों-त्यों लहर आगेको बढ़ती प्रतीत होती है। लहर वह बुद्धिनिर्माण है जो अलग-अलग बूँदोंकी गतियोंको मिलाता है। इसी



प्रकार शान्त होनेके पहिले एक प्रज्ञान अपने संस्कार परवर्ती अर्थात् उदीयमान प्रज्ञानको दे जाता है। इस प्रकार पहिले अनुभव नष्ट नहीं होने पाते और स्मृति सम्भव होती है। यहाँतक तो प्रज्ञानोंमें सम्बन्ध है, परन्तु जिस प्रकार जलमें लहर कल्पित है उसी प्रकार सारे प्रज्ञानोंको एकमें बाँधनेवाली आत्मा कल्पित है, बुद्धिनिर्माण है। अलातचक्र, आतिशबाजी-की चर्खी को जलाइये, वह घूमने लगती है। हम यह जानते हैं कि उसका जलता सिरा ठहरता नहीं, बराबर घूमता रहता है। परन्तु जबतक आँखमें उसका एक जगहसे पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब मिटे तबतक दूसरा प्रतिबिम्ब आ

पड़ता है। इस प्रकार नया प्रतिबिम्ब पुराने प्रतिबिम्बके संस्कारसे मिलता जाता है, इसलिए हमको प्रकाशका गोला देख पड़ता है। यदि चर्खीकी गति धीमी हो और एक प्रतिबिम्बके मिटनेपर दूसरा बने तो गोलेकी भ्रान्ति न हो। ठीक इसी भाँति अविच्छिन्न गतिसे प्रज्ञान आते रहते हैं। एकके संस्कार दूसरेमें मिलते जाते हैं। कहीं तार नहीं टूटने पाता। इसलिए हमको एक अखण्ड आत्माकी प्रतीति होती है। इन बातोंसे ऐसा अनुमान होता है कि चित्त ही आत्मा है। प्रज्ञानोंके प्रवाहका नाम चित्त है इसलिए यह स्पष्ट है कि आत्मा प्रज्ञानस्वरूप, अतः क्षणिक, प्रतिक्षण उदय और शान्त होनेवाला पदार्थ है।

आत्माको चित्तसे अलग करना सुकर नहीं है। बहुतसे विद्वान् भी ऐसा करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। जैसा कि प्रज्ञानात्मवादी कहता है, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें किसी-न-किसी रूपमें चित्त काम करता रहता है और चित्तविरहित चेतनाका कहीं पता नहीं लगता। यदि चेतनको आत्मा नामसे पुकारना ही है तो यही प्रतीत होता है कि चित्त ही आत्मा है।

परन्तु गम्भीर मनन करनेसे ऐसा माननेमें शङ्का खड़ी होती है। मैं किनारे खड़ा देख रहा हूँ कि एकके बाद बराबर दूसरी बूँद चली जा रही है। बूँदोंके बीचमें कोई व्यवधान नहीं है परन्तु प्रत्येक बूँद अकेली, स्वतन्त्र है। प्रवाह किसी एक बूँदका धर्म नहीं है। मैं बूँदोंके अपने सामनेसे आ-आकर हट जानेको प्रवाह और बूँदोंके समूहको नदी कहता हूँ। प्रवाह और नदी देखनेवालेके लिए है, बूँदोंके लिए नहीं। इसी प्रकार लहर भी मेरे लिए है। प्रत्येक बूँद हिलकर ठहर जाती है। वह अपने पड़ोसीको अपनी गति दे देती है, परन्तु अन्तरित होनेके बाद गति पड़ोसीकी हो जाती है। सब गतिशील बूँदोंको मिलाना और उनको एक सम्बद्ध लहरके रूपमें देखना मेरा काम है। चर्खीमें प्रकाशका घेरा जलती हुई नोकको नहीं वरन् देखनेवालेको प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रज्ञानोंके लिए भी साक्षी चाहिये, प्रत्येक प्रज्ञान आता है और चला जाता

है। वह पूर्ववर्ती प्रज्ञानके संस्कारोंका दायभागी तो है पर यह संस्कार उसके अविभाज्य अङ्ग हो गये होते हैं। यदि ऐसा न हो और पुराना संस्कार अपने पुराने व्यक्तित्वका कुछ भी अंश पृथक् रखे तो एक क्षणमें दो प्रज्ञान हो जायँ, जो अनुभव और क्षणकी परिभाषाके विपरीत हैं। ऐसी दशामें यदि प्रज्ञान चेतन होते हैं तो प्रत्येक प्रज्ञान अपने विषयको जान सकता है और यदि स्वानुभूति भी चेतनका लक्षण है तो, अपनेको जान सकता है। परन्तु प्रवाह किसी एक प्रज्ञानका धर्म नहीं है। सम्बन्ध, एकसूत्रता, किसी एक प्रज्ञानका धर्म नहीं हो सकता। जिस प्रकार धारा, लहर, प्रकाशका गोला, साक्षीकी अपेक्षा करते हैं उसी प्रकार प्रज्ञानोंकी धारा, चित्तप्रवाह, प्रज्ञानोंके परस्पर सम्बन्धको भी ऐसे साक्षीकी अपेक्षा है जो उनसे भिन्न हो। प्रज्ञानके चेतन होनेके पक्षमें यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार दीपककी लौ अन्य वस्तुओं-के साथ-साथ अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करती है उसी प्रकार प्रज्ञान वस्तुओंके साथ-साथ अपने स्वरूपको भी जानता है। इस उदाहरणमें उपमानको ठीक-ठीक समझना चाहिये। जब दीपक नहीं जल रहा था तब भी वस्तुएँ थीं, पर उनके रूप छिपे थे। दीपकने उन्हें दिखला दिया। परन्तु क्या जलनेके पहिले लौका भी कोई छिपा रूप था जो जलनेपर प्रकट हो गया है? जलनेके पहिले तो लौ थी नहीं। अतः इस उपमाका इतना ही तात्पर्य है कि प्रज्ञान अपने विषयका द्रष्टा है और अपनी क्षणिक सत्ताका द्रष्टा है, उस क्षणके पहलेका ज्ञान उसको नहीं हो सकता। दीपक बुझे हुए दीपकोंका प्रकाशक नहीं हो सकता। प्रज्ञान अतीत प्रज्ञानोंका साक्षी नहीं हो सकता। इससे भी यह प्रतीत होता है कि चित्तकी अवस्थाओंका साक्षी स्वयं चित्त नहीं हो सकता। चेतन आत्मा 'मैं' उससे पृथक् है। उसके सामने चित्तके परिवर्तनोंका नाटक होता रहता है। चित्त उसके लिए शरीरकी भाँति उपस्कर है। शरीरकी चेष्टाओंकी भाँति चित्तका व्यापार भी न तो निरर्थक होता है, न स्वार्थ-परक। चित्त केवल निश्चेष्ट दर्पणकी भाँति विषयोंको प्रतिबिम्बित करके

नहीं रह जाता वरन् उनमें सम्बन्ध ढूँढ़ता है, उनको भोगोपयोगी बनानेका प्रयत्न करता है। इससे भी ऐसा अनुमान होता है कि भोक्ता चित्तसे पृथक् है। इसी प्रकार विचार करनेसे यह भी विदित हो जायगा कि कर्ता भी चित्तसे भिन्न पदार्थ है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञाता-भोक्ता-कर्ता अर्थात् चेतन, जिसे आत्मा कहते हैं, प्रज्ञानस्वरूप नहीं है।

प्रज्ञान बदलते रहते हैं। उनमें विषयवैषम्य तो होता ही है, अतीत प्रज्ञानोंके संस्कारोंके मिलनेसे उत्तरवर्ती प्रज्ञानोंकी गहिराई बढ़ती जाती है। बालक और वृद्धके प्रज्ञानोंमें बड़ा अन्तर होता है; उसी वस्तुके सामने दोनोंको दो प्रकारके प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु 'मैं' नहीं बदलता, न घटता है, न बढ़ता है। वह अपने प्रज्ञानोंकी घटती-बढ़तीको जानता रहता है। इससे भी यह अनुमान होता है कि वह प्रज्ञानोंसे अलग है।

हमने पिछले अधिकरणमें पागलपनके सम्बन्धमें विचार किया था। ऐसी दशाओंमें चित्तके व्यापारमें अन्तर पड़ जाता है, वह अंशतः सो-सा जाता है, परन्तु चेतना—ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व—बनी रहती है। उसमें कमी नहीं पड़ती। यह होता है कि उसका क्षेत्र पूर्ववत् नहीं रहता। इससे भी यह अनुमान होता है कि आत्मा चित्तसे भिन्न है। चित्त उसका उपकरण है। आत्माको चित्तसे काम लेना पड़ता है, इसलिए उसकी योग्यताकी अभिव्यक्ति चित्तके अनुरूप होती है, परन्तु वह स्वयं चित्त नहीं है।

यह आक्षेप ठीक नहीं है कि हमको आत्माकी अनुभूति नहीं होती। चित्तके व्यापारोंमें ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्वकी झलक रहती है, चित्त बराबर चेतनसे प्रतिबिम्बित रहता है। इसलिए चित्तके प्रत्येक व्यापारमें आत्मानुभूति होती रहती है। शुद्ध आत्माकी अनुभूतिकी माँगका तात्पर्य है कि ऐसी अनुभूति हो जिसमें आत्मा चित्तसे काम न ले रहा हो अर्थात् उसने अपनी तीनों शक्तियोंको पूर्णतया अपनेमें खींच लिया हो। ऐसा अनुभव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें नहीं हो सकता। प्रगाढ़ निद्रामें भी हल्की-सी ज्ञानवृत्ति रहती है। प्रज्ञानोंके पीछे जिस 'मैं'की प्रतीति होती है वह बुद्धिनिर्माण नहीं है। इस 'मैं'की भूमिकामें ही सारे दूसरे अनुभव

होते हैं। 'मैं'का अनुभूतिक्रम, क्षणप्रवाह, कालप्रवाह है, इसलिए सारे अनुभव कालमें होते हैं।

३. जीवाधिकरण

अभीतक हम आत्मा और चेतन शब्दोंका प्रयोग इस प्रकार करते आये हैं कि यह एक-दूसरेके पर्याय-से प्रतीत होते हैं, परन्तु पिछले दोनों अधिकरणोंमें जो विमर्श हुआ है उसके फलस्वरूप अब इन दोनोंके वाच्यार्थका भेद समझमें आ सकता है। पिछले अधिकरणके अन्तिम परिच्छेदमें दिखलाया गया है कि चित्तमें बराबर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। चेतनके बिना शरीर रह सकता है, परन्तु चेतनाविरहित चित्त नहीं रह सकता। चित्तको सदैव चेतनाका आश्रय चाहिये। जिसको हम चेतन कहते आये हैं वह आत्मायुक्त चित्त अथवा चित्तयुक्त आत्मा है। जिस प्रकार चेतनाके बिना चित्त नहीं रह सकता उसी प्रकार चित्तके बिना आत्माकी ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व सामर्थ्य काम नहीं कर सकती। आत्मा तभीतक ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है जबतक उसका चित्तके साथ योग है। जो ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता होता है उसीको चेतन कहते हैं। भोग और कर्म ज्ञानके अधीन होते हैं इसलिए ज्ञातृत्वको विशेष महत्त्व दिया जाता है और बहुधा यह कहा जाता है कि जो ज्ञाता होता है वह चेतन होता है। चूँकि ज्ञाता होना ज्ञानके साधन, अर्थात् चित्तके साथ योग होनेपर निर्भर है, इसलिए आत्मा उसी दशामें चेतन हो सकता है जब उसका चित्तके साथ योग होता है। चित्तयुक्त आत्मा, चेतन आत्माको जीव या जीवात्मा कहते हैं।

४. पुनर्जन्माधिकरण

अबतकके मननमें इस बातपर बार-बार जोर देना पड़ा है कि सब चेतन एक-से नहीं हैं, जीव-जीवमें भेद है। भेद इस बातमें है कि सब चित्त एक-से नहीं हैं, चित्तोंकी योग्यताओं, उनकी सहज वासनाओंमें भेद है। इसलिए एक ही परिस्थितिमें दो व्यक्तियोंका ज्ञान, भोग और कर्म एक-सा

नहीं होता। यह भेद पुनर्जन्म-सिद्धान्तको माननेसे समझमें आ सकता है।

अपने आयुष्यकालमें मनुष्यको सहस्रों अनुभूतियाँ होती हैं। प्रत्येक प्रज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु उसका प्रभाव उत्तरवर्ती प्रज्ञानपर पड़ता है। इस प्रकार एक प्रज्ञानसे दूसरे प्रज्ञानको जो प्राप्त होता है उसे संस्कार कहते हैं। प्रज्ञानोंका लोप हो जाता है परन्तु संस्कार रह जाते हैं। इनमेंसे कुछको तो हम स्मृतिके द्वारा पुनः जगा सकते हैं परन्तु अधिकांश इतने नीचे दब जाते हैं कि वह फिर सामने नहीं आते। फिर भी चित्तपर उनका प्रभाव पड़ता रहता है। इस प्रकार अपने जीवनकालमें जीव बहुत-से नये संस्कार बटोर लेता है। सब जीव एक-सी परिस्थितिमें नहीं पड़ते, इसलिए सबकी अनुभूतियाँ एक-सी नहीं होतीं, संस्कार एक-से नहीं होते। संस्कारों-का चित्तपर प्रभाव पड़ता है इसलिए यदि जन्मकालमें दो चित्त एक-से रहे हों तब भी मरण-कालतक पहुँचते-पहुँचते उनमें अन्तर पड़ जायगा। हमने यहाँ अनुभूति शब्दका व्यापक अर्थमें प्रयोग किया है। उसके अन्तर्भूत जीवके ऊपर बाह्य जगत्‌की क्रिया और बाह्य जगत्‌पर जीवकी प्रतिक्रिया, दोनों हैं। उभयतः उसके संस्कारोंके सञ्चित कोषमें वृद्धि होती रहती है।

शरीर जीवके भोगका साधन है परन्तु वह क्षयिष्णु है, बहुत दिनों-तक काम नहीं देता। परन्तु भोगकी आवश्यकता तो बनी रहती है। इसलिए जीव एक शरीरके बेकाम हो जानेपर शरीरान्तरमें जाता है। इस नये शरीरमें भी वह पुराने संस्कारोंका भण्डार साथ लाता है इसलिए सब चित्त एक-से नहीं होते। यदि दो जीव किसी एक ही जातिके शरीरमें हैं तो यह तो स्पष्ट है कि उनके चित्तोंमें बहुत-कुछ सादृश्य है, परन्तु इस सादृश्यके पीछे पिछले शरीरोंमें सञ्चित किये हुए संस्कारोंके वैषम्य भी हैं। इसीलिए वासनादिमें भी भेद होता है। दो मनुष्यों, दो कुत्तों, दो गिद्धों, दो गुबरैलोंके व्यवहार कदापि पूर्णतया एक-से नहीं हो सकते। जगत् अनादि है इसलिए जीवके असंख्य शरीर हो चुके हैं। जगत् अनन्त है इसलिए असंख्य शरीर होंगे।

हमारे कामके लिए इतना निरूपण पर्याप्त है, पर यह पूर्ण नहीं है। पुनर्जन्म-सिद्धान्त उस कर्मसिद्धान्तका अङ्ग है जिसकी ओर हमने इस खण्डके दूसरे अध्यायके ईश्वराधिकरणमें संकेत किया था। सब जीव एक-सी योग्यता लेकर तो नहीं ही आते, सबके भोगप्राप्तिके अवसरोंमें जन्मसे ही वैषम्य होता है। कोई स्वस्थ होता है कोई रोगी, कोई सम्पन्न और संस्कृत घरमें जन्म लेता है, कोई दरिद्र और अशिक्षित घरमें, कोई दीर्घायु होता है कोई अल्पायु, कोई मनुष्य होकर भी रोकर दिन भरता है, कोई हँसते-खेलते कुत्तेका जीवन बिताता है। कर्म-सिद्धान्त इस वैषम्यको समझनेमें सहायता देता है।

५. आत्मसाक्षात्काराधिकरण

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें तो चित्तपरिणाम होते रहते हैं, आत्माकी तीनों योग्यताएँ न्यूनाधिक काम करती रहती हैं, परन्तु एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें चित्तका निरोध हो जाता है। इसको तुरीया अवस्था कहते हैं। यह असम्प्रज्ञात समाधिका ही दूसरा नाम है।

योगाभ्यासके आरम्भमें ही तुरीयावस्था नहीं आती। प्रथमकल्पिक[1] साधकका चित्त विक्षिप्त रहता है और उसकी अवस्था जाग्रत् रहती है। जब उसका प्राण कुछ-कुछ बाहरसे खिंचकर सुषुम्नामें ऊर्ध्वमुख होता है तो साथ-साथ जीव भी अन्तर्मुख होता है। इसका अर्थ यह है कि वह अपनी भोक्तृत्व और कर्तृत्व-सामर्थ्योंका संवरण करने लगता है। इससे वासनाओं और सङ्कल्पोंका शमन होने लगता है। अभी अभ्यासी भौतिक जगत्के बाहर नहीं गया है। शरीरके भीतर-बाहर भूतविस्तार है, संवितोंकी भरमार रहती है। ज्यों-ज्यों भोगसाध्यताकी आवश्यकता कम होती है त्यों-त्यों चित्त अपने उन व्यापारोंको छोड़ देता है जिनसे बहुत-से संवितोंका परित्याग हो जाया करता था और शेषमें भाँति-भाँतिके सम्बन्ध जोड़े जाते थे। संस्कार और स्मृतियोंका अभी लोप नहीं हुआ है, अहङ्कार

१. योगके नये अभ्यासीको प्रथमकल्पिक कहते हैं।

काम कर रहा है इसलिए कुछ तो रञ्जन होता है, परन्तु क्रमशः इसकी मात्रा कम होती जाती है और संवित् और प्रत्यक्षके बीचका अन्तर घटता जाता है। इन्द्रियोंके ऊपरसे शरीरका प्रतिबन्ध कम होनेसे उनकी ग्राहकता बढ़ जाती है इसलिए संवितोंकी संख्या और उनके प्रकारमें अपार वृद्धि होती है। अननुभूतपूर्व शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध प्राप्त होते हैं। ज्यों-ज्यों अभ्यास दृढ़ होता है, स्थूलसे सूक्ष्म भूतों, क्षितिसे वायुके प्रत्यक्ष होते हैं। यह प्रत्यक्ष उत्तरोत्तर यथावस्तु होते हैं। इस प्रकार साधक युष्मत् प्रपञ्चको पार करता है। जबतक उसकी इतनी उन्नति होती है तबतक भोक्तृत्व और कर्तृत्व विलीनप्राय हो चुके होते हैं। अब चित्तके प्रज्ञानोंका प्रवाह, उसकी वृत्तियाँ, उसमें निमज्जित संस्कार, ज्ञानका विषय होते हैं। क्रमशः इनके ऊपर उठकर ज्ञाता स्वयं ज्ञेय हो जाता है। उसको अपनी सत्ताका, अपनी अस्मिताका, ज्ञान रहता है। यह ज्ञान भी चेतनको, जीवको ही हो सकता है। इसका साधन भी चित्त है। ज्ञातृत्व सामर्थ्यसे प्रतिबिम्बित होकर चित्तमें आत्माके स्वरूपका जो आभास पड़ता है वही सम्प्रज्ञात समाधिकी चरम अवस्था है। इसके बाद जब ज्ञातृत्व-योग्यता पूर्णतया खिंच जाती है तब चित्त निश्चेष्ट, निरुद्ध हो जाता है। चित्तसे वियोग हो जानेसे जीवन नहीं रह जाता। यही तुरीयावस्था, असम्प्रज्ञात समाधि, निर्विकल्प समाधि है। इस अवस्थामें आत्माकी ज्ञातृत्व आदि योग्यताएँ अपनेमें संवृत रहती हैं। यही आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कारकी अवस्था है। जहाँतक अस्मिता है वहाँतक तो अनुभूतिक्रम अर्थात् काल है। निरोधावस्थामें क्रमका अभाव है, इसलिए वह कालातीत है।

यह समझ लेना चाहिये कि आत्मसाक्षात्कारका अर्थ आत्माके स्वरूपका अवधारण, समझना, नहीं है। साक्षात्कार और अवबोधमें भेद है। अज्ञातका ज्ञातके साथ सम्बन्ध मिलाना अवधारण कहलाता है। जब हम किसी नयी वस्तुको देखते हैं तो उसको पुरानी वस्तुओंसे मिलाते हैं। ऐसा करनेसे वह समझमें आ जाती है। समझनेका साधन चित्त है।

परन्तु जब चित्तका निरोध हो गया उस अवस्थामें तुलना कैसे होगी ? फिर, यदि आत्मा अज्ञात है तो वह कौन-सी ज्ञात वस्तु है जिसके द्वारा उसको समझा जायगा ? आत्मासे, जिसकी सत्ता प्रत्येक प्रज्ञानमें विद्यमान है, अधिक ज्ञात और क्या है ? समझना तब होता है जब समझनेवाला और समझी जानेवाली वस्तु दोनों हों। जिस अवस्थामें केवल आत्मा रह गया उसमें कौन किसको समझेगा ?

इसलिए आत्मसाक्षात्कार एक अपूर्व अनुभूति है जिसकी तुलना उन अनुभूतियोंसे नहीं की जा सकती जो जाग्रतादि अवस्थात्रयमें होती हैं। समाधिसे व्युत्थित होनेपर सम्प्रज्ञात समाधिके अनुभवको तो कुछ टूटे-फूटे शब्दोंमें व्यक्त किया जा सकता है या कमसे कम इसका प्रयत्न किया जा सकता है, परन्तु तुरीयावस्थाकी अनुभूति चित्त और वाणीके लिए सर्वथा अविषय है। आत्मा न समझा जा सकता है, न समझाया जा सकता है; वह स्वसंवेद्य है, उसका साक्षात्कारमात्र किया जा सकता है। आत्मसाक्षात्कारको ही आत्मज्ञान भी कहते हैं।

८. आप्तसाक्ष्याधिकरण

योगी आप्तपुरुष होता है। उसका साक्ष्य हमारे लिए प्रमाण है। यह सौभाग्यकी बात है कि हमको योगियोंकी अनुभूतिका वर्णन करनेवाला प्रभूत वाङ्मय लभ्य है। यह वर्णन समाधि-भाषामें है और देशकालपात्र-भेदसे विषयनिरूपणमें स्वभावतः भेद है। समाधि-भाषाका पूरा-पूरा अर्थ लगाना साधकका ही काम है फिर भी गम्भीर मनन और अनातुरताकी सहायतासे उसकी आंशिक मीमांसा की जा सकती है। योगी भारतमें और भारतके बाहर भी हुए हैं। उपनिषदोंमें वामदेव, त्रिशंकु, यम, प्रजापति, इन्द्र, याज्ञवल्क्य, विदेह, अश्वपति, सनत्कुमार, जाबालि, ऐतरेय आदिके नाम मिलते हैं। इनके सिवाय व्यास, वशिष्ठ, श्रीकृष्ण, शङ्कराचार्य, वर्द्धमान महावीर, गोरक्ष, दत्तात्रेय, ज्ञानदेव, कबीर, नानक, रामकृष्ण जैसे और भी कई नित्यस्मरणीय महात्मा हो गये हैं।

यह सब एक स्वरसे यह कहते हैं कि समाधिके अन्तमें, जब सब प्रज्ञानोंका उपशम हो जाता है, आत्मसाक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार बुद्धि और वाणीके परे है। उसमें साधकका 'मैं' भी खो जाता है। इस बातका समर्थन ईसा और ईसाई साधकों तथा सूफियोंके कथनोंसे भी होता है।

केवल एक ओरसे इसके विपरीत बात सुनी जाती है। बौद्ध विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सम्प्रज्ञात समाधिकी चरम सीमापर पहुँचकर जब अस्मिताका क्षय हो जाता है उस अवस्थामें अर्थात् निर्विकल्प समाधिमें, आत्मा नहीं प्रत्युत शून्य, 'कुछ नहीं', अवशिष्ट रहता है। व्युत्थानदशामें इस शून्यमें भ्रान्तिसे अस्मिता-विशिष्ट आत्माकी प्रतीति होती है। बौद्धोंका यह शून्यवाद तर्कपर अवलम्बित है, परन्तु उनका तर्क अहेतुक है। भ्रान्ति विपर्यय, अध्यासका नाम है। अध्यास बिना आस्पदके नहीं होता। रस्सीमें किसीको सर्प, किसीको लकड़ीकी प्रतीति हो सकती है; बालूमें मरीचिका जल देख पड़ता है। शून्य, अभाव, 'न कुछ' असत् है, उसमें सत्, भाव, 'कुछ'की प्रतीति नहीं हो सकती। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि स्वयं गौतम बुद्ध और उनके सारिपुत्र या मौद्गलायन जैसे साधक शिष्योंने ऐसी बात नहीं कही। बुद्धसे जब कभी उस अन्तिम अवस्थाके विषयमें पूछा जाता था तो वह चुप हो जाते थे। इससे उनका तात्पर्य तो यही रहा होगा कि वह वर्णनका विषय नहीं है, परन्तु पीछेसे लोगोंने उनके मौनकी अनुचित मीमांसा करके यह वाद खड़ा किया।

७. आत्मस्वरूपाधिकरण

यह तो हम देख चुके हैं कि आत्मसाक्षात्कार अपूर्व अनुभूति है। उसके लिए कोई उपमान नहीं मिल सकता, इसलिए शब्दोंमें उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसी दशामें आत्माका स्वरूप कैसा है यह दूसरेको समझाना असम्भव है। वह स्वरूप स्वसंवेद्य है। 'कैसा है' बतलानेकी जगह 'कैसा नहीं है' बतलाना सुकर है। जो उपमान दिया जाय, जो विशेषण दिया जाय, प्रायः सबके लिए एक ही उत्तर है : 'यह नहीं', 'आत्मा ऐसा

नहीं है' । उपनिषदोंमें इसीलिए कहा गया है कि वह 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) शब्दका वाच्य है। जो भी निरूपण किया जाता है वह प्रायः जीवका, चेतनका, चित्तविशिष्ट आत्माका होता है।

फिर भी कुछ बातें कही जा सकती हैं। पहिली बात यह है कि आत्मा है, वह सत्य है, सत् है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह नित्य अर्थात् अज और अमर है। दूसरी बात यह है कि आत्मा चेतना है, चेतन नहीं । वह शुद्ध, परिपूर्ण, केवल, चेतना है। इसलिए उसको चित्, चिन्मय, चिद्धन कहते हैं। चेतना चेतन होनेकी योग्यताको, ज्ञाता द्रष्टा होनेकी योग्यताको कहते हैं। इसलिए उसे चिति, दृशि और ज्ञान-स्वरूप कहते हैं। तीसरी बात यह है कि वह दिक्कालसे अनवच्छिन्न है, दिक् और कालके परे है।

यह बात भी निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि आत्मा एक और अखण्ड है। चेतन अनेक हैं परन्तु आत्मा, चेतना, चेतन होनेकी योग्यता, ज्ञाता-भोक्ता-कर्ता होनेकी शक्ति, एक है। अनेक चित्तोंके साथ मिलकर वह अनेक जीव हो रही है; अनेक शरीरोंके भीतर रहकर अनेक शरीरी, अनेक शारीर वन रही है। आत्माकी अद्वितीयताके साक्षी आप्त-पुरुषोंके कथन हैं। वह पुकार-पुकार कर कहते हैं कि तुरीयावस्थामें द्वैतका प्रणाश हो जाता है। यह बात बुद्धिसङ्गत भी प्रतीत होती है। यदि आत्माएँ एकसे अधिक हों तो उनका व्यावर्तक क्या होगा, अर्थात् वह क्या पदार्थ होगा जो एक आत्माको दूसरेसे पृथक् करेगा ? जिस अवस्थामें आत्मा अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है उसमें शरीरका तो कहना ही क्या है, चित्त भी नहीं रहता। और दूसरा कोई व्यवच्छेदक नहीं हो सकता; इसलिए आत्मा एक, अखण्ड, अच्छेद्य है।

यह भी स्पष्ट है कि आत्मस्वरूप एकरस है; उसमें परिवर्तन नहीं होता । यदि वह परिणामी होता तो उसमें क्रम होता, कालानुभूति होती और वह प्रज्ञानोंका, चित्तके परिणामोंका साक्षी न हो सकता । इस एक-रसताको उपनिषदोंमें आनन्द कहा है।

सारांश यह है कि आत्माके सम्बन्धमें इतना तो कह सकते हैं कि वह एक, अखण्ड, दिक्कालानवच्छिन्न, दृशिमात्र, चितिमात्र, केवल-ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) है। सच तो यह है कि इतना विस्तार भी अनावश्यक है। केवल सत् और चित् कहना पर्याप्त है। और सारी बातें इनके अन्तर्गत हैं। सच तो यह है कि अकेला चित् अलम् है। चित् कहनेके बाद सत् कहना भी अनावश्यक है। इससे अधिक विवेचना करना दुष्कर है। नेति, नेतिके सिवाय और जो कुछ कहा जायगा वह अनुचित होगा। आत्मा साक्षात्कार्य है, अवधारयितव्य नहीं।

८. ब्रह्माधिकरण

हमको ऐसा प्रतीत होता है कि शरीरके भीतर चित्त है। और अब हमने यह देखा है कि चित्तके भीतर, चित्तका प्रेरक, आत्मा है। इस दृष्टिसे उसको प्रत्यगात्मा (प्रत्यक् + आत्मा) कहते हैं।

आत्मा एक है। इसलिए वह सब शरीरोंका शरीरी, सब चेतनोंकी चेतना, सब चित्तोंका साक्षी, सब जीवोंका अन्तस्तम है। सब जीव उसीके सक्रिय रूप हैं, सब शरीर उसीके शरीर हैं, सब चित्त उसीके चित्त हैं, सब चेतनोंमें उसीकी ज्योति, उसीकी अभिव्यक्ति है। इस दृष्टिसे आत्माको ब्रह्म कहते हैं।

जिसके द्वारा किसी पदार्थका वास्तविक रूप छिप जाता है उसको उपाधि कहते हैं। ब्रह्म एक होते हुए भी शरीर और चित्तसे ढँककर अनेक हो गया है। इसलिए शरीर और चित्त ब्रह्मकी उपाधियाँ हैं। परन्तु हम देख चुके हैं कि शरीर चित्तमें संवित् मात्र है, इसके सिवाय उसकी कोई और सत्ता नहीं है। इसलिए ब्रह्म चित्तके योगसे एकसे अनेक हुआ है। चित्त ही ब्रह्मकी मुख्य उपाधि है।

हमने कई स्थलोंपर 'स्वसंवेद्य' शब्दका व्यवहार किया है। जो दूसरेको न समझा जा सके, जैसे शक्करका स्वाद, वह स्वसंवेद्य है। परन्तु जब हम आत्मस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप, मायाब्रह्मसम्बन्ध, आदिके

सम्बन्धमें 'स्वसंवेद्य' कहते हैं, तो अर्थ कुछ भिन्न हो जाता है। शक्करका स्वाद इन्द्रियविशेषका विषय है, चित्तग्राह्य है। माताकी पुत्रपर ममता इन्द्रियग्राह्य न होते हुए भी चित्तग्राह्य होनेके अर्थमें स्वसंवेद्य है। परन्तु आत्मा आदि चित्तग्राह्य नहीं हैं। ब्रह्म एक, अखण्ड, अद्वय है, अनवधार्य है। चित्त द्वैत्में पला है। ब्रह्मको समझनेका प्रयत्न अद्वैतको द्वैतके चश्मेसे देखनेका प्रयत्न है। असम्प्रज्ञात समाधिकी चरम सीमासे, निरोधावस्थाके थोड़ा पहिले, वास्तविकताका जो भान होता है, चित्तके झीने पर्देकी आड़में सत्यकी जो झलक मिलती है, वह स्वसंवेद्य है। उसके आगे संवेद्यता ही नहीं है, स्व और परका तो प्रश्न ही क्या है। दूसरी ओर शुद्ध द्वैत प्रपञ्च है।

९. श्रुतिप्रामाण्याधिकरण

इस स्थानपर इस प्रश्नपर विचार कर लेना अनावश्यक न होगा कि वेद कहाँतक प्रामाणिक है, अर्थात् आध्यात्मिक विषयोंके सम्बन्धमें जो कुछ वेदमें लिखा है उसको कहाँतक प्रमाण मान लिया जाय। पहिली बात तो यह है कि वेदमें क्या कहा गया है, यह स्वयं विवादास्पद है। एक ही मन्त्रके कई प्रकारके अर्थ लगाये जाते हैं और जा सकते हैं। फिर वेद ही क्यों, बाइबिल और कुरानको क्यों न प्रामाणिक माना जाय ? वेदके प्रामाण्यके सम्बन्धमें कुछ विचार इस खण्डके दूसरे अध्यायके ईश्वराधिकरणमें किया गया है। यदि वेद आप्तवाक्य है तो उसका समर्थन दूसरे आप्तपुरुषोंके वाक्योंसे होना चाहिये और यह समर्थन मन्त्रभागको भी मिलना चाहिये। यह समर्थन किसी तर्कके द्वारा नहीं हो सकता। यदि किसी महायोगीका अनुभव श्रौत आदेशोंका समर्थन करता है, यदि वह स्वयं दिखला देता है कि यथाविधि करनेसे यज्ञोंसे यथाकथित फल प्राप्त होते हैं, तो वेद सत्य हैं। अन्यथा उनकी प्रामाणिकता केवल कुछ लोगोंकी श्रद्धाका विषय होगी।

चौथा अध्याय

नानात्वका सूत्रपात

हमारे अबतकके अध्ययनका जो निष्कर्ष है उसको यों लिख सकते हैं—

(१) ब्रह्म या आत्मा एक है। उसका स्वरूप सत् और चित् है। वह अपरिणामी है और दिक्कालके परे है।

(२) चित्तके साथ मिलकर वह एकसे अनेक हो जाता है। चित्तोपाधिविशिष्ट आत्मा, अर्थात् जीव, चेतन है।

(३) चित्त प्रत्यगात्माके प्रकाशमें, उसकी शक्तिके आश्रयसे काम करता है, इसीलिए उसके चेतन होनेकी भ्रान्ति होती है। चित्त असंख्य संस्कारोंका भण्डार है। संस्कार-वैषम्य जीवोंके सजातीय भेदोंका कारण है।

(४) चित्तमें जो संवित् उत्पन्न होते रहते हैं उनके कारण हमको बाह्य जगत्की प्रतीति होती है।

इन चारों बातोंपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि विश्वमें दो पदार्थ हैं : अपरिणामी आत्मा और परिणामी चित्त।

इन्हीं दोनोंके योगसे विश्व बनता है। यदि योग न हो, तो न तो चेतन अस्मत् बने, न चित्तमें संवित् उठें। संवितोंके अभावमें युष्मत् भी न हो। अतः जगत्को समझनेके लिए हमको तीन प्रश्नोंके उत्तर मिलने चाहिये—

(१) प्रत्यगात्माका चित्तके साथ योग कैसे हुआ है ?

(२) प्रत्यगात्मासे अयुक्त और संवित्-विहीन चित्तका क्या स्वरूप है ?

(३) प्रत्यगात्मासे योग होनेपर चित्तमें संवित् किस प्रकार उठते हैं ? जहाँ हमने 'कैसे' और 'किस प्रकार' कहा है, वहाँ साधारण बोल-चालमें 'क्यों'का प्रयोग होता है।

प्रथम दोनों प्रश्नोंके उत्तरमें अस्मत् और तीसरे प्रश्नके उत्तरमें युष्मत्की कुञ्जी है।

जो आत्मा सर्वथा अतर्क्य है, जिसका साक्षात्कार अनुपम, अपने ढङ्गका निराला है, उसके सम्बन्धमें कैसे और क्यों बताना, उसको तर्कका विषय बनाना, सुसाध्य नहीं है। फिर भी तर्कसे सहायता मिलती है। योगियोंने अपने सम्प्रज्ञात समाधिके अनुभव हमारे पासतक पहुँचानेका यत्न किया है, परन्तु हम सावधान किये देते हैं कि यह बातें—मेरा संकेत प्रथम प्रश्नकी ओर है—अनुभवगम्य हैं। इनका जो ज्ञान होता है वह अतर्क्य है, परन्तु यह ज्ञान तर्कका आधार बनाया जा सकता है और इस तर्ककी सहायतासे जगत्का प्रतीयमान रूप समझा जा सकता है। यही उसके सत्य होनेका प्रमाण है।

१. चित्तस्वरूपाधिकरण

ऊपर जो तीन प्रश्न उपस्थित किये गये हैं उनमें दूसरा यह है कि चित्तका अपना रूप क्या है ? जिस पदार्थसे आत्माका योग हुआ उसका स्वरूप जान लेनेपर यह समझनेमें सुगमता होनी चाहिये कि दोनोंमें योग किस प्रकार हुआ।

चित्तके स्वरूपके सम्बन्धमें हम पिछले अधिकरणोंमें कई स्थलोंपर कुछ-न-कुछ कह आये हैं। जैसे, चेतोव्यापाराधिकरणमें कहा गया है कि 'अच्छेद्य चेतोव्यापारका ही नाम चित्त है। प्रज्ञानोंके सतत प्रवाहसे भिन्न चित्तकी कोई सत्ता नहीं है।' वहीं यह भी बतलाया गया है कि 'प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति, राग, द्वेष, सङ्कल्प आदि परिणामोंकी निरन्तरवर्तिनीमाला'को चेतोव्यापार कहते हैं। इसके पहिले, सेन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरणमें मन, अहङ्कार और बुद्धिके प्रसङ्गमें कहा गया है कि 'वस्तुतः अन्तःकरण या चित्त एक है पर वह क्रमात् तीन प्रकारके काम करता रहता है इसलिए उसे तीन नाम दिये गये हैं।' अभी कुछ ही पृष्ठ पहिले प्रज्ञानात्मवादमें प्रज्ञानकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है, 'किसी

क्षण-विशेषमें चित्तका जो रूप होता है उसे प्रज्ञान कहते हैं' और वहीं आगे चलकर यह दिखलाया गया है कि चित्तके किसी रूपमें ज्ञान प्रधान रहता है, किसीमें इच्छा और किसीमें क्रिया, परन्तु एककी प्रधानताके साथ-साथ प्रत्येक अवस्थामें शेष दोनों भी रहते हैं। यह भी कहा गया है कि नष्ट होनेके पहिले प्रत्येक प्रज्ञान अपना संस्कार परवर्ती प्रज्ञानको दे जाता है और यह बात बार-बार दुहरायी गयी है कि चित्त वासनाओं और योग्यताओंका भण्डार है।

इन कथनोंको मिलानेसे चित्तका स्वरूप समझमें आ सकता है। पहिले संस्कारोंको लीजिये। जब प्रज्ञान ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पका समुदाय है तो एक प्रज्ञानसे दूसरेमें ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्प ही अन्तरित हो सकते हैं। योग्यताका अर्थ है अध्यवसाय करनेकी योग्यता। एतत्कालीन संविद्विशेषको समकालीन दूसरे संवितोंसे सम्बद्ध करना या उसको पिछले ज्ञानेच्छासङ्कल्पोंके संस्कारोंसे सम्बद्ध करना या दो संस्कारोंको सन्तुलित करना अध्यवसायका रूप है और यही ज्ञानकी प्रक्रिया है। चेतोव्यापारका यही मुख्यांश है। इस विश्लेषणका सार यह निकला कि ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पके समुच्चयका नाम चित्त है।

एक आक्षेप यह हो सकता है कि हमने चित्तके स्वरूपका वर्णन करनेमें सुख-दुःखका उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह है कि सुख-दुःख ज्ञानेच्छासङ्कल्पके बाहर नहीं हैं। इच्छाके दो रूप हैं, राग और द्वेष। क्रोध, लोभ, उत्साह, औत्सुक्य, स्नेह, प्रेम, घृणा आदि जितने भी भाव हैं सब इन दोनोंके अन्तर्गत हैं। जो संवित् या स्मृति या विचार सामने आता है वह या तो अच्छा लगता है, उपादेय प्रतीत होता है, उसके प्रति राग होता है या बुरा लगता है, हेय प्रतीत होता है, उसके प्रति द्वेष होता है। भोगसाधकतामें उपादेयता, बाधकतामें हेयता है। रागमें चित्त उसको ज्ञानका विषय बनाये रखना चाहता है, द्वेषमें उसको ज्ञानका अविषय बनाना चाहता है। इसके लिए जो आभ्यन्तर प्रयत्न होता है वह संकल्प है। यदि ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्प एक बिन्दुपर, एक

वस्तुपर, एकत्र होते हैं तो चित्तमें विशेष स्फूर्ति, तीव्रता, आ जाती है। इसका नाम सुख है। यदि ज्ञानका विषय एक और इच्छा तथा सङ्कल्पका दूसरा होता है तो एक प्रकारका तनाव-सा होता है। उसका नाम दुःख है। यदि शक्कर अच्छी लगती है, शक्करकी प्राप्तिके लिए यत्न हुआ और शक्कर खायी गयी अर्थात् शक्करका ही संवित् द्वारा ज्ञान हुआ तो सुख होगा, यदि शक्करकी जगह मिर्चा खाया गया, संवित् द्वारा मिर्चेका ज्ञान हुआ तो दुःख होगा। अतः सुःख-दुःखको ज्ञानेच्छासङ्कल्पसे पृथक् करनेकी आवश्यकता नहीं है। हम फिर उसी जगह पहुँचते हैं कि ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पके समुच्चयका नाम चित्त है।

हमने अभी देखा है कि इच्छा और सङ्कल्प ज्ञानके आश्रित हैं। अतः विभिन्न चित्तोंमें मुख्य भेद ज्ञानका होगा। किसीका ज्ञान अधिक, किसीका कम होता होगा और इसीके अनुसार उनकी इच्छाएँ और सङ्कल्प होते होंगे। एक और भेद हो सकता है जिसको हम अध्यवसाय करनेकी योग्यता कह आये हैं। ज्ञान, इच्छा, संकल्प और अध्यवसायकी योग्यता चित्तके स्वरूप हैं।

ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पका कोई-न-कोई विषय होता है। चित्तमें अनेक प्रकारके विषय होते हैं, परन्तु इन सबकी जड़में शब्दादि पाँचों संवित् हैं। जब आत्माकी ज्ञातृत्व-योग्यता सक्रिय होकर संवित्पर काम करती है तब ज्ञान होता है, जब भोक्तृत्व-योग्यता सक्रिय होकर संवित्पर काम करती है तब इच्छा होती है और जब कर्तृत्व-योग्यता सक्रिय होकर संवित्पर काम करती है तब सङ्कल्प होता है। ज्ञातृत्व-सामर्थ्यका ही नामान्तर अध्यवसायकी योग्यता है। इस विवेचनाका मथितार्थ यह निकला कि संवित्के प्रति सक्रिय ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व-शक्तिका नाम चित्त है। परन्तु ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व-शक्तिका नाम ही आत्मा है। अतः चित्त आत्माकी वह अवस्था है जिसमें वह संवितोंके प्रति सक्रिय होता है, संवितोंसे प्रभावित होता है।

कभी तीनों शक्तियाँ तुल्य रूपसे व्यक्त होती हैं, कभी कोई कम व्यक्त होती है। सक्रियताकी मात्रामें भी भेद हो सकता है। चित्तोंकी अनेकता और उनकी पारस्परिक असमानताका यही कारण है। जीवोंकी अनेकता और वैषम्यका यही आधार है।

२. मायाधिकरण

हमारे सामने तीन प्रश्न उपस्थित थे। पिछले अधिकरणमें उनमेंसे एकका उत्तर उपलब्ध हुआ। उसके प्रकाशमें हमको शेष दोनोंके उत्तर ढूँढ़ने हैं। प्रश्न यह हैं—

आत्माका चित्तसे योग कैसे हुआ है?

चित्तमें संवित् किस प्रकार उत्पन्न होते हैं?

यह पहिले कहा जा चुका है कि आत्माओंकी समष्टिकी दृष्टिसे आत्माकी ब्रह्म संज्ञा होती है। यहाँ आत्माके अनेक चित्तोंके साथ युक्त होनेके सम्बन्धमें विचार करना है। इस प्रसङ्गमें ब्रह्म शब्दसे काम लेना अच्छा होगा।

हम देख चुके हैं कि जब आत्मा संवित्के प्रति सक्रिय होता है तो वह चित्तरूप हो जाता है। इस दशामें आत्मा और चित्तके योग होनेका अर्थ हुआ चेतनाके निष्क्रिय रूपका उसके सक्रिय रूपसे योग होना; दूसरे शब्दोंमें, निष्क्रियसे सक्रिय होना। इसलिए पहिले प्रश्नका तात्पर्य यह है—ब्रह्म जो निष्क्रिय—चेतना, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्वमात्र—था, सक्रिय—चेतन, ज्ञाता, भोक्ता, कर्ता—कैसे हुआ?

कोई पदार्थ अपनी अवस्थाको तभी बदल सकता है जब उसको किसी बाहरी शक्तिसे नोदन प्राप्त हो। इस सिद्धान्तका न्यूटनने जाड्य नियमके नामसे प्रतिपादन किया था। जबतक किसी प्रकारका बाहरी धक्का न लगे तबतक जो वस्तु निश्चेष्ट है वह निश्चेष्ट पड़ी रहेगी, जो गतिशील है वह उसी गतिसे बराबर चलती रहेगी, परन्तु ब्रह्मको नोदन देनेवाला पदार्थ कौन था? ब्रह्म एक ही नहीं प्रत्युत अद्वय भी है। उसके

सिवाय और कुछ नहीं है। हमको ऐसा प्रतीत होता था कि चित्तकी भी स्वतन्त्र सत्ता होगी, परन्तु वह ब्रह्मका सक्रिय रूप निकला। अतः वह ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। ब्रह्म एकमात्र सत्य है। वह सब-कुछ है। केवल उसकी ही सत्ता है। फिर वह सक्रिय कैसे बना? यह नहीं कह सकते कि चित्तकी प्रेरणासे ऐसा हुआ, क्योंकि परवर्ती सक्रिय रूप पूर्ववर्ती निष्क्रिय रूपका प्रेरक नहीं हो सकता था।

विमर्शको आगे बढ़ानेके पहिले हम उस चेतावनीको, जो पहिले दी जा चुकी है, फिर दुहराते हैं। जिस स्तरपर यहाँ बुद्धि दौड़ायी जा रही है वह वस्तुतः अतर्क्य है, अनुभवगम्य है, अवबोधका विषय नहीं है। इसलिए वहाँ पहुँचनेके पहिले ही भाषाके पर जल जाते हैं। परवर्ती, पूर्ववर्ती, पहिले, पीछे, तब, जैसे शब्द कालवाची हैं, परन्तु निष्क्रिय ब्रह्म तो कालसे विशिष्ट नहीं है। हमको विवश होकर इन शब्दोंसे काम लेना पड़ता है अन्यथा विचारकी गति अवरुद्ध हो जायगी। मनन करनेवालेको भाषाजनित भ्रान्ति, विकल्पसे बचते रहनेका सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

यह भी नहीं कह सकते कि संवितोंसे नोदन मिला। संवित् चित्तका परिणाम है। चित्त और संवित् अन्योन्याश्रित हैं। बिना संवित्के चित्त नहीं होता, क्योंकि संवितोंका अवलम्बन करके ही ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्प होते हैं, परन्तु बिना चित्तके संवित् भी नहीं हो सकता। यह विचारणीय है कि चित्तमें संवित् कैसे होते हैं। यह वह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है जिसको खोलनेका प्रयास हमको आगे चलकर करना है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि संवित् उस चित्तका हेतु नहीं हो सकता जिसका वह स्वयं एक परिणाम है। लहरोंके समुच्चयका नाम भले ही समुद्र हो, परन्तु समुद्रकी उत्पत्तिमें लहर प्रेरक नहीं हो सकती।

तत्त्वान्तरके अभावमें यह कल्पना की जा सकती है कि ब्रह्म अपनी अन्तःप्रेरणासे सक्रिय बना अर्थात् निष्क्रियसे सक्रिय बनना उसका स्वभाव है। परन्तु यह कल्पना अग्राह्य है। इसको माननेका अर्थ यह होगा कि

ब्रह्म परिणामी, परिवर्तनशील है। परन्तु हम पहिले सिद्ध कर आये हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म स्वयं परिणामी होता तो वह चित्तके परिणामोंका, प्रज्ञानोंके प्रवाहका, साक्षी न हो सकता। अतः ब्रह्म अपने स्वभावसे भी चित्तरूपमें परिणत नहीं हुआ।

इसका तात्पर्य तो यह निकलता है कि ब्रह्म जैसा था वैसा ही रहा, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु यदि उसमें परिवर्तन नहीं हुआ तो चित्त कहाँसे आया ? संवित् किसमें होते हैं ? यदि चित्त और संवित् नहीं हैं तो फिर यह जगत् क्या है ? यदि ब्रह्म परिणत नहीं हुआ तो उसके सिवाय और कुछ तो था ही नहीं जिसका जगत् रूप होता। शून्य, असत्, से सत् हो ही नहीं सकता, अतः ब्रह्मके यथावत् रहनेका अर्थ यह होता है कि जगत् हो ही नहीं सकता।

परन्तु जगत् प्रतीत हो रहा है। जो हो नहीं सकता वह है, ऐसा जान पड़ता है। यह बड़ी जटिल समस्या है। जिस चित्तको यह निश्चय है कि जगत्का व्यक्त होना असम्भव है उसीको जगत्का अनुभव हो, इसका यही हेतु हो सकता है कि यह अनुभव भ्रान्त है। कुछ न हो, ऐसा नहीं है। ब्रह्म है। उसी आस्पदमें चित्त अध्याससे जगत्का आरोप कर रहा है। यह भूल है, भ्रम है, अविद्या है। इस मूल अविद्याको, जिससे निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय प्रतीत होता है, माया कहते हैं।

मायाको सत् नहीं कह सकते क्योंकि यदि वह सत् हो तो नित्य भी होगी, फिर ब्रह्ममें जगत्की नित्य प्रतीति होगी और आत्मसाक्षात्कार कभी न हो सकेगा। उसको असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि असत्को जगत्का हेतु नहीं कहा जा सकता। वह ब्रह्मसे भिन्न है क्योंकि ब्रह्म चित् है और माया, भ्रान्ति, चित् नहीं हो सकती। इसके साथ ही वह ब्रह्मसे अभिन्न है क्योंकि जो कुछ है वह ब्रह्म है। वह एक साथ ही सत् और असत्, ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न है। इसीलिए उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। वह ब्रह्मके समान परम अतर्क्य है और अनवधार्य है।

ब्रह्म और मायाके सम्बन्धको समझनेके लिए कई उपमाएँ दी जाती

हैं। कोई मायाको ब्रह्मका स्वभाव कहता है, पर इससे बोधमें कोई सहायता नहीं मिलती। कभी मायाको आधेय और ब्रह्मको आधार बतलाया जाता है, परन्तु इन शब्दोंके प्रयोगसे द्वैत, दो सत्ताओंका भान होता है। मायाको ब्रह्मकी छाया भी नहीं कह सकते क्योंकि छाया डालनेके लिए पदार्थान्तरकी अपेक्षा होती है। इससे स्यात् अच्छा निदर्शन यह है कि इन दोनोंका वैसा सम्बन्ध है जैसा कागदके दोनों पृष्ठोंमें होता है। पृष्ठ दो हैं, इसलिए एक-दूसरेसे पृथक् सत्ता रखते हैं, परन्तु कहाँ एक समाप्त होता है और दूसरा आरम्भ होता है यह नहीं कहा जा सकता। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा है; एक है, इसीलिए दूसरा भी है। यदि एक न हो तो हम दूसरेको भी नहीं जान सकते। यह हमारे दृष्टिकोणपर निर्भर है कि हम किस समय किस पृष्ठको देखते हैं। ब्रह्म और मायाका कुछ ऐसा ही सम्बन्ध है। मायाका अर्थ है 'वह जिसके द्वारा जाना जाता है'। अविद्याके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है, चित्त और जगत्के रूपमें ज्ञेय हो जाता है, इसलिए अविद्याको, मूल भ्रान्तिको, माया कहते हैं। यदि माया न होती तो जगत्की प्रतीति न होती, चित्त न होते, जीव न होते।

यह आपत्ति की जा सकती है कि मायाके स्वरूपको समझना ब्रह्मस्वरूपको समझनेसे भी कठिन है। आपत्ति ठीक है पर हम बेबस हैं। जो है वह है, हम उसे समझ सकें या न समझ सकें। अवधारण वहाँ होता है जहाँ अज्ञातको ज्ञातसे मिलाया जा सकता है; ज्ञातको ज्ञातसे या अज्ञातको अज्ञातसे मिलानेसे अवधारण नहीं हो सकता। चित्तको जगत्में होनेवाले दृग्विषयोंसे काम लेना पड़ता है। यही तर्क और अवधारणकी सामग्री हैं। परन्तु हमारे दैनन्दिन जीवनमें भी ऐसे अनुभव होते हैं जो अवधृत नहीं होते, फिर भी हम उन्हें सत्य मानते हैं। शक्करके स्वाद और आगकी जलनको हम किसी तर्कसे न जानते हैं, न जान सकते हैं। फिर तर्ककी पद्धति उस अवस्थाके लिए कैसे काम दे सकती है जिसमें चित्त भी नहीं था? उसमें तो वह सामग्री ही नहीं थी जो चित्तका आधार है। तर्ककी तुला ऐसी अनुभूति तौलनेके लिए नहीं बनी है।

परन्तु जब हम इस अनुभूतिको शब्दोंमें व्यक्त करनेका प्रयास करते हैं तो उसे हठात् तर्कके क्षेत्रमें ले आते हैं। चित्त उसे दूसरी अनुभूतियोंसे मिलाकर समझता है और आगेके तर्कके लिए सामग्री बनाता है। परन्तु यह प्रणाली पूरा-पूरा काम नहीं दे सकती। सन्तुलन सजातीयोंका हो सकता है, विजातीयोंका नहीं। हाथीको घोड़ा, गधा, बैल आदि पशुओंसे मिलाना तो कुछ अर्थ रखता है, परन्तु हाथी और आमका सन्तुलन नहीं हो सकता। एक, अखण्ड, अद्वय, निष्क्रिय, ब्रह्म चित्तका विषय नहीं है; वह उन वस्तुओंमेंसे नहीं है जिनसे चित्तको काम पड़ता है; वह अपने स्वरूपका परित्याग नहीं कर सकता फिर भी स्वरूपभ्रष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है। यह बातें अनुभवगम्य हैं, समझनेकी नहीं।

फिर एक और शङ्का होती है। यह अविद्या, यह भ्रान्ति, किसको हुई ? मुझको ? पर जब सब-कुछ ब्रह्म है तो मैं भी तो ब्रह्म हूँ। रस्सीमें सर्पकी प्रतीति देखनेवालेको होती है, रस्सीको नहीं। परन्तु जब मुझको ब्रह्मस्वरूपके विषयमें भ्रान्ति हो रही है, उसके नित्य निष्क्रिय रूपके सक्रिय होनेकी कल्पना कर रहा हूँ तो फिर तो यह कहना होगा कि ब्रह्मको अपने विषयमें भ्रान्ति हुई, उसने अपनेको कुछका कुछ जाना, निष्क्रिय होते हुए सक्रिय जाना। परन्तु क्या ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूपको, निष्क्रिय स्वरूपको, जान सकता था ? निष्क्रिय स्वरूप ज्ञातृत्व था, ज्ञाता नहीं। जो ज्ञाता नहीं है, वह कुछ नहीं जान सकता। अतः ब्रह्म अपने निष्क्रिय स्वरूपको निष्क्रियावस्थामें जान ही नहीं सकता था। ज्ञाता होने, अर्थात् सक्रिय होनेपर ही वह अपनेको पहिचान सकता था। अविद्याके कारण मैं अपनेको पृथक् और चेतन मानता हूँ। जबतक अविद्या है तभीतक मैं अपनेको सक्रिय ब्रह्म समझ सकता हूँ, अपनेको किसी-न-किसी अर्थमें जान सकता हूँ। अविद्याके क्षय होनेपर जाननेकी सम्भावना ही नहीं हो सकती। माया वह अद्भुत, अनिर्वचनीय, अप्रतिम अविद्या है जिसमें यही नहीं होता कि निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय प्रतीत हो वरन् उसके बिना ब्रह्मकी प्रतीति हो ही नहीं सकती थी; मायाके द्वारा ब्रह्म

कुछका कुछ ही नहीं जाना ज़ाता प्रत्युत जाना भी जाता है।

तर्क इस बातको कुछ-कुछ तो पकड़ सकता है, परन्तु मायाको बुद्धिमें पूर्णतया खींच लाना उसके सामर्थ्यकी बात नहीं है। यह गाँठ तभी खुलती है जब समाधिमें चित्तके स्तरके ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार किया जाता है। उस अवस्थामें सब संशय आप ही उच्छिन्न हो जाते हैं।

३. अव्याकृताधिकरण

चित्तको ब्रह्मकी उपाधि कहा गया था, परन्तु माया चित्तका हेतु है। इसलिए ब्रह्मकी उपाधि माया है। मायाके द्वारा ब्रह्म प्रतीत होता है, परन्तु अपने स्वरूपसे नहीं। उसकी अयथा प्रतीति होती है। जहाँ श्वेत प्रकाश पड़ रहा हो वहाँ यदि कोई छाया डालनेवाली वस्तु आ जाती है तो वह प्रकाश विच्छिन्न-सा हो जाता है। श्वेत प्रान्तोंके बीच-बीचमें अँधेरे प्रान्त आ जाते हैं। इस प्रकार एक श्वेत क्षेत्र कई टुकड़ोंमें बँट जाता है और चितकबरा चित्र बन जाता है। इसी प्रकार माया ब्रह्मको एकसे अनेक बना देती है। इसलिए मायोपहित ब्रह्मको मायाशबल ब्रह्म भी कहते हैं। मायाशबल ब्रह्मकी परमात्मा संज्ञा है।

मेरे सामने रस्सीका टुकड़ा पड़ा है। यह हो सकता है कि मैं किसी कारणसे उसे न देखूँ या भ्रमसे उसे सर्प मान लूँ, परन्तु मेरे न देखने या अन्यथा देखनेसे उसके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह जैसा था वैसा ही है। जो सर्प मुझको प्रतीत हो रहा है वह मेरे लिए भयावह भले ही हो, परन्तु है वह रस्सी ही। इसी प्रकार परमात्माकी अभिव्यक्ति मायाके कारण होती है, परन्तु वह ब्रह्मसे सर्वथा अभिन्न है। वह मायाके पर्देमें ब्रह्म है।

ब्रह्म होते हुए भी वह ब्रह्मसे व्यतिरिक्त, भिन्नरूपी, प्रतीत होता है। ब्रह्म चिन्मात्र है, परन्तु परमात्मा चेतन है। ब्रह्म ज्ञातृत्व है, परन्तु परमात्मा ज्ञाता है। ज्ञातृत्वके साथ-साथ भोक्तृत्व-कर्तृत्व भी रहते हैं, परन्तु परमात्मामें अभी यह दोनों स्फुटित नहीं हुए हैं। इसलिए अभी वह ज्ञातामात्र है।

असम्प्रज्ञातमें, आत्मसाक्षात्कारकी अवस्थामें, चित्त नहीं रहता। उस अवस्थामें व्यक्ति अपने शुद्ध ब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है। इससे एक सीढ़ी नीचे, सम्प्रज्ञात समाधिकी चोटीकी अवस्थामें, अस्मिता—मैं हूँ—इतनी प्रज्ञा रहती है। आत्मा अपने आपको जानता है, चित्तमें अपनेको प्रतिबिम्बित देखता है क्योंकि परिशोधित चित्तमें अब और कोई विषय नहीं रह गया है। सम्प्रज्ञात समाधिके इस शिखरपर पहुँचकर अपने परमात्मरूपका अनुभव होता है।

सुषुप्तिकी अवस्थामें चित्तका लय-सा हो जाता है, हल्का-सा ज्ञान रहता है, परन्तु उसके साथ भोक्तृत्व और कर्तृत्वका पता नहीं चलता। संस्कार भी दब जाते हैं। जाग्रत् और स्वप्नमें जो बातें एकको दूसरीसे पृथक् करनेवाली होती हैं वह तिरोहित हो जाती हैं। इसलिए मूर्ख और पण्डित, राजा और रङ्क, सोनेमें सब एक-से हो जाते हैं। परमात्मावस्था इसके सदृश है। ज्ञान है, परन्तु न इच्छा है, न सङ्कल्प, न कोई संस्कार है।

ज्ञानके लिए विषय होना चाहिये। जब परमात्मा ज्ञाता है तो वह कुछ जानता होगा, परन्तु उसके सिवाय और है क्या जिसको वह जाने? इसलिए परमात्मा अपने आपका ज्ञाता है। उसके ज्ञानका रूप अस्मिता—मैं हूँ—है।

परन्तु ज्ञानके लिए चित्तरूपी साधन भी चाहिये। अस्मिताका अनुभव निरोधप्राग्भार चित्तमें, ऐसे चित्तमें जो अब निरुद्ध होनेवाला है, जो सब संवितों, प्रत्ययों और संस्कारोंके ऊपर उठ चुका है, होता है। परमात्माके अस्मिता-ज्ञानके लिए भी ऐसा ही निर्मल चित्त चाहिये। परन्तु हम देख चुके हैं कि चेतनाके सक्रिय रूपका नाम चित्त है। चेतना ब्रह्म है और परमात्मा उसका सक्रिय रूप है। अतः परमात्मा ही अपना चित्त है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा ही ज्ञाता है और परमात्मा ही ज्ञानका साधन संस्कारादिरहित निर्मल सूक्ष्म चित्त है। इस आदिचित्तरूपी ब्रह्ममें ब्रह्मका जो प्रतिबिम्ब है वह परमात्मा है।

परमात्माकी ईश्वर और हिरण्यगर्भ दो और संज्ञाएँ हैं।

ईश्वर शब्दको देखकर चौंकना न चाहिये। ईश्वराधिकरणमें जिस ईश्वरका खण्डन किया गया था उसमें और इसमें अन्तर है। न यह जगत्का कर्ता-भर्ता-हर्ता है, न आरम्भक है, न पुण्यपापका निर्णायक है, न पुरस्कर्ता या दण्डधर है। यह शास्त्रीय दृष्टिसे दुर्भाग्यकी बात हो सकती है कि हमको दो अर्थोंमें एक ही शब्दका प्रयोग करना पड़ता है। वह ईश्वर बुद्धिनिर्माण था, परन्तु यह ईश्वर परमात्मा है। यदि निर्माण शब्दका अस्थाने प्रयोग करना ही हो तो इसको मायानिर्माण कहना होगा।

जब परमात्माको चित्तरूपसे निर्दिष्ट करना होता है उस समय उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। यह वह चित्त है जिसमें अभी कर्तृत्व-भोक्तृत्व व्यक्त नहीं हुए हैं और संवित् नहीं उठ रहे हैं।

परमात्मा—ईश्वर—हिरण्यगर्भमें सारा जगत् है पर अभी व्याकरण—पृथक्करण—नहीं हुआ है। एक चित्त है, एक अनुभूति है। इसलिए परमात्माको अव्याकृत कहते हैं।

जीवात्मा-परमात्मामें कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा प्रत्यगात्मा और ब्रह्ममें है। हम जब व्यष्टिकी दृष्टिसे देखते हैं तो चेतना प्रत्यगात्मा कहलाती है। हम अपने शरीरके भीतर चित्तकी सत्ता मानते हैं और इस चित्तके प्रेरक होनेके नाते चेतनाको प्रत्यगात्मा कहते हैं। परन्तु चेतना एक और अखण्ड है। इस दृष्टिसे वह ब्रह्म है। इसी प्रकार अपने चित्तसे परिच्छिन्न चेतनाको हम जीवात्मा कहते हैं। आदि-चित्तसे विशिष्ट ब्रह्म परमात्मा है। प्रत्यगात्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, इसी प्रकार जीवात्मा, जब उसका चित्त अस्मितामात्रनिर्भासी रह जाता है, परमात्मासे अभिन्न हो जाता है।

जीवात्माको परमात्माका अंश नहीं कह सकते। अंश-अंशी-सम्बन्ध वहाँ होता है जहाँ कोई व्यवच्छेदक हो। परमात्मा अकेला है, उसका कोई विभाजक नहीं है, इसलिए उसके अंश नहीं हो सकते। ऐसे शब्दोंका प्रयोग केवल लाक्षणिक शैलीकी दृष्टिसे न्याय्य हो सकता है, परन्तु इनको वस्तुसूचक मान बैठनेसे विकल्प उत्पन्न होता है।

एक ही बातको बार-बार दुहराना अच्छा नहीं लगता, परन्तु

कभी-कभी वीप्साके बिना काम नहीं चलता। इसलिए उस पुरानी चेतावनीकी ओर फिर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। ब्रह्ममाया-परमात्माके सम्बन्धको बुद्धिगत करना कठिन होता है। उसको समझानेके लिए हमको 'है', 'था', 'हुआ' जैसे कालवाची शब्दोंसे काम लेना पड़ता है, परन्तु उस अवस्थामें न काल था, न क्रम था। ब्रह्म और परमात्माके बीचमें मायाका झीना-सा पर्दा है, फिर कौन हुआ ? कहाँ हुआ ? कब हुआ ? कहीं कुछ नहीं हुआ, जो जैसा था वह वैसा ही रहा और है, परन्तु मायाके कारण परिणाम-बोधक शब्दोंका प्रयोग भी क्षम्य हो जाता है। समाधि-भाषामें इन बातोंको कहीं-कहीं यों कहा है कि एक अनिर्वचनीया त्रिपुरा शक्ति है। वह महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली, तीन रूपोंवाली है, परन्तु वस्तुतः यह तीनों रूप अलग-अलग नहीं हैं; सदैव एक-दूसरेसे और पराशक्तिसे अभिन्न और अभेद्य हैं। वह शिव नामक पुत्रका प्रसव करती है और फिर उसको अपना पति बनाती है। वह युगपत् दो काम करती है : नीचे गिराती है और ऊपर उठाती है, मोहमें डालती है और मोहसे छुड़ाती है। उसके दर्शनार्थी ज्यों-ज्यों उसके पास आते हैं त्यों-त्यों उनका पुंस्त्व छूटता जाता है और वह स्त्री होते जाते हैं। और पास बढ़नेपर उनके भेद मिटते जाते हैं, सब एक-से होते जाते हैं। बहुत निकट पहुँच जानेपर उनको अपनी सत्तामात्रका तो कुछ भान होता है, और कुछ प्रतीति नहीं रह जाती। इसके बाद वह उसमें खो जाते हैं, तद्रूप हो जाते हैं। उस अवस्थामें उनकी अपनी सत्ता भी विलीन हो जाती है। सुननेमें तो यह कहानी-सी है, परन्तु इसके भीतर गूढ़ रहस्य भरा है। बात अनुभवगम्य है, परन्तु तर्ककी अपेक्षा कहानीके रूपमें उसको व्यक्त करना कुछ अधिक सुगम प्रतीत होता है।

यहाँ चेतना और माया, दोनोंके लिए अनिर्वचनीया विशेषण आया है। ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्वको महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली कहा गया है। परमात्मा शिवतत्त्व है, वह माया और चेतनाकी सन्तति है, परन्तु उसमें तीनों सामर्थ्य विद्यमान है। वह हिरण्य-गर्भ—

चित्तके सूक्ष्मतमरूप, निर्मल बुद्धि—से काम लेता है। अतः शक्तिका स्वामी, पति, भी कहा जा सकता है। परा शक्तिको वेदोंमें स्वधा—अपने आपको धारण करनेवाली, निराधारा—भी कहा है। वह ब्रह्मके स्वरूपको छिपा देती है, इसलिए अविद्यारूपा है; उसीके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है, इसलिए विद्यारूपा है। जो साधक परतत्त्वका अन्वेषण करना चाहता है वह धीरे-धीरे अपने संस्कारादिको छोड़ता जाता है। इसलिए उन बातोंका परित्याग होता जाता है जो एक जीवको दूसरेसे भिन्न दिखलाते हैं। सब ऐसे जीव एक-से होने लगते हैं और उनके तथा उनके स्वरूपके बीचका पर्दा झीना होने लगता है। सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तमें केवल अस्मिता रह जाती है। इसके आगे अपनी अलग सत्ता खो जाती है। मायाका पर्दा हट जाता है, अनिर्वचनीया आद्या—शुद्ध चेतना—मात्र रह जाती है, चेतन अपने शुद्ध स्वरूप, चितिमें स्थित हो जाता है।

पाँचवाँ अध्याय

नानात्वका प्रसार

हम दो प्रश्नोंके उत्तर तो दे चुके हैं। अब तीसरा प्रश्न अवशिष्ट रहा है। यह विचार करना है कि सक्रिय होनेके बाद ब्रह्मको संवित् कैसे होने लगे।

१. विराडधिकरण

हमने हिरण्यगर्भको आदिचित्त कहा है। उसकी प्रजापति संज्ञा भी है। उसमें और साधारण चित्तोंमें कई भेद हैं। एक तो वह संस्कार-विहीन है और उसमें शब्दादि संवित् नहीं उठते। न उसमें सुख है, न दुःख। दूसरे, वह ज्ञानप्रधान है; शुद्ध, निर्मल, बुद्धिस्वरूप है।

हम अबतक ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्वको कहीं योग्यता और कहीं सामर्थ्य कहते आये हैं। यह दोनों शब्द समानार्थक हैं, परन्तु यह ज्ञातृत्वादिके सक्रिय रूपका बोध नहीं करा सकते। जिस समय सामर्थ्यसे काम लिया जा रहा हो उस समय वह शक्ति-रूप हो जाता है। हिरण्य-गर्भमें ज्ञातृत्व शक्तिके रूपमें है, इस शक्तिके द्वारा ईश्वर अपना ज्ञाता है।

परन्तु तीनों योग्यताएँ साथ-साथ रहती हैं, क्योंकि चेतना एक पदार्थ है। जब एक योग्यता सक्रिय हुई तो शेष दोनों चिर सुप्त नहीं रह सकती थीं। उनका भी सक्रिय होना, योग्यतासे शक्तिका रूप धारण करना, अनिवार्य था। हिरण्यगर्भमें ज्ञानके साथ-साथ इच्छा और सङ्कल्पकी अभिव्यक्ति होना रुक नहीं रुकता था। परन्तु जिस प्रकार ज्ञानके लिए विषय चाहिये उसी प्रकार इच्छा और सङ्कल्पके लिए भी

विषयका होना अनिवार्य है। ज्ञानका विषय तो परमात्मा था, परन्तु इच्छा और संकल्प किस विषयके प्रति होते? प्रियसे प्रिय वस्तु हो, परन्तु यदि वह निरन्तर ज्ञानका विषय रहेगी तो वह इच्छा और सङ्कल्पका आस्पद नहीं बन सकती। अतः हिरण्यगर्भकी सद्यः जागरित इच्छा और सङ्कल्प-शक्तियाँ तृप्त नहीं हो सकती थीं।

इस अतृप्तिसे हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो उठा। इसको वैदिक वाङ्मयमें यों कहा है कि हिरण्यगर्भने तप किया। अबतक वह उस निर्मल निश्चल जलके समान था जिसमें चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता रहता है। जब जल तरंगित हो उठता है तो एकके अनेक प्रतिबिम्ब हो जाते हैं। जितना ही जलका क्षोभ होता है उतने ही प्रतिबिम्ब बनते हैं और फिर सब एक-से नहीं होते। कोई सीधा, कोई टेढ़ा, कोई बड़ा, कोई छोटा देख पड़ता है। इसी प्रकार अबतक ब्रह्मका जो एक प्रतिबिम्ब हिरण्यगर्भमें पड़ रहा था वह अनेक हो गया। इसी बातको उपनिषदोंमें यों कहा है कि उसने इच्छा की कि मैं एकसे अनेक हो जाऊँ। जहाँ एक परमात्माकी प्रतीति होती थी वहाँ अनेक जीवात्मा प्रतीत होने लगे। जीवात्माको पुरुष भी कहते हैं।

जीवात्माओंकी समष्टिको विराट् या विराट् पुरुष कहते हैं। यों तो परमार्थदृष्ट्या जो ब्रह्म है वही परमात्मा है, वही विराट् है और वही जीवात्मा है, परन्तु जीवात्मा अपनेको पृथक् मानता है इसलिए जहाँ परमात्मा अव्याकृत है वहाँ विराट् व्याकृत है।

२. प्रधानाधिकरण

समुद्र एक है। जबतक उसमें एक चन्द्रमा देख पड़ता है तबतक उसकी अखण्डता बनी रहती है। परन्तु जब उसमें कई प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक-एक प्रतिबिम्बके चारों ओर समुद्रका एक खण्ड है। यह खण्ड कल्पित हैं, परन्तु जबतक समुद्र क्षुब्ध रहता है तबतक खण्ड-बुद्धि भी रहती है। जलखण्ड चन्द्रबिम्बोंको

सीमित करते हैं और चन्द्रबिम्ब जलखण्डोंको पृथक् करते हैं। क्षुब्ध हिरण्यगर्भमें अनेक जीवात्मा हो गये और प्रत्येक जीवात्मामें चेतनाको विशिष्ट करनेवाला चित्त था। यह चित्त अविभाज्य और अविभक्त हिरण्य-गर्भके अविद्याजनित अंश थे। जबतक जीवोंकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती रहेगी तबतक पृथक् चित्त भी रहेंगे। यदि हिरण्यगर्भ फिर अक्षुब्ध हो जाय, जैसा कि सम्प्रज्ञात समाधिके पूर्ण होनेकी अवस्थामें होता है, तो फिर एक प्रतिबिम्ब, परमात्मा, रह जाय और हिरण्यगर्भमें भेदोंकी प्रतीति-का होना बन्द हो जाय। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक प्रत्येक जीवात्मा-में एक चित्त होगा, क्योंकि परिभाषाके अनुसार चित्तविशिष्ट चेतनाको जीव कहते हैं। इन पृथक् चित्तोंकी समष्टिको प्रधान कहते हैं। प्रधान और हिरण्यगर्भमें अन्तर यह है कि जो चित्त जीवविशेषके साथ बँधे होनेके कारण एक-दूसरेसे पृथक् हैं उनकी समष्टि अयुतसिद्धावयव वस्तु नहीं हो सकती। सब एक-दूसरेसे स्वतन्त्र हैं, एकको दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। इनको मिलाकर एक नाम देना उतना ही युक्तियुक्त है जितना सड़कपर अपने-अपने कामोंसे आने-जानेवालोंको मिलाकर भीड़ या किसी ऐसे ही नामसे पुकारना।

चित्तकी शक्तियोंको गुण भी कहते हैं। सक्रिय ज्ञातृत्वका नाम सत्त्व-गुण, सक्रिय भोक्तृत्वका तमोगुण और सक्रिय कर्तृत्वका रजोगुण है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि तीनों गुणोंकी साम्यावस्था प्रधान है। साम्यावस्था वह अवस्था हुई जिसमें कोई भी गुण सक्रिय न हो, परन्तु उस अवस्थामें चित्त हो ही नहीं सकता। चित्त न होनेका अर्थ यह है कि पुरुषोंका नानात्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि गुणोंकी, ज्ञातृत्वादिकी, सक्रियता ही जीवपार्थक्यका हेतु है। जिस अवस्थामें पुरुषोंका नानात्व होगा उसमें साम्यावस्था नहीं हो सकती। पुरुषका असम, क्षुब्ध, चित्तसे ही सान्निध्य हो सकता है।

इसके बाद जगत् प्रपञ्चका जो विस्तार हुआ है वह, जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्रधानमेंसे ही निकला है। प्रधान उसका उपादान है, इसलिए

उसको मूलप्रकृति भी कहते हैं। अन्य सब पदार्थ, जिनका उल्लेख आगे होगा, प्रधानकी विकृति हैं।

पुरुष और प्रधानके स्वरूपके सम्बन्धमें भी वह बात सतत स्मरण रखनी चाहिये जो परमात्मा और हिरण्यगर्भके सम्बन्धमें कही गयी थी। चित्तविशिष्ट चेतना पुरुष या जीवात्मा है, परन्तु सक्रिय चेतनाका नाम चित्त है। यह निष्क्रिय-सक्रियका भेद अविद्याजनित है। जब हमारा ध्यान शुद्ध रूपकी ओर जाता है तो पुरुष शब्दका और जब अविद्या द्वारा प्रतीयमान सक्रिय रूपकी ओर जाता है तब प्रधान शब्दका प्रयोग करते हैं। परमार्थतः जो पुरुष है वही प्रधान है।

३. प्रपञ्चविस्ताराधिकरण

जीवात्माको जो चित्त मिला था वह क्षुब्ध था। उसमें ज्ञातृत्वशक्ति—सत्त्वगुण—पहिलेसे ही जाग चुकी थी, अब शेष दोनों शक्तियाँ—दोनों गुण—भी उद्‌बुद्ध हो चुकी थीं। सत्त्वगुणके लिए तो विषय था; रज और तम विषयहीन, अतः अतृप्त थे।

जीवके चित्तमें जो ज्ञान था वह जीवविषयक था। जीव अपनेको जानता था, किन्तु यह ज्ञान परमात्मावस्थाके अस्मिता—मैं हूँ—रूपी ज्ञानसे भिन्न था। जीवके ज्ञानमें विशेषता यह थी कि वह अपनी पृथक् सत्ताको जानता था। पार्थक्यका ज्ञान तभी होता है जब अपनी सत्ताके साथ-साथ अपनेसे भिन्न किसी पृष्ठभूमिका भी ज्ञान रहता है। यह भले ही स्पष्ट न हो कि अपने सिवाय क्या है, परन्तु कुछ है, ऐसा प्रतीत हुए विना पार्थक्यकी अनुभूति नहीं हो सकती। जीवको इस अवस्थामें जो ज्ञान हो रहा था वस्तुतः उसके तीन अङ्ग थे—

मैं है—अहम् है—अस्मत् है।

न-मैं है—अनहम् है—युष्मत् है—मुझसे व्यतिरिक्त कोई पदार्थ है।

मैं न-मैं नहीं है—अहम् अनहम् नहीं है—अस्मत् युष्मत् नहीं है।

मैं और न-मैं एक-दूसरेसे भिन्न परन्तु सम्बद्ध थे। एक दूसरेका परिच्छेदक था, एकके कारण दूसरेका ज्ञान हो रहा था। जिस अवस्थामें

चित्तमें सत्त्वगुण प्रबल होता है उस समय उसे बुद्धि कहते हैं। जीवात्मा बुद्धिसे अपना ग्रहण कर रहा था और बुद्धिसे ही अपनेको न-मैंसे भिन्न जान रहा था। मैं और न-मैंमें विवेक करना बुद्धिका उस प्रकारका व्यापार है जिसे अध्यवसाय कहते हैं।

न-मैं अभी अज्ञात था। इच्छाशक्ति उसे ज्ञान और अवधारणका विषय बनाना चाहती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि मैंके सम्बन्धमें उसको जाना जाय, मैंके साथ उसका सम्बन्ध जाना जाय। इसका परिणाम यह होता कि न-मैं समझमें आता और परिच्छेदकके स्पष्ट हो जानेसे मैंका स्वरूप भी अधिक स्पष्ट होता। गहरे अन्धकारमें प्रकाश अच्छा देख पड़ता है। इच्छाकी पूर्तिके लिए प्रयत्न हुआ। बुद्धिसे अहङ्कार उत्पन्न हुआ। अहङ्कार एक ओर तो न-मैंको मैंके साथ सम्बद्ध करता है, दूसरी ओर मैंकी पृथक्ताको और तीव्र करता है।

कुछ और कहनेके पहिले दो बातोंकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहिली बात यह है कि न-मैंकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। चेतनाके लिए कोई उपाधि है तो अविद्या। उसका कोई और परिच्छेदक नहीं है। अविद्याके कारण ही पृथक् जीवात्मभाव हुआ है और फिर इस पार्थक्यको समझनेके लिए न-मैंकी खोज हुई है। न-मैं बुद्धिनिर्माण है या यों कह सकते हैं कि अविद्याकी ही न-मैंके रूपमें प्रतीति हो रही है। दूसरी बात यह है कि परमात्मावस्थातक तो अनुभूतिक्रम नहीं था, इसलिए काल भी नहीं था। परन्तु जीवात्माके चित्तमें अनुभूतियोंका पटपरिवर्तन होने लगा है। अब अनुभवमें क्रम है, चित्तमें परिणाम होने लगे हैं, इसलिए जीवात्मा कालके क्षेत्रमें है।

अभी न-मैंका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो रहा था। इसलिए सक्रिय इच्छा और संकल्प-शक्तियोंने अहङ्कारको उस दशामें न रहने दिया। वह परिणत हुआ और परिणामस्वरूप उसमेंसे कई पदार्थ निकले। पहिले पदार्थको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मानी जाती हैं। हम इनका विवेचन पहिले कर चुके हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और

घ्राण। इन शब्दोंका अर्थ कान, चर्म, आँख, जिह्वा और नाक नहीं है। कान आदि तो क्रमात् इन्द्रियोंके शारीरिक अधिष्ठान हैं अर्थात् शरीरके वह भाग हैं जहाँसे इन्द्रियाँ काम करती हैं। इन्द्रिय चित्तकी न-मैं-ग्राहक शक्ति है, वह शक्ति है जिसके द्वारा न-मैं खींचकर चित्तमें लाया जाता है, ज्ञानका विषय बनाया जाता है। जब विषय चित्तके सामने आ गया तब तो ज्ञानेन्द्रियाँ उससे निपट लेंगी, परन्तु कभी-कभी उसको चित्तका विषय बनानेके लिए और बराबर बनाये रखनेके लिए विशेष प्रयास करना पड़ता है। कभी उसको चित्तका अविषय बनानेके लिए भी प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार उसके सम्बन्धमें ज्ञान भी बढ़ता है और भोक्तृत्व-शक्ति भी कृतार्थ होती है। अतः अहङ्कारसे ज्ञानेन्द्रियके साथ कर्मेन्द्रिय निकली। ज्ञानेन्द्रियके द्वारा विषयकी चित्तपर क्रिया होती है, कर्मेन्द्रियके द्वारा विषयपर चित्तकी प्रतिक्रिया होती है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं—वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु। मनुष्यके शरीरमें जिह्वा, हाथ, पाँव, जननेन्द्रिय और गुदस्थान इनके अधिष्ठान हैं। एक और इन्द्रिय निकली जिसे मन कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। मन वह काम करता है जो बड़े नगरोंमें टेलिफोन एक्सचेंजसे लिया जाता है। सब तार वहीं आकर मिलते हैं। यदि 'क'को 'ख'से कोई बात कहनी होती है तो वह सन्देशा एक्सचेंजमेंसे होकर जाता है। ज्ञानेन्द्रियाँ जो ज्ञान भीतर लाती हैं और कर्मेन्द्रियाँ जो संकल्प बाहर ले जाती हैं, सब मनमें मिलते हैं। विषयका जो स्वरूप ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा अधिगत होता है उसे संवित् कहते हैं। वह—संवित्—मनमें होता है। फिर अहङ्कार उसको पुराने ज्ञानभण्डारसे मिलाता है, मैंके साथ उसको सम्बद्ध करता है, तब बुद्धि अध्यवसाय करती है। यदि वह भोगानुकूल प्रतीत हुआ तो उसे ज्ञानका विषय बनाये रखनेके लिए, अन्यथा ज्ञानका अविषय बनानेका प्रयास होगा। यह संकल्प बुद्धिसे मनके द्वारा कर्मेन्द्रियोंतक पहुँचता है। मन संवित् और संकल्पके बीचका सम्बन्ध-सूत्र है।

न-मैंकी सत्ताका ज्ञान तो जीवात्माको आरम्भसे ही था, किन्तु वह

ज्ञान अस्पष्ट, असम्पूर्ण था। उसको पूर्ण करनेके लिए ही चित्तकी आकुलता उसको परिणत कर रही थी और ज्ञानेन्द्रियादिकी उत्पत्ति कर रही थी। इसलिए इनके साथ ही अनहम्—न-मैं—का प्रथम स्पष्ट ज्ञान भी उत्पन्न हुआ। चित्तमें श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा प्रथम संवित्—शब्द—की उत्पत्ति हुई। संवितोंको तन्मात्रा भी कहते हैं, क्योंकि उनके द्वारा उसका—अज्ञात न-मैं, युष्मत्—का मान, ज्ञान, होता है।

४. आदिशब्दाधिकरण

मूलप्रकृतिसे हम इन्द्रिय, मन और शब्द तन्मात्रातक पहुँचे हैं। विकासकी यह अवस्था उस भौतिक जगत्का प्रवेश-द्वार है जिससे हम परिचित हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय और शब्दके सम्बन्धमें न केवल अशिक्षितों प्रत्युत पण्डितोंमें भी बहुत भ्रम फैला हुआ है। इस भ्रमका कारण यह है कि निगमागम पढ़ तो लिये जाते हैं, परन्तु उनके अर्थको समझानेका प्रयत्न नहीं किया जाता। निदिध्यासन करनेका तो नाम भी नहीं लिया जाता। सम्यक्रूपेण मनन भी नहीं होता। इसलिए वाग्जालका विस्तार बढ़ता जाता है, विकल्प-परिवारमें वृद्धि होती जाती है और एक ओर शास्त्र हास्यास्पद बन जाता है, दूसरी ओर पढ़ने-पढ़ानेवाले सत्यसे दूर होते चले जाते हैं।

शब्दका अर्थ स्वन—उस प्रकारका संवित् जो दो क्षैत वस्तुओंके टकरानेपर होता है—माना जाता है और श्रवणेन्द्रिय उसका ग्राहक मानी जाती है। यह बात ठीक है, परन्तु स्वनका क्षेत्र तो बहुत संकुचित है। वैज्ञानिक प्रयोगोंसे सिद्ध है कि यदि किसी प्रकारके आघातके कारण कोई वस्तु प्रकम्पित हो उठे और उसके चारों ओर कोई ऐसा ठोस या तरल माध्यम हो जो हमारे कानतक पहुँचता हो तो उस माध्यममें एक प्रकारकी लहर उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हमको स्वन-संवित् होता है। हमारे नाडिसंस्थानकी बनावट ऐसी है कि यदि वस्तुका कम्पन

लगभग सोलह बार प्रति सेकेण्डसे कम या लगभग पचास हजार प्रति सेकेण्डसे अधिक हो तो स्वन नहीं सुन पड़ता। जहाँ कोई ठोस या तरल माध्यम नहीं है वहाँ कम्पन भले ही हो, परन्तु स्वन नहीं आ सकता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिसे हमको प्रकाश मिलता है, स्वन नहीं। किन्तु पोथियोंके आधारपर पण्डित-सम्प्रदाय शब्दका सम्बन्ध आकाशसे जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पड़ता है।

जो स्वन कानसे सुन पड़ते हैं, चाहे वह मनुष्य या पशुपक्षीकी बोली-के अङ्ग हों या आहत जड़ वस्तुओंसे उत्पन्न होते हों, उनको हम मुँहसे भी बोल सकते हैं। ऐसे स्वनोंके समूहको वैखरी वाणी कहते हैं, परन्तु जिसको दर्शनमें शब्द कहते हैं वह वैखरीसे अधिक है।

चित्त क्षुब्ध था, चञ्चल, अस्थिर था। तीनों गुण, तीनों शक्तियाँ, जाग्रत् थीं। एकका तिरोभाव, दूसरेका प्रादुर्भाव हो रहा था। यही चित्त-के परिणामी, परिवर्तनशील होनेका हेतु है। न-मैंको पूर्णतया जानने और भोगनेके लिए आकुलता थी। यह न-मैं चित्तके बाहर कहीं नहीं था; जैसा कि हम पिछले अधिकरणमें कह आये हैं, बुद्धिनिर्माणमात्र था, फिर भी उस अवस्थामें चित्त उसे विषय बनाना चाहता था, उसको समझना चाहता था। जिसके जाननेके लिए उत्सुकता थी, तनाव था, वह स्वयं चित्तके भीतर था। इसलिए जब वह पहिले-पहिले जाना गया तो चञ्चलताके रूपमें। अपनी चञ्चलताका निपेक्ष न-मैंमें करके चित्तने पहिले यह जाना कि न-मैं चञ्चल, अस्थिर है। पहिला संवित् अस्थिरता, परिवर्तनशीलता-का हुआ। इसीका नाम शब्द है। जो इन्द्रिय इसका ग्रहण करती है उसका नाम श्रोत्रेन्द्रिय है।

यह अस्थिरता उन सब पदार्थोंमें भी है जिनसे हमको स्वन नहीं मिलते। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ प्रत्येक क्षणमें शब्दायमान है, परन्तु हमारी श्रोत्रेन्द्रियको जिस शरीररूपी उपकरणसे काम लेना पड़ता है वह इस शब्दसमूहके अधिकांशको अगृहीत बना देता है। केवल वह थोड़ा-सा भाग सुन पड़ता है जो इस शरीरके ही समान छोटे-बड़े

पिण्डोंके आहत होनेपर निकलता है। स्वन ही एक ऐसा संवित् है जिससे हमको वस्तुओंकी चञ्चल अवस्थाका परिचय मिलता है। योगियोंका ऐसा कहना है कि जब प्राण किञ्चित् ऊर्ध्वमुख होता है तो इन्द्रियोंका शरीरगत बन्धन भी शिथिल पड़ जाता है। उस समय श्रोत्रेन्द्रिय अनाहत शब्द—बिना आघातके, सहज शब्द—का ग्रहण करती है। उस समय भौतिक पदार्थोंकी सहज चञ्चलताका संवित् होता है। यह संवित् उन रूपादि दूसरे संवितोंके अतिरिक्त है जो हमको भूतोंसे प्राप्त होते हैं। उस आदिम अवस्थामें तो कोई भूत नहीं था, कोई दूसरा संवित हो नहीं सकता था, केवल शब्द था। श्रोत्रेन्द्रिय उसके मूल रूपका ग्रहण कर रही थी। मूल रूप इसलिए कहता हूँ कि भौतिक वस्तुओंमें चञ्चलताके भी स्वभावतः अनेक भेद पाये जाते हैं, इसलिए वैखरी वाणीमें व्यञ्जनीय स्वरोंसे लेकर अहङ्कारसे निकले आदिशब्दतक स्थूल-सूक्ष्म शब्द-संवितोंकी अपार राशि है। हमारे सारे गानवाद्य उसके सामने तुच्छ हैं। आदि-शब्दको योगियोंने अनेक नाम दिये हैं। वही आदिशब्द, उद्गीथ, प्रणव, स्फोट, तार, अजपा, नाद, सत्यनाम, परावाणी, गगनगिरा, नीरवताकी बोली, लोगॉस और सुल्तानुल अज़कार है।

आदिशब्दको ॐकार भी कहते हैं। ॐकारके अ, उ और म् तीन अङ्ग कहे जाते हैं। इन तीन अक्षरोंके अनेक प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। इस सम्बन्धमें लोगोंने बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिख डाली हैं। परन्तु यह सब शास्त्रार्थकी बातें हैं, जिनमें उलझकर नासमझ अपना समय नष्ट करते हैं। सच्चा ॐकार वह है जो अनुच्चार्य है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषत्में लिखा है कि देवगण उद्गीथको जब सब जगह ढूँढ़कर हार गये तब वह उनको प्राणमें मिला।

शब्द समस्त भौतिक जगत्में व्याप्त है इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियोंसे बलवती तथा सूक्ष्मग्राही है। कम्पन तो सोलह बार प्रति सेकेण्डसे कम और पचास हजार बारसे अधिक भी होता होगा, पर हमको उसका पता नहीं लगता। उस अवस्थामें वस्तु हमारे लिए अज्ञात रहती है।

जब कम्पनका वेग बहुत बढ़ जाता है तब तापकी अनुभूति होने लगती है तथा वेग और बढ़नेपर प्रकाशकी। किन्तु यदि वेग बढ़ता ही जाय तो हमारी इन्द्रियाँ जवाब दे देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृतिने हमारे ऐन्द्रिय ज्ञानकी लड़ी कई जगहोंसे तोड़ दी है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। शब्दकी अनुभूति बराबर हो सकती है। आवश्यकता इस बातकी है कि श्रोत्रेन्द्रिय उस दासतासे मुक्त की जाय जो शरीरने उसपर मढ़ दी है। विपत्ति यह है कि चित्त भी उसको वैखरी क्षेत्रके स्वनोंके पीछे दौड़नेसे छुट्टी नहीं देना चाहता।

५. भूतविस्ताराधिकरण

चित्तमें शब्द-संवित् हुआ इसलिए बुद्धिमें यह प्रतीत हुआ कि न-मैं शब्दवान्, चाञ्चल्य—अस्थिरता, परिवर्तनशीलता—लिङ्गवाला है। शब्दलिङ्गी न-मैंका नाम आकाश है। सारी चञ्चलता, सारी अस्थिरता, सारी गतियोंका आस्पद यह आकाश वही पदार्थ है जिसको दिक् नामसे भी पुकारा जाता है। हम द्रव्याधिकरणमें देख चुके हैं कि बुद्धि संवितोंसे उनके हेतुओंका निर्माण किया करती है। आकाश प्रथम बुद्धिनिर्माण था।

न-मैंसे—जो अब शब्दवान् आकाश था—दूसरा संवित् त्वगिन्द्रियके द्वारा प्राप्त हुआ। इसको स्पर्श कहते हैं। स्पर्श और त्वक्के सम्बन्धमें भी कुछ उसी प्रकारकी भूल होती है जैसी शब्द और श्रोत्रके सम्बन्धमें की जाती है। साधारणतः स्पर्शका अर्थ होता है छूना, इसलिए स्पर्शके कठिन और कोमल, दो भेद किये जाते हैं। तापमान-भेदसे स्पर्शको शीत और उष्ण कहते हैं। परन्तु स्पर्शका क्षेत्र इससे व्यापक है। विज्ञानके अनुसार शक्ति एक है। वही कभी तापके रूपमें अनुभूत होती है, कभी प्रकाशके; वही नाड़ियोंमें दौड़ती है, मांसपेशियोंको कार्यकुशल बनाती है, रासायनिक क्रिया कराती है, तार और बेतारको चलाती है। उसके कुछ भेदोंका अपरोक्ष अनुभव हमको होता है, कुछका नहीं। जो अनुभव होते हैं उनको हमने ताप और प्रकाश जैसे नाम दे रखे हैं।

यदि यह बात ठीक है तो हम फिर वही अभियोग प्रकृतिपर लगा सकते हैं कि उसने कई बातें हमसे छिपा रखी हैं। उनको जाननेके लिए कोई इन्द्रिय नहीं है, न इन्द्रियके अभावमें संवित् हो पाता है। वस्तुतः यह अभियोग ठीक नहीं है। संवित् होता है। यह संवित् हमारे साधारण जीवनमें ताप और उससे भी नीचे उतरकर काठिन्यरूपी होता है, पर इसके सूक्ष्म भेद भी हैं, इनका भी ग्रहण त्वगिन्द्रिय करती है। जब वह शरीरके बन्धनसे छुटकारा पाती है तो सूक्ष्म स्पर्शके संवित् होते हैं।

जिस प्रकार शब्दसे आकाशनामा बुद्धिनिर्माण हुआ उसी प्रकार स्पर्श तन्मात्रासे वायु नामका बुद्धिनिर्माण बना। शब्द-स्पर्शवान् न-मैं वायु है। वही प्राण है, वही विद्युत् है, वही वह शक्ति है जो अनेक दूसरे रूपोंसे भौतिक-जगत्को परिचालित कर रही है।

अब अधिक विस्तारसे लिखना अनावश्यक है। वायुसे चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूपसंवित् हुआ और रूपसे शब्द-स्पर्श-रूपवान् तेजनामा बुद्धि-निर्माण बना। तेजसे रसनेन्द्रिय द्वारा रससंवित् हुआ और रससे शब्द-स्पर्श-रूप-रसवान् अप् नामका बुद्धिनिर्माण हुआ। अप्से घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्धसंवित् मिला और गन्धसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धवती क्षिति बुद्धि-निर्माण बनी। इस प्रकार सब भूतोंकी उत्पत्ति हो गयी। फिर तो भूतोंके विभिन्न मात्राओंमें मिलनेसे यह विश्व, यह भौतिक जगत् बना, जो हमारे दैनिक जीवनका क्षेत्र है। भूतोंके मिलनेसे नये संघातोंका बनना और उनके बिखरनेसे पुराने संघातोंका टूटना निरन्तर जारी है। यही हमारा युष्मत् प्रपञ्च है।

भूतोंका यह क्रम आजकलकी वैज्ञानिक विचारधाराके अनुकूल प्रतीत होता है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। परन्तु यदि आगे चलकर वैज्ञानिक सिद्धान्तोंमें कुछ संशोधन हो तब भी दार्शनिक क्रम यही रहेगा। यह हो सकता है कि वैज्ञानिक शोधके और बढ़नेसे हमको भूतोंके स्वरूपको समझनेमें और सहायता मिले। इस स्थलपर इतना जान लेना पर्याप्त है कि भूतोंमें सबका मूल वायु है और उसके स्पर्शसंवित्को ग्रहण

करनेवाली इन्द्रिय त्वक् है। वायुका स्थूलीभूत रूप, जो रूप संवित् द्वारा चक्षुरिन्द्रियग्राह्य है, तेज है। तैजस अवस्थामें तत्त्वोंका विभाग नहीं हुआ है। जब तेज घनीभूत होता है तो पृथक् तत्त्व बनने लगते हैं। उस रूपको अप् कहते हैं और उसके रससंवित्की ग्राहक इन्द्रिय रसना है। पिण्डीभूत अप् क्षिति कहलाता है। उसके गन्धसंवित्का ग्रहण घ्राण इन्द्रिय करती है।

भूतोंकी पारमार्थिक सत्ताके सम्बन्धमें भ्रम न होना चाहिये। अविद्याके कारण जीवात्मा अपनेको जीवात्मा—परिच्छिन्न, पृथक् व्यक्ति—मानता है। अविद्या उसके भीतर है पर वह अपने परिच्छेदकको ढूँढ़ता है, उसको जानना चाहता है। चित्त क्षुब्ध, आकुल होता है, बुद्धिसे अहंकारकी सृष्टि होती है और अहंकारसे इन्द्रियों और मनकी। इन्द्रिय और मनके द्वारा चित्तमें अनेक संवित् होते हैं अर्थात् वह अनेक प्रकारसे उस पदार्थको ज्ञान और भोगका विषय बनाता है जो सदासे उसके भीतर है। प्रत्येक संवित्के अनुसार उस पदार्थ, उस न-मैं, का नया ज्ञान होता है, और बुद्धि उसके विषयमें एक नयी कल्पना करती है। बुद्धिके यह निर्माण ही आकाशादि हैं। ऐसा कह सकते हैं कि जो ज्ञातृत्वादि योग्यतात्रय अपनी साम्यावस्था या शुद्धावस्थामें चेतना, ब्रह्मरूप हैं, वही सक्रिय अवस्थामें चित्त हैं और वही घनीभूत होकर भूत हो गयी हैं। जो ज्ञाता है, वही ज्ञानका साधन है, वही ज्ञेय है। यह त्रिपुटी अविद्याकृत है, जड़चेतनका भेद अविद्याकृत है, अस्मत्-युष्मद्-विभाग अविद्याकृत है।

प्रथम खण्डके सेन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरणमें इस समस्याकी ओर ध्यान आकृष्ट किया गया था कि भौतिक वस्तु और अभौतिक चित्तमें क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार होती है। अब इस बातके समझनेमें कोई कठिनाई न होनी चाहिये। वस्तु संवित् मात्र है और संवित् चित्तका परिणाम है, अतः वस्तु और चित्तका सम्बन्ध वस्तुतः परिणाम और परिणामीका सम्बन्ध है, जिसका होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त जो

पदार्थ चित्त है वही भौतिक वस्तु है। दोनों शक्तित्रयात्मक, गुणत्रयात्मक, अतः सजातीय हैं। सजातीयोंका मिथः प्रभावित होना स्वाभाविक है। दोनोंमें भेद इतना ही होता है कि चित्तमें सत्त्व और रजकी मात्रा अधिक होती है; भूत, विशेषतः क्षितिमें तमकी प्रधानता होती है। इसीलिए वह अपेक्षया जड़ प्रतीत होता है।

६. संविद्वैषम्याधिकरण

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जगत्के विकासका जो क्रम दिखलाया गया है उसके अनुसार सब जीवोंके संवित् एक-से होने चाहिये। इसका उत्तर यह है कि यदि जगत्की उत्पत्तिकी कोई निश्चित तिथि होती तो उससे किसी भी निश्चित कालके बाद सब जीवोंके चित्तोंके एक-से होनेकी सम्भावना हो सकती थी। परन्तु जगत् कहाँ, कब हुआ? उसकी प्रतीति तो अविद्याजनित है। अमुक तिथिसे अविद्या आरम्भ हुई यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अविद्यास्पर्शके लिए कोई हेतु नहीं हो सकता। ब्रह्म जैसा था वैसा है। अविद्या अनादि है। जगत्की उत्पत्ति नहीं हुई, प्रतिक्षण होती है।

जीवात्माकी पृथक् सत्ता नहीं है, परन्तु अविद्याके कारण वह अपनेको पृथक् मानता है। उसकी यह भ्रान्ति अनादि है। आजतक उसने करोड़ों शरीर धारण किये और छोड़े, असंख्य संवितोंका अनुभव किया, असंख्य ज्ञानों, इच्छाओं और सङ्कल्पोंके संस्कार उसके चित्तमें सञ्चित हैं। यह सब होते हुए भी यदि सब जीवोंके चित्त किसी क्षणविशेषमें एक ही अवस्थामें हों तो यह सचमुच आश्चर्यका विषय होगा।

७. जगन्मिथ्यात्वाधिकरण

अस्मत् और युष्मत्की समष्टि ही जगत् है। हमने जगत्का विश्लेषण किया और इस परिणामपर पहुँचे कि अस्मत् और युष्मत्, समस्त जगत्, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, यह सब ब्रह्म है। ब्रह्म चिन्मय है, एक है, अद्वय है, दिक्कालातीत है। वह अवधारणका विषय नहीं है। जहाँतक मैं और

वह—की प्रतीति होती है, समझने और समझानेका अवकाश रहता है, वहाँतक माया, अविद्या है। इसीलिए उपनिषदें कहती हैं—जो उसको जानता है वह नहीं जानता, जो नहीं जानता वह जानता है।

तो फिर क्या जगत् मिथ्या है? इस प्रश्नके दो उत्तर हैं, हाँ और नहीं। जगत् उतना ही सत्य और उतना ही मिथ्या है जितना कि रस्सीमें-का सर्प। रस्सी ही सर्प है इसलिए सर्प सत्य है, वहाँ सर्प नहीं है इसीलिए मिथ्या है। जगत्का जो रूप प्रतीत होता है वह तो मिथ्या है, परन्तु है वह ब्रह्मसे अभिन्न, इसलिए सत्य है।

दार्शनिकके मुँहसे जगत्के मिथ्यात्वकी बात सुनकर कुछ लोग उसपर यह आक्षेप करते हैं कि वह मनुष्योंको निकम्मा बना देता है। मैं निकम्मा-का ठीक-ठीक अर्थ नहीं जानता, परन्तु इतना समझता हूँ कि यह कोई बुरी चीज माना जाता है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो बेचारा दार्शनिक निर्दोष है। वह सच्ची बातमात्र कह देता है, यदि कोई सत्यका दुरुपयोग करता है, तो इसके लिए उसका दायित्व नहीं हो सकता।

फिर भी इस प्रसंगमें दो बातें दार्शनिक कह सकता है। जगत्के स्वरूपको जाने बिना काममें लगे रहना कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं है। यदि दार्शनिकसे जगत्को मिथ्या जानकर लोगोंकी कर्मदिशा बदल जाय तो वह अपनेको कृतार्थ मानेगा। हिरन मरीचिकाके पीछे दौड़ता है; यह क्या बहुत बुद्धिमानीका प्रमाण है? यदि उसे यह विदित हो जाय कि जिसे मैं जल समझ रहा हूँ वह बालू है और ऐसा जानकर वह उधर दौड़ना छोड़ दे, तो क्या उसका यह निकम्मापन निन्दार्ह होगा? तेलीका बैल दिनभर चलता रहता है; क्या उसका यह गतिशील रहना प्रगति, उन्नति, बुद्धिमत्ताका लक्षण है? केवल कुछ करते रहना प्रशंसनीय नहीं हो सकता। जो काम परिस्थितिके अनुकूल है, वही अच्छा है। जो काम परिस्थितिसे असङ्गत है उससे विरत हो जाना, इस दृष्टिसे निकम्मा हो जाना, बुद्धिमानीका सूचक है। बहुत-से ऐसे काम जो जगत्के सत्य होनेकी दशामें उचित होते उसको असत्य जान लेनेपर अकरणीय प्रतीत

होंगे। हिरनको मृगतृष्णिकाकी ओरसे पराङ्मुख होकर सच्चे जलकी खोज करनी चाहिये। जिन कामोंसे ब्रह्मप्राप्तिमें सहायता मिले वह तो ठीक हैं, शेष फँसानेवाले हैं। उनको जितना ही छोड़ा जा सके उतना ही श्रेयस्कर होगा।

परन्तु एक चेतावनी भी देनी है। जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है, कहनेसे काम नहीं चलता। कर्ममात्रका सहसा परित्याग नहीं किया जा सकता। कैसे कर्म करणीय हैं, इस विषयमें हम आगे चलकर धर्माध्यायमें विचार करेंगे, परन्तु कर्मसे हाथ खींच लेनेपर भी चित्तमें वासनाओंका विशाल जगत् बना रहता है। जबतक यह जगत् बना हुआ है तबतक कर्मसे विरत होना निरर्थक है। कर्म इस प्रकार करना चाहिये कि अविद्याका बन्धन क्षीण हो। देह और चित्त भले ही बन्धन हों, परन्तु इनको बन्धन पुकारनामात्र पर्याप्त नहीं है, इनसे बन्धनको ढीला करनेका काम लिया जा सकता है। यदि किनारेपर खड़ा मनुष्य पानीमें गिर पड़ता है तो यह सोचकर नहीं रह जाता कि मेरा पानीमें गिरना मूर्खता थी, मेरा पानीसे क्या सम्बन्ध, मैं तो किनारेका रहनेवाला हूँ। जो ऐसा सोचकर हाथ बाँध लेगा उसे पानी ले डूबेगा। समझदार मनुष्य तैरता है, पानीमें हाथ-पैर मारता है, पानीको ही पानीसे बाहर निकालनेका साधन बनाता है। तभी वह पुनः किनारेपर आ लगता है।

यदि निरर्थक कामोंसे विरत होकर आत्मज्ञान-साधक कामोंमें लगना निकम्मापन हो तो दार्शनिक निकम्मेपनका समर्थक है।

छठाँ अध्याय

नानात्वका सङ्कोच

एक ब्रह्मसे नानात्मक जगत्का प्रसार किस प्रकार हुआ है यह तो हमने देखा। इस सम्बन्धमें यह प्रश्न अगत्या उठता है कि कभी इस नानात्वका संकोच भी होता है या नहीं। चूँकि नानात्व सत्य नहीं है वरन् प्रतीतिमात्र है, इसलिए इस प्रश्नका रूप यह हुआ कि कभी इस नानात्वकी प्रतीतिका लोप होता है या नहीं।

नानात्वकी जड़ अविद्या है, यह जड़ कर्मसे नहीं कट सकती। कर्मके सम्बन्धमें हम अगले अध्यायमें विस्तारसे विचार करेंगे, किन्तु यह स्पष्ट है कि कर्म अविद्याका विरोधी नहीं हो सकता। अच्छेसे अच्छा कर्म हो, पर वह नानात्वके आधारपर ही किया जा सकता है और कुछ-न-कुछ संस्कार छोड़े बिना नहीं रह सकता। संस्कारसे नानात्वकी जड़ और पुष्ट होगी। यदि वासनाके ऊपर उठकर कर्म किया जा सके तब तो वह बन्धनको दृढ़ न करेगा, परन्तु जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता तबतक पूर्ण वैराग्य नहीं हो सकता। जैसा कि हम अगले अध्यायमें देखेंगे, कर्मका बहुत बड़ा महत्त्व है। इस महत्त्वकी ओर प्रथम खण्डके चित्तप्रसादाधिकरणमें सङ्केत किया गया है। परन्तु कर्म स्वतः अविद्याको मिटा नहीं सकता।

श्रवण और मनन—सच्छास्त्र-विचार, दार्शनिक वाङ्मयका अनुशीलन—भी अविद्याको दूर नहीं कर सकता। शास्त्र जगत्की असारताको समझा सकता है, उसकी ब्रह्मसे अभिन्नताको समझा सकता है, परन्तु समझना एक बात है, अनुभव करना दूसरी बात है। समझना-समझाना नानात्वके भीतर होता है। शास्त्रमें ब्रह्म ढूँढ़ना भुसमें अन्न ढूँढ़ना है।

तर्कसे अतर्क्यको पकड़नेका प्रयास करना कनिष्ठासे सूर्यको स्पर्श करनेके प्रयत्नसे भी बढ़कर दुःसाहस है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनन व्यर्थ है। वह चित्तको अनुकूल बनानेमें और दूसरोंके अनुभवसे लाभ उठानेमें सहायक होता है। जो आत्मसाक्षात्कारकी कोटितक नहीं पहुँचा है उसके लिए स्वाध्याय—शास्त्रानुशीलन—और मनन बहुत ही आवश्यक है, पर इससे भी नानात्व दूर नहीं होता।

अविद्याका प्रतिषेध विद्यासे होता है। जो नानात्व अविद्यासे उत्पन्न हुआ है वह विद्यासे ही जा सकता है। विद्याके दो भेद हैं, परा और अपरा। अपरा विद्या शास्त्र और योगिजनके उपदेशसे आरम्भ होती है। उससे नानात्व-बुद्धि धीरे-धीरे क्षीण होती है और जगत्का वास्तविक रूप कुछ-कुछ समझमें आने लगता है। अपरा विद्याके ही भीतर वह अनुभव हैं जो सम्प्रज्ञात समाधिमें होते हैं। समाधिकी भूमिकाओंमें ज्यों-ज्यों गति होती है त्यों-त्यों नानात्व पतला पड़ता जाता है। अस्मिता समाधिके अन्तमें नानात्व और अपरा विद्या, दोनोंका साथ ही अन्त हो जाता है। अपरा विद्या वह आग है जो कूड़े-करकटको जलाकर आप भी शान्त हो जाती है। आत्मसाक्षात्कार परा विद्या है जिसमें माया पूर्णतया शान्त हो जाती है।

इस अवस्थाको नयभेदसे कई नामोंसे पुकारते हैं। अविद्याके बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है इसलिए यह मुक्ति या मोक्ष है, अस्मिताका दीपक बुझ जाता है इसलिए यही निर्वाण है।

शास्त्र और आत्मसाक्षात्कारके बीचमें ऐसी कई अवस्थाएँ हैं जिनमें अविद्याका पर्दा अंशतः हट जाता है और नानात्वका न्यूनाधिक लोप हो जाता है। उनका थोड़ा-सा निरूपण अनुचित न होगा।

१. सुषुप्त्यधिकरण

स्वस्थ मनुष्य प्रतिदिन कुछ देरके लिए गहरी नींद सो जाता है। जो ऐसा नहीं कर सकता वह अपनेको अभागा मानता है। सुषुप्तिमें

भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, ज्ञातृत्वमें हल्की-सी सक्रियता रहती है। इस अवस्थामें नानात्व लुप्तप्राय हो जाता है। अनुभूतिक्रम नहीं रहता, सोनेवाला कालके बाहर हो जाता है। परन्तु सुषुप्ति बहुत देरतक नहीं रहती। जागनेके साथ ही पुराने संस्कार फिर बलवान् हो जाते हैं और नानात्वकी प्रतीति पूर्ववत् होने लगती है।

२. महाप्रलयाधिकरण

यों तो विशेष कारणोंसे किसी व्यक्तिको किसी समय भी नींद लग सकती है, किन्तु कुछ ऐसी परिस्थिति होती है कि रातमें एक ही समय लाखों मनुष्य सोये देख पड़ते हैं। सब एक-दूसरेसे पृथक् हैं, पर सबके व्यक्तित्व खोये हुए-से रहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐसी अवस्था दीर्घकालके लिए बहुत-से जीवोंकी हो जाती है। ज्योतिषी निश्चयके साथ कहीं कह सकता कि किन खेचर पिण्डोंपर जीवधारी रहते हैं। सब प्राणियोंके शरीर पृथिवीपर रहनेवालोंके समान हैं, यह बात क्यों मानी जाय? ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसमें एक-दूसरेसे सम्बद्ध बहुत-से पिण्ड एक साथ नष्ट हो जायँ या बसनेके योग्य न रह जायँ। सूर्यको किसी प्रकारका आघात पहुँचनेसे सौर मण्डलके सारे ग्रहोंकी यही गति होगी। सूर्य धीरे-धीरे ठण्डा हो रहा है। एक दिन उसकी ठण्ढक इतनी बढ़ जायगी कि यदि उस समय उसके साथ कोई ग्रह बच रहा तो वह हम जैसे प्राणियोंके बसनेके अयोग्य हो चुका होगा। सूर्य आकाशगङ्गामें है। यदि इस नीहारिकांके उस प्रदेशमें, जिसमें सूर्य इस समय है, कोई क्षोभ उत्पन्न हो तो सूर्य और उसका परिवार नष्ट हो जायगा। क्षोभ होगा या नहीं, यदि होगा तो कब और कैसे होगा, यह सब हम अभी नहीं जानते। विज्ञानको ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वायुकी सक्रियता कम हो रही है अर्थात् धीरे-धीरे सारे भौतिक पिण्ड निश्चेष्ट, गतिहीन होते जा रहे हैं। यदि ऐसा है तब भी सम्भवतः एक दिन इनपर प्राणी न रह सकेंगे। परन्तु जीव नष्ट नहीं होते, वह प्रसुप्तसे हो जाते हैं। ऐसी

दशाको, जिसमें जगत्का बहुत बड़ा भाग नष्ट या बसने—जीवोंके भोग—के अयोग्य हो जाता है, महाप्रलय कहते हैं। महाप्रलयमें उस खण्डके जीव हिरण्यगर्भमें निमज्जित रहते हैं। जब फिर परिस्थिति अनुकूल होती है—और अनुकूल परिस्थितिका पुनः स्थापित होना अनिवार्य है, क्योंकि जीवों-के भीतर ही तो सारी परिस्थितियोंका भण्डार है—तो नयी सृष्टि होती है। जीवोंकी ज्ञातृत्वादि शक्तियाँ चिरसुप्त नहीं रह सकतीं, क्योंकि अविद्या तो कहीं गयी नहीं है। शक्तियाँ जब जागरणोन्मुख होती हैं तो जीव हिरण्यगर्भमेंसे पुनः निकलते हैं। प्रत्येक जीव अपने संस्कार अपने साथ लाता है। फिर जिस प्रकार पिछले अध्यायके भूतविस्ताराधिकरणमें दिखलाया गया है, जीव जगत्का निर्माण करते हैं। पिछले संस्कारोंके कारण जीवोंमें वैलक्षण्य होता है, इसलिए एक ही प्रकारके शरीरसे सबका काम नहीं चल सकता। परिस्थितियाँ बदलती हैं, सबको अपने-अपने अनुरूप शरीर मिल जाते हैं। यों ही सर्ग और प्रतिसर्गका प्रवाह चला जाता है।

महाप्रलय और नूतन सृष्टिके बीचमें जितने कालतक जीव हिरण्य-गर्भमें प्रलीन रहते हैं उतने दिनोंतक उनके लिए नानात्व लुप्तप्राय रहता है। परन्तु यह लोप भी आत्यन्तिक नहीं है। उस अवस्थामें भी ज्ञान-शक्ति काम करती है और उसके बाद नानात्वका वृक्ष फिर हरा-भरा हो जाता है।

३. सौन्दर्यानुभूत्यधिकरण

कुछ ऐसे दृग्विषय हैं जिनको देखकर हृदयमें रसका सञ्चार होता है। गगनचुम्बी हिमाच्छादित गिरिशिखर, समुद्रकी फेनिल उत्ताल तरङ्ग, प्रपात और निर्झर, तारोंसे जगमगाता आकाश, शीतल शशिप्रभा, यह सब मनोरम लगते हैं। किसी तूलिकासे निकला चित्र, किसी कविके मुँहसे निकले कुछ शब्द, चित्तको बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। हम इन सबमें जो मनोहारिता पाते हैं उसको सौन्दर्य कहते हैं। यह सब अपने-अपने ढङ्गसे सुन्दर हैं।

सौन्दर्यके सम्बन्धमें बृहत् वाङ्मय है। विशेषज्ञोंने जिन बातोंका विवेचन किया है उनमें पड़नेकी हमको आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो सौन्दर्यानुभूतिके विषयमें केवल इस बातपर जोर देना है कि उस अवस्थामें मनुष्य अपनेको भूल-सा जाता है। द्रष्टाकी दृश्यके साथ तन्मयता हो जाती है और दर्शनमात्र रह जाता है। जितनी ही तन्मयता होती है उतनी ही गहरी सौन्दर्यानुभूति होती है। सौन्दर्यकी यही कसौटी है कि वह चित्तको एकाग्र कर सके। अनुभूति कुछ तो द्रष्टापर निर्भर करती है, कुछ दृश्यपर। द्रष्टा अपनेको जितना ही वासनासे शून्य करता है उतनी ही उसको सौन्दर्यकी अनुभूति होती है। वासना रागात्मक हो या द्वेष-रूपा, वह सौन्दर्यपर पर्दा डाल देती है। कामी पुरुष सौन्दर्यको न ढूँढ़ता है, न पाता है, वह रति-वासनाकी तृप्तिमात्र चाहता है। जो क्रोधसे पागल हो रहा है उसके लिए फूलसे कोमल बालकमें भी सौन्दर्य नहीं है, जिसकी इच्छा कहीं और अटकी हुई है उसके लिए कोई दृश्य सुन्दर नहीं हो सकता। जब चित्त अपनेको किसी वस्तुपर लगा देता है तो उसका पूरा ज्ञान होता है, उसका सारा तत्त्व, सारा रहस्य, आपसे आप सामने आता है। नाटकके प्रेक्षणका पूरा लाभ उसीको मिलता है जो स्वयं अभिनेता नहीं होता। ऐसे प्रेक्षकको प्रतिक्षण वस्तु-स्वरूपका कोई नया अनुभव होता है, जो उस मनुष्यको नहीं हो सकता जो उसको भोगका साधनमात्र मानता है।

सौन्दर्यानुभूतिकी कुञ्जी स्रोतापत्ति—अपनेको प्रवाहमें डाल देना—है। सौन्दर्य—वस्तुका स्वरूप—तब पूरा-पूरा सामने आता है जब सौन्दर्यकी भी खोज, उसके लिए प्रयास, न हो। ऐसा होनेपर ही बूँद उस समुद्रको उन्मुक्त कर देती है जो उसके गर्भमें सतत छिपा रहता है। खिले कमलमें, बादलोंमेंसे झाँकती ज्योत्स्नामें, उषाके स्मितमें, मयूरके नृत्यमें, विधवाके मौन रुदनमें, अनाथकी लुटी आँखोंमें, विश्वका रहस्य भरा है। हम रुदनके सम्बन्धमें सौन्दर्य शब्द सुनकर चौंकते हैं। यह प्रयोग कुछ असाधारण-सा तो है, परन्तु हमारे चौंकनेका मुख्य

कारण यह है कि हम सौन्दर्यको भोग्यताका अङ्ग माननेके अभ्यासी हो गये हैं।

जो चित्त किसी भी वस्तुके प्रति अपनेको इस स्रोतापत्ति अवस्थामें डाल देता है उसको उस वस्तुका यथावत् अनुभव तो होता ही है, अर्थात् उससे वह सब संवित् तो प्राप्त होते ही हैं जो अन्यथा त्यक्त रहते हैं, बुद्धिको उसमें वह शक्तियाँ मूर्तिमती देख पड़ती हैं जो जगत्को परिचालित करती प्रतीत हो रही हैं। ऊँचा पहाड़ पत्थरोंका ढेर नहीं है, वह शक्ति है जो गुरुत्वाकर्षणको अभिभूत कर रही है, उस ओजका प्रतीक है जो नीचे खींचनेवाली परिस्थितियोंको ठोकर मारकर ऊपर उठाता है; वसन्तमें कली नहीं चटकती, शिशिरमें पत्तियाँ नहीं झड़तीं, ब्राह्मी और रौद्री शक्तियाँ काम करती हैं; कमल-किञ्जल्कके बीचमें भौंरा रसपान नहीं करता : लक्ष्मी अमृतके कलश लुढ़काती है; कुतिया अपने बच्चोंको दूध नहीं पिलाती : साक्षात् जगद्धात्री जीवोंमें प्राण डाल रही है। इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया जाता, इन शक्तियोंकी कल्पना भी बहुतोंको नहीं होती, फिर भी इनका साक्षात्कार होता है। देखनेवाला अपने साधारण जीवनके ऊपर उठ जाता है, भौतिक जगत्का कुछ अंश पीछे छोड़ देता है, उसको ऋत और सत्यकी कुछ झलक मिल जाती है, नानात्वका कुछ उपशम हो जाता है, उस एक पदार्थसे थोड़ा-बहुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है जो सबका मूल है। सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति एक प्रकारकी समाधि है। वह लोग भाग्यवान् हैं जिनको यह अनुभव प्राप्त होता है। एकाध बार स्यात् सबको ही ऐसा हो जाता है, परन्तु किसी-किसीको जन्मना यह सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा अनुभव बहुत देरतक नहीं ठहरता, परन्तु जबतक रहता है तबतक चित्त एक अपूर्व उल्लासमय अवस्थामें रहता है। जो लोग अपने इस अनुभवको दूसरोंतक पहुँचानेकी क्षमता रखते हैं वही कवि और कलाकार कहलानेके पात्र हैं।

दृश्य द्रष्टासे भिन्न नहीं है। अविद्याने ही यह द्वैध उत्पन्न किया है। दृश्यरूपमें द्रष्टाको अपना दर्शन होता है। दृश्यमें जो भी स्थूल-सूक्ष्म लक्षण

प्रतीत होते हैं वह द्रष्टाकी ही चित्तप्रसूति हैं। अतः जब चित्त एकाग्र होता है और रसकी अनुभूति होती है उस समय द्रष्टा अपने ही सूक्ष्म रूपको देखता है। दृश्य सिमिटकर द्रष्टाके पास आ जाता है।

यों तो विशिष्ट व्यक्तियोंके लिए सर्वत्र सौन्दर्य है, परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो चित्तको अपनी ओर जल्दी खींचती हैं। इनमें मौलिक शक्तियाँ इस प्रकार व्यक्त होती हैं कि उनका एक बार तो चित्तपर प्रभाव पड़ता ही है। ऊँचे पहाड़, समुद्रकी उठती लहरें, खिले फूल, नदीका कल-कल प्रवाह, इन्दुरश्मिप्रभा-सीकरसिक्त संगमर्मरशिला, नक्षत्रवसना निशा—इनकी ओर चित्त खिंच ही जाता है।

यही बात सच्चे कलाकारकी कृतिमें होती है। कलाकार फोटो नहीं खींचता। वह प्रकृतिकी अनुकृति नहीं करता। उसका उद्‌देश्य यह है कि सत्यकी जो झलक उसको मिली है वह दूसरोंको भी मिले। इसके लिए उसको भौतिक साधनोंसे काम लेना पड़ता है और यह साधन अपने सहज दोषोंको छोड़ नहीं सकते। चञ्चल, सक्रिय पदार्थोंको धातु, पत्थर या क़ागदमें बाँधना उनको मार डालना है। उसका कौशल इसी बातमें है कि कलाकी सामग्री कलाके उद्देश्यको कमसे कम व्यवहित कर सके। कवि इस बातमें भाग्यवान् है कि उसका उपकरण शब्द है। शब्दोंमें प्रवाह होता है और वह विचार-प्रवाहके प्रतीक होते हैं। पद्यमें विभिन्न छन्दोंकी मात्रा और लयके संघटनसे प्राणोंमें लय उत्पन्न होता है और इससे चित्तकी एकाग्रतामें सहायता मिलती है। शब्दोंका प्रयोग भी ऐसा होता है कि बुद्धि ब्योरेकी बातोंमें न उलझकर उसी तत्त्वपर टिके जहाँ कवि उसे जमाना चाहता है।

काव्य दृश्य हो या श्रव्य, कविको विभाव और स्थायीसे काम लेना पड़ता है, अनुभाव और सात्त्विकको दिखाना पड़ता है, परन्तु उसका लक्ष्य रस ही रहता है। यदि नायक-नायिका या उद्दीपन-सामग्री या रति आदि भाव या पात्रोंकी चेष्टाएँ अपने आगे न बढ़ने दें तो कविकी प्रतिभाका दोष है। यह सब तो रसके लिए बहानामात्र होना चाहिये। किसी पुरुषका

किसी स्त्रीके प्रति प्रेम, किसी प्रोषितपतिकाका विलाप, किसी माताका पुत्रकी मृत्युपर क्रन्दन, किसी महापुरुषकी आत्मवलि, किसी संयमीकी तपस्या—वर्णनका आधार प्रत्येक दशामें कोई व्यक्तिविशेष ही हो सकता है, परन्तु चित्त इन उदाहरणोंसे उठकर प्रेम, करुणा, त्याग और वैराग्यके निर्व्यक्ति-क्षेत्रोंमें मँडराने लगता है। श्रोता अपनेमें पात्रको और पात्रमें अपनेको देखने लगता है; थोड़ी देरके लिए अनुभूतिका घेरा निःसीम और उसकी गहराई अथाह हो जाती है।

कलाओंमें सङ्गीतका स्थान सबसे ऊँचा है। सङ्गीत साहित्यसे भी ऊपर उठता है। शब्द अपने अर्थों और ध्वनियोंको नहीं छोड़ सकते, इसलिए वह बुद्धिको कुछ-न-कुछ उलझाये विना नहीं रह सकते। सङ्गीतमें स्वर और तालसे काम लिया जाता है। जिस स्फोटसे भौतिक जगत् निकला है उसकी पहली अभिव्यक्ति स्वरोंमें हुई, इसलिए स्वरराशि परावाणीके बहुत निकट है। अच्छे गाने या बजानेवालेको भाषामें कुछ बतलानेकी आवश्यकता नहीं होती; स्वरोंका आरोहावरोह प्राणको बाहरसे खींचकर ऊर्ध्वमुख कर देता है, चित्त विक्षेपको छोड़कर मन्त्रमुग्ध सर्पकी भाँति निश्चल हो जाता है; नानात्व दब-सा जाता है; शरीरके भीतर बाहर एक-सा झंकृत हो उठता है; ऐसा प्रतीत होता है कि देहका बन्धन छूट गया; मैं उठता, फैलता-सा जाता हूँ; एक अद्भुत आनन्द अपनेमें छा जाता है, रसका महोदधि उमड़ आता है। सामवेदके उद्गाता और वीणाके कुशल बजानेवाले अनाहत नादके स्वरमें स्वर मिलाते हैं, नटवरकी पायल ब्रह्माण्डोंके स्पन्दनको ताल देती है। ऐसे सङ्गीत-विशारद भी कम हैं जिनको ताल और स्वर-मण्डलपर इतना चमत्कारी अधिकार हो, ऐसे भाग्यवान् भी कम हैं जो सङ्गीतसे ऐसा रस पाते हों, परन्तु क्षणभरका भी ऐसा समाधि-कल्प अनुभव मनुष्यको पवित्र कर देता है।

कभी-कभी ऐसा अनुभव जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है—प्राणका भीतरकी ओर खींचना, साँसका रुक-सा जाना, शरीरका शिथिल पड़ जाना, अपना ऊपर उठना या चारों ओर फैल-सा जाना—ऐसे

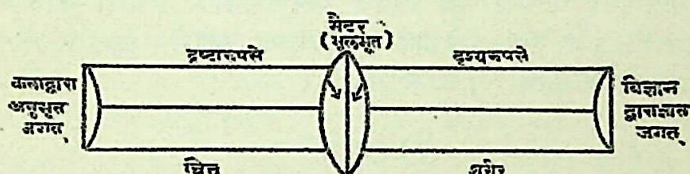
लोगोंको भी हो जाता है जो न कलाकार हैं, न कलाके विशेष प्रेमी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षणभरमें विश्वका सारा रहस्य समझमें आ गया। बादमें इसकी कोई स्मृति नहीं रहती कि समझमें क्या आया था। ऐसे लोग या तो इस अनुभवकी ओर उपेक्षा करते हैं या इसको ही समाधिकी काष्ठा समझ लेते हैं। दोनों ही अवस्थाओंमें वह ऐसे दुर्लभ अनुभवको आत्मसाक्षात्कारकी सीढ़ी बनानेसे वञ्चित रह जाते हैं। उनको वह पद भी प्राप्त नहीं होता जहाँ कलाकार पहुँचता है, क्योंकि योगी न होते हुए भी सच्चा कलाकार समाधिकी निम्न भूमियोंमें बारम्बार प्रवेश कर सकता है।

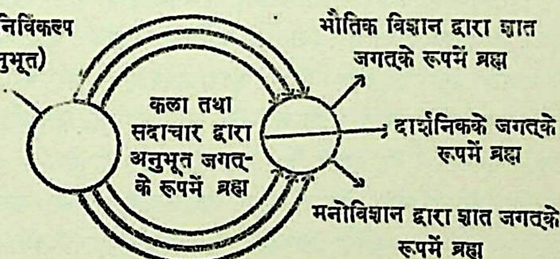
जिस समय वैज्ञानिक प्रयोक्ता अपने शास्त्रकी गूढ़ समस्याओंपर विचार करता है उस समय थोड़ी देरके लिए उसकी बुद्धिके सामनेसे भी नानात्वके बादल हट जाते हैं और एकत्वकी एक झलक देख पड़ जाती है। यह झलक अस्फुट भले ही हो, परन्तु उसमें अद्भुत स्फूर्ति होती है। जिन लोगोंने विज्ञानमें नवयुग प्रवर्तित करनेका श्रेय पाया है उन सबको ऐसा अनुभव कभी-न-कभी हुआ है। यह वह बिन्दु है जहाँ विज्ञान और कलाकी रेखाएँ एक-दूसरीको काटती हैं।

कुछ ऐसा ही अनुभव उस व्यक्तिको भी कभी हो सकता है जो दार्शनिक समस्याओंपर गम्भीर मनन करता है। परन्तु यदि मननके साथ-साथ निदिध्यासन न हुआ तो व्यर्थ है। कोरे अनुमन्ताके सामने सत्यके स्वरूपके कोई नये पटल नहीं आते, वह बुद्धिनिर्माणों, विकल्पों और शब्दोंके जंगलमें भटकता रह जाता है। जो केवल पण्डित है उसका पद विज्ञानके आचार्य और सच्चे कलाकारसे बहुत नीचा है। यदि उसको कभी सत्यकी झलक मिली भी तो उस प्रकाशमें उसके भीतरका अँधेरा और प्रगाढ़ हो उठा होगा। कोरा शास्त्री जिसे विद्या समझता है वह अविद्याका ही भेद है।

अगले पृष्ठके दोनों चित्र सम्भवतः रोचक प्रतीत होंगे। पहिला अचेतन-वादके आधारपर बना है। उसके निर्माता काडवेल थे। उसका तात्पर्य

स्पष्ट है। दूसरा भी स्पष्ट होना चाहिये। यह इस पुस्तकमें प्रतिपादित सिद्धान्तके अनुकूल है। इसमें यह दिखलानेका प्रयत्न किया गया है कि प्रतीयमान जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, मायामें उसकी छाया है। इस जगद्-रूपकी एक प्रकारकी अनुभूति और अवधृति मानसशास्त्रके विद्यार्थीको और दूसरे प्रकारकी विज्ञानके विद्यार्थीको होती है। समन्वय द्वारा





दर्शनशास्त्री इन दोनोंको मिलाता है। शुद्ध ब्रह्मरूपका साक्षात्कार निर्विकल्प समाधिमें होता है। प्रतीयमान और शुद्ध रूपोंके बीचमें कलाकार और पूर्ण निष्कामकर्मीका जगत् होता है।

४. उपासनाधिकरण

उपासनाका विषय जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही विशाल है। उसके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं; उपासना-प्रवृत्तिका विकास कैसे हुआ? मनुष्यने पहिले किसकी और क्यों उपासना की? उपासना-पद्धतियोंमें भेद क्यों है? उपास्य और पद्धति-भेदसे जो सम्प्रदाय बन गये हैं उनका मनुष्यके सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक विकासपर क्या

प्रभाव पड़ा है ? समाजशास्त्र और इतिहासके पण्डितोंको इस प्रकारके प्रश्नों-पर विचार करना हो चाहिये और जो लोग विभिन्न सम्प्रदायोंमें व्यासपीठों-पर बैठते हैं उनको भी इस ओर ध्यान देना चाहिये। परन्तु हमारे लिए यह विचार प्रायशः अप्रासङ्गिक है।

योगाभ्यासकी भी गणना उपासनामें की जाती है, परन्तु हम अबतक उसका पृथक् उल्लेख करते आये हैं और आगे भी ऐसा ही करेंगे। उसको छोड़कर, उपासकोंके तीन भेद किये जा सकते हैं। सुभीतेके लिए इनको अलग-अलग लेना अच्छा होगा।

(क) ईश्वरोपासक

मायाशबल ब्रह्म, परमात्माका, ही नाम ईश्वर है। वही एकसे अनेक होकर जीवात्मा हुआ है। उसीकी बुद्धि हिरण्यगर्भसे सारा जगत् निकला है, महाप्रलयके बाद फिर उसीमें समा जाता है। यह तो दार्शनिक बात हुई, परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपनेमें कई त्रुटियाँ, कई अपूर्णताएँ पाता है। उनको दूर करके वह अपने लिए एक आदर्श बना लेता है। परमात्मामें निक्षित होकर यह आदर्श उस उपासकका ईश्वर बन जाता है। सब साधारण उपासकोंके लिए ईश्वर पूर्णतया एक-सा नहीं होता।

विभिन्न सम्प्रदायोंके शास्त्रकारोंने इन लौकिक ईश्वरोंका एक प्रकार-का महत्तम समापर्वतक-सा निकाला है और उसमें उन सद्गुणोंका निक्षेप किया है जो उनकी समझमें मनुष्यके चरित्रके लिए उन्नायक और उसकी आध्यात्मिक उन्नतिके साधक हैं। ईसाई और वैष्णव आचार्योंने ईश्वरके विग्रहके संस्कारमें विशेष उल्लेखनीय भाग लिया है। ईश्वरका जो रूप इस प्रकार निष्पन्न हुआ है, वह उन सब उपासकोंको ग्राह्य होता है जो विद्वानोंके संसर्गमें आते हैं या शास्त्रीय उपासना-पद्धतिमें दीक्षित होते हैं। यह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी, न्यायमूर्ति और परमकारुणिक है, वह सदाचारी और मुमुक्षुकी सहायता करता है और आततायीको दण्ड देता है। परन्तु करुणामयका दण्ड द्वेषप्रेरित नहीं होता,

इसलिए दण्डके द्वारा भी वह आततायीका उसी प्रकार हित करता है जिस प्रकार पिता या अध्यापक भर्त्सना करके और वैद्य कड़वी औषध देकर कल्याण करते हैं।

यह ईश्वर शास्त्रकारोंका बुद्धिनिर्माण भले ही हो, परन्तु कल्पना निराधार नहीं है। सब प्राणियोंके ज्ञान, सब प्राणियोंकी शक्ति विराट्के ज्ञान और शक्तिमें अन्तर्भूत हैं और विराट् परमात्मासे अभिन्न है। ऋत और सत्य न्याय, पुरस्कार और दण्डके आधार हैं और यह दोनों हिरण्य-गर्भसे निकले हैं। जीव गिरता है, परन्तु गिरकर फिर उठता है। जो ऋत और सत्य नीचे गिराते हैं वही ऊपर उठाते हैं, इसलिए जहाँ न्याय है वहीं करुणा है। परमात्माकी स्वधाशक्ति जहाँ एक ओर अविद्यारूपा है वहाँ मुमुक्षुके लिए विद्यारूपा भी होती है।

परमात्माका सबसे प्रधान लिङ्ग प्रेम है। वह प्रेमस्वरूप है। प्रेम राग-का ही भेद है, इसलिए ईश्वरको रसस्वरूप कहा गया है। रागके भेदोंमें प्रणय और वात्सल्यका स्थान बहुत ऊँचा है, परन्तु शुद्ध प्रेमकी पदवीको यह भी नहीं पहुँच सकते। साधारणतः प्रेमको रतिवासनाका ही नामान्तर मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि प्रणयमें बहुत बड़ा अंश रतिवासनाका रहता है और अधिकांश मनुष्योंको प्रणयका ही अनु-भव होता है। साहित्यमें भी जिसको प्रेम कहा जाता है वह वस्तुतः प्रणय ही होता है। वास्तविक प्रेममें रतिवासनाका कुछ उन्नमित रूप भी रहता हो, पर उसके साथ वात्सल्य, सख्य और आत्मनिवेदनका भी अपूर्व सम्मिश्रण रहता है। गार्हस्थ जीवन वहीं सुखी होता है जहाँ प्रणय शुद्ध होकर रतिवासनाके रूपका उत्तरोत्तर परित्याग करके प्रेमकी ओर बढ़ता है। जहाँ स्वार्थ, बुभुक्षाकी छाया भी हो वहाँ प्रेम नहीं होता। प्रेमी अपने प्रेमपात्रके साथ अपनेको इतना तन्मय कर देता है कि उसके अपने किसी सुख-दुःखका प्रश्न नहीं रह जाता। ऐसे पुरुषोंके उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने अपनी प्रेयसियोंको दूसरे पुरुषोंसे विवाह करनेमें सहायता दी है जब कि इस बातको रोकना उनके लिए शक्य था; ऐसी स्त्रियोंके

उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने अपने हाथों अपने प्रेमाभाजनोंकी प्रसन्नताके लिए अपनी सपत्नियोंका सिन्दूर सँवारा है। ईश्वरीय प्रेम इससे कहीं निर्मल होता है। उसमें स्व और परके लिए स्थान नहीं है। परमात्मामें जीव-जीवके भेद लय हो जाते हैं। जो प्रेमस्वरूप परमात्माका उपासक है वह किसी जीवके प्रति द्वेष या हिंसा भाव नहीं रख सकता।

ईश्वरोपासकमें चारित्र गुण तो होना ही चाहिये, उसका सबसे बड़ा साधन अनुरक्ति है। अनुरक्तिको भक्ति, ईश्वरप्रणिधान और प्रपत्ति भी कहते हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं कि भक्ति बड़ी सुगम है वह भूल करते हैं। प्रेम करना यत्नसाध्य नहीं होता। या तो प्रेमका भाव आप ही उदय होता है या नहीं ही होता। अस्तु, भक्त चारों ओरसे अपने चित्तको बटोरकर ईश्वरके चरणोंमें उसे लगा देता है। अपनी सारी सम्पत्ति ईश्वरार्पण समझता है, अपने सारे कर्मोंको ईश्वर-प्रेरित मानता है, प्रत्येक वस्तुको ईश्वरकी विभूति समझता है, प्रत्येक दृग्विषयको ईश्वरकी शक्तिकी अभिव्यक्ति मानता है, सुख-दुःखको ईश्वरकी देन मानकर शिरोधार्य करता है।

इसके साथ ही उपासनाकी कोई पद्धति भी होती है। ईश्वरका गुणगान, कोई पाठ, किसी प्रकारका जप, और किसी-न-किसी विधिसे ध्यान किया जाता है। अनुरक्ति भावप्रधान है इसलिए सब उपासकोंके लिए एक ही प्रकारका ध्यान या जप नहीं हो सकता। यह मानते हुए भी कि ईश्वर एक है, किसी उपासकके लिए उसपर पुरुष-रूपसे अनुरक्ति होती है, किसीके लिए स्त्री-रूपसे; किसीके लिए वह पुरातन पुरुष, परमपिता है, किसीके लिए आद्याशक्ति, जगदम्बा है; किसीको उसका सर्वज्ञ रूप आकृष्ट करता है, किसीको सर्वशक्तरूप; वह किसीके लिए रुद्र है, किसीके लिए शङ्कर। ईश्वरके प्रति जिसकी जैसी भावना होगी वह उसकी सेवामें तदनुकूल भाषामें ही आत्मनिवेदन और प्रार्थना करेगा।

कोई-कोई उपासक मूर्ति या अन्य प्रतीकसे भी काम लेते हैं।

प्रतीकको प्रतीक जानकर काम लेनेमें कोई दोष नहीं है, दोष तब आ जाता है जब प्रतीक ही उपास्य मान लिया जाता है।

उपासनाकी इन शैलियोंमें प्रायः सामूहिक उपासनाको भी स्थान दिया जाता है। बहुतसे उपासक एक जगह एकत्र होकर जप या पाठ या ध्यान करते हैं। ऐसी गोष्ठीको चक्र कहते हैं। चक्रमें सम्मिलित व्यक्तियोंके चित्त एक-दूसरेको प्रभावित करते हैं और थोड़ी ही देरमें वैसी एकाग्रता प्राप्त होती है जो अन्यथा बहुत देरमें आती। इसीलिए कहा जाता है कि चक्रमें उपास्य देवता[1] जल्दी अवतरित होती है। ऐसी एकाग्रता चाहे थोड़ी ही देर ठहरे, परन्तु उतनी देरतकके लिए प्राण अंशतः स्तब्ध हो जाते हैं और अपूर्व सुखमय आत्मविस्मृति होती है। प्रत्यक्ष न होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि उपास्य अपने चारों ओर, अपने पास, अपने भीतर और बाहर भर गया है। चक्रोपासनामें दोष यह है कि यह मादक अनुभूति समाधिकी ओरसे भी विरत कर देती है।

इन सब उपायोंसे उपासकका चित्त एकाग्र होता है, उसके स्वका विवर्द्धन होता है, उसके लिए नानात्व न्यूनाधिक कम होता है, उसको कमसे कम वैसी अनुभूति तो मिलती ही है जो एक ऊँचे कलाकारको प्राप्त होती है। कलाकार और उपासकमें भेद यह है कि कलाकारके पास चित्तको एकाग्र करनेकी कोई निश्चित पद्धति नहीं है। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो बिना किसी प्रकारकी दीक्षाके केवल भावावेशसे अन्तर्मुख हो जाते हैं, परन्तु आवेश देरतक स्थिर नहीं रह सकता। साधारणतः उपासकको एकाग्रता-विधिकी दीक्षा दी जाती है, इसलिए यदि वह चाहे तो समाधिकी भूमिकाओंमें दूरतक जा सकता है। वस्तुतः ऐसा उपासक योगी है, यद्यपि वह अपनेको इस नामसे नहीं पुकारता। इस मार्गमें त्रुटि

---

१. देवोंकी शक्तियोंको, उन शक्तियोंको जिनके द्वारा विश्वका सञ्चालन हो रहा है, देवता कहते हैं। देवता शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है। 'विष्णु देवता जागरित हुई' का अर्थ हुआ 'वैष्णवी शक्ति जागरित हुई'।

यह है कि यह द्वैतको स्थिर मानकर चलता है; उपासक आत्मसाक्षात्कार करने नहीं चलता प्रत्युत ईश्वरका साक्षात्कार करना चाहता है, इसलिए उसकी बुद्धि निर्विकल्प समाधिके पहले ही रुक जाती है। वह उपासक अस्मिता समाधिके आगे बढ़ना चाहता ही नहीं। वह परमात्मानुभूतिसे सन्तुष्ट रहता है। ऐसे उपासकको भी मोक्ष होता है, परन्तु उसको पहिले अपने हठसे बनायी हुई दीवार गिरानी पड़ती है। उपासनाका भक्तिमार्ग योगका पर्याय नहीं है; वह उसकी एक शाखा है जो भावुक लोगोंको, ऐसे लोगोंको जिनमें ज्ञानकी अपेक्षा इच्छाशक्ति अधिक प्रबल होती है, विशेष रुचिकर और श्रेयस्कर प्रतीत होती है। एक और बात ध्यानमें रखनेकी है। समाधिकी ऊँची भूमिकाओंमें भक्तिमार्गसे चलनेवालोंमेंसे बहुत थोड़े लोगोंकी गति होती है। जिन लोगोंकी ऐसी शिक्षा है कि किसी लोकविशेषमें पहुँचकर ईश्वरके दिव्य रूपके अवलोकनसे भक्तको आनन्द मिलता है, जो उस लोकमें पहुँचकर मधुर वंशी या भक्तजनका स्तवगान सुननेकी प्रतीक्षा करते हैं वह आकाशके ऊपर नहीं उठ सकते। सबसे बड़ी बुराई यह है कि यह धारणा फैल गयी है कि भक्ति बहुत सुकर है। और तो कुछ सुकर है नहीं, भक्तिके नामपर कुछ औपचारिक पूजाको ही मोक्षका सस्ता लटका मान लिया जाता है। इसका आध्यात्मिक उन्नतिपर बहुत कम प्रभाव पड़ता है।

प्रपत्तिको स्वतन्त्र मार्ग मानना भूल है, परन्तु इस भावका चित्तशुद्धिमें उपयोग होता है। यह साधकको दुरभिमानसे बचाता है; जो ईश्वरको अन्तर्यामी मानता है उसको अपनी वासनाओंका दमन करनेमें सहायता मिलती है। जो चित्त सर्वसद्गुणनिधान, निष्काम, सौन्दर्यसार परमात्माके श्रवण-कीर्तन-चिन्तनमें लगा रहता है वह स्वयं उस रंगमें रँग उठता है।

हमारे भीतर बुरी वासनाएँ भी हैं और भली वासनाएँ भी। बुरी वासनाएँ हमको नीचे गिराती हैं और समाजको क्षति पहुँचाती हैं। सद्वासनाएँ व्यक्ति और समाज, दोनोंके लिए कल्याणकारी होती हैं। वासना अच्छी हो या बुरी, उसकी तृप्तिमें प्राणका व्यय होता है और

चित्तपर संस्कार पड़ते हैं। यदि कुवासनाओंसे छुट्टी मिल जाय तो सुवासनाओंके लिए वही प्राणशक्ति सुरक्षित रहे और चित्तपर कुसंस्कार न पड़े। बुरी वासनाओंसे बचनेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उनको अच्छी वासनाओंमें परिणत कर दिया जाय; साँप रहे, पर उसकी विषकी थैली निकाल ली जाय। कामुकता, क्रोध, लोभ, बुरी चीजें हैं, परन्तु उन्नमित होकर यह कल्याणकारी बन जाते हैं। भक्तके लिए वासनाओंका उन्नमन सुकर होता है। वह अपनी वासनाओंको भगवान्को अर्पित कर देता है। भगवान् प्रेमी हो जाता है, भक्त प्रेयसी बन जाता है या भक्त अपने इष्टको ही प्रेयसी बना लेता है; आप वत्स बन जाता है, उसे माता बना लेता है; क्रोधको अपवित्रता, अन्याय, अनाचारकी ओर पलट देता है, क्योंकि वह ऐसा मानता है कि यह बातें भगवान्को पसन्द नहीं हैं। इस प्रकार वासनाओंकी तृप्तिकी दिशा बदल जाती है और वह लोकसंग्रहका साधन बन जाती हैं। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि शंकरके गण प्रेत, पिशाच, वेताल और ब्रह्मराक्षस हैं। इसी बातकी ओर तन्त्र-ग्रन्थोंमें इन शब्दोंमें संकेत किया जाता है कि महिषमर्दिनीने असुरोंका संहार किया, परन्तु उनको पुनः जिलाकर देवोंके साथ स्वर्गमें ला बैठाया।

जो ईश्वरका अनन्य उपासक होता है उसको ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर सर्वत्र, सर्वदा मेरे साथ है। इससे वह बहुत-सी बुराइयोंसे बच जाता है और संसारके कष्टोंको हँसते-खेलते झेलनेमें समर्थ होता है। वह अपने कर्मोंमें ईश्वरार्पण-बुद्धि लाकर उनके संस्कारोंसे अपनेको बचा सकता है, क्योंकि वह स्वतन्त्र कर्ता न रहकर ईश्वर-चालित निमित्तमात्र हो जाता है।

कभी-कभी जब मनुष्य बहुत आर्त होकर ईश्वरको पुकारता है तो उसको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी पुकार सुनी गयी। ऐसा भी होता है कि ऐसी दशामें विपत्ति टल जाती है। जब मनुष्य बहुत चिन्तामें पड़ जाता है और चारों ओरसे निराश हो उठता है तो उसकी चित्तवृत्ति

अन्तर्मुख हो जाती है, क्योंकि बाहर तो उसको कहीं कोई आश्रय नहीं मिलता। ऐसी दशामें उस जीव और जीवसमष्टिके बीचके पर्दे थोड़ी देरके लिए हट जाते हैं; बूँद समुद्रमें मिल जाती है। उस समय वह जीवात्मा विराट्के अनन्त शक्ति-भण्डारसे काम ले सकता है और इस प्रकार अपनी विपत्तिपर विजय पा जाता है। चित्तका बोझ हल्का होते ही फिर पार्थक्य ज्योंका त्यों आ जाता है।

(ख) देवोपासक

बहुत-से लोग विभिन्न देव-दवियोंकी ।उपासना करते हैं। ऐसे लोग चाहे पारमार्थिक दृष्टिसे अपने इष्टदेवको परमात्मा या ब्रह्मसे अभिन्न मानते हों, परन्तु उपास्य-दृष्टिसे उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करके ही उपासना की जाती है। यों तो असंस्कृत बुद्धिवाले प्रेतादिकी भी पूजा करते हैं, परन्तु साधारणतः, जानकर या बेजाने, किसी-न-किसी नामसे आजान देवोंकी ही उपासना होती है। आजान देव वह जीव हैं जो अपने तप और योगाभ्यासके बलसे इतर जीवोंसे ज्ञान और शक्तिमें बहुत बढ़ गये हैं। वह भी शरीरधारी हैं, परन्तु उनके शरीर सूक्ष्म भूतोंसे बने हैं, अतः हमको देख नहीं पड़ते। वह विश्वका संचालन करते हैं और जिस प्रकार बड़ा भाई छोटे भाईको चलना सिखाता है उसी प्रकार दूसरे जीवोंको धर्म और मोक्षके मार्गपर सहारा देते हैं। आजान देव सदा अपने पदोंपर नहीं रहते; एक हटता है, तबतक कोई दूसरा जीव उस योग्यतापर पहुँच चुका होता है।

आजान देवोंका उपासक उनसे ऊपर तो जा ही नहीं सकता। इसीलिए कहा है कि देवोपासनासे सालोक्य (उस देवके लोककी प्राप्ति, उसके जैसे शरीर और उस शरीरके अनुकूल ज्ञान और भोगको प्राप्त करने), सायुज्य (उस देवकी आयुभर उस लोकमें रहने) और सार्ष्ट्य (उस देवके बराबर शक्तिसम्पन्न होने) की उपलब्धि हो सकती है, पर यह सब मोक्ष नहीं है, न इससे नानात्वमें कमी आती है। देवोपासकका विक्षेप

कुछ कम होता है, उसका चित्त एकाग्र होता है, उसको जगत्के सूक्ष्म स्तरोंकी अनुभूति होती है। परन्तु समाधिकी यह भूमिकाएँ सर्वथा नानात्वकी परिधिके भीतर हैं। आजान देवोंकी उपासनामें भी अनुरक्ति, जप, ध्यान, चक्रोपासना आदिका प्रायः वही स्थान है जो ईश्वरोपासनामें है।

(ग) पौत्तलिक और अपमार्गी

जो लोग किसी प्रकारकी प्रतिमा या अन्य स्थूल वस्तुको उपास्य-सर्वस्व मानते हैं या ऐसा समझते हैं कि उनका उपास्य एकदेशीय है और उस वस्तु-प्रदेशमात्रमें रहता है वह पौत्तलिक हैं और जो लोग प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शैतान आदिकी पूजा करते हैं वह सब अपमार्गगामी हैं। ऐसे लोग सत्यसे बहुत दूर हैं। नानात्वके निगडबन्धनोंसे छूटनेके लिए उनको अभी कई जन्म चाहिये।

५. योगाधिकरण

योगके सम्बन्धमें इस पुस्तकमें कई प्रसङ्गोंमें कुछ-न-कुछ लिखा गया है। अब जब कि हमारी जगत्स्वरूप-विषयक समीक्षा समाप्त हो चुकी है, प्रस्तुत अध्यायके प्रकरणमें योगाभ्यासके सम्बन्धमें भी दो शब्द कहना उचित प्रतीत होता है।

योग कोई जादू नहीं है, यद्यपि सामान्य जनतामें कुछ ऐसा ही भ्रम फैला हुआ है और बहुत-से तथोक्त योगियोंने इस भ्रान्तिको दृढ़ करमेमें ज्ञानतः अज्ञानतः पूरा-पूरा हाथ बँटाया है।

नानात्वका प्रसार जगत्का प्रसवक्रम है, योगाभ्यास उसका प्रतिप्रसव-क्रम है। शुद्ध ब्रह्मरूपपर अविद्याके कारण जो पर्दे पड़ गये हैं उनको उत्तरोत्तर हटाकर पुनः स्वरूपप्रतिष्ठ होना ही योगीका उद्देश्य है। जब वह अभ्यासमें पहिले प्रवृत्त होता है तो उसका विक्षिप्त चित्त पूर्णतया नानात्वके बीचमें होता है। जब अभ्यास दृढ़ होता है तो चित्त विक्षिप्तसे एकाग्र होने लगता है। उस अवस्थाका नाम सवितर्क समाधि है। यह

क्रमशः बदलकर निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार अवस्थाओंमें परिणत होती है। निर्विचारके ऊपर आनन्द और अस्मिता समाधियाँ हैं। इस यात्रामें जो अनुभव जीवको होते हैं उनका विवरण देना न उचित है और न सम्भव है। अभ्यासके आरम्भमें जो अवस्था रहती है उससे सब लोग परिचित हैं; अन्तकी अस्मिता समाधिका परिचय कई स्थलोंपर दिया जा चुका है। अस्मिता समाधिकी पूर्णताकी अवस्थामें चित्त निरुद्ध हो जाता है, सारे आवरणोंका क्षय हो जाता है और जीवात्मा-परमात्मा, दोनों ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। एक अखण्ड, अद्वय, चिन्मय ब्रह्मसत्ता अवशिष्ट रहती है।

समाधिकालीन अनुभवोंका विस्तृत विवरण तो नहीं दिया जा सकता फिर भी उनके विषयमें कुछ सङ्केत किये जा सकते हैं। अभ्यासके किञ्चित् दृढ़ होनेपर नानात्व कम होने लगता है। क्षिति अपमें विलीन हो जाती है और इसी क्रमसे अप तेजमें और तेज वायुमें विलीन होता है। इसके साथ ही क्रमात् गन्ध, रस, रूप और स्पर्श संवित् भी विलीन होते हैं। आकाश रह जाता है, उसके विलीन होनेपर शब्दका भी लोप हो जाता है। इस प्रकार भौतिक जगत् अहङ्कारमें समा जाता है और उपयोगके अभावमें अहङ्कार मन और इन्द्रियोंको अपनेमें खींच लेता है। जब अभ्यास और गम्भीर होता है तो अहङ्कार बुद्धिके गर्भमें पुनः चला जाता है और चित्त बुद्धिमात्र रह जाता है। बुद्धि क्षुब्ध चेतनाका पहिला रूप और अविद्याका अन्तिम दुर्ग है। इसका क्षय जल्दी नहीं होता। अविद्या और अस्मिता वह दोनों असुरबन्धु हैं जिन्होंने शुम्भ और निशुम्भके नामसे महासरस्वतीसे युद्ध किया था। जैसा कि सप्तशती-कारने लिखा है, दूसरे असुरोंके निधनके बाद भी यह दोनों लड़ते रहे। बहुत कठिन युद्ध करके छोटा भाई मारा गया, तब बड़े भाईकी मृत्यु हुई।

हम जगत्को जहाँतक जानते हैं उसमें जीवोंके शरीर स्थूल और क्षेत होते हैं, परन्तु योगीको ऐसे जीवोंका प्रत्यक्ष होता है जिनके शरीर

सूक्ष्म, श्वेत तथा अपमय, तेजोमय और वायुमय हैं । इनसे भी ऊपर वह जीव हैं जो शुद्ध कारण-शरीरी हैं, जिनके ऊपर केवल बुद्धि और अहङ्कारका आवरण है। भिन्न प्रकारके शरीरोंके साथ-साथ स्वभावतः ज्ञानादि शक्तियोंमें भी भेद होता है। इसी बातको यों कहा जाता है कि योगी इस भूर्लोकसे ऊपर भुवरादि लोकोंमें जाता है। यहाँ ऊपर-नीचेका प्रयोग सूक्ष्मताकी दृष्टिसे किया जाता है, दिशानिर्देशके लिए नहीं। वस्तुतः सब लोक एक-दूसरेमें ओतप्रोत हैं। ऊपरके लोकोंके निवासी भी जीव हैं, वह भी कभी मनुष्य रहे हैं, उनमेंसे भी बहुत-से फिर मनुष्य होंगे। जीव-जीवमें कोई जातिभेद नहीं है। जो ऊपर हैं वह अपने तप, योग और उपासनाके बलसे उठे हैं। उनका हमारे जीवनपर प्रभाव पड़ता है, हमको उनसे सहायता मिलती है; इसके साथ ही हमारे जीवनका, हमारे सुख-दुःख और पुण्य-पापका, उनके ऊपर भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

इस सम्बन्धमें शिक्षित-अशिक्षित, सबमें ही बहुत विवाद रहता है कि देवादिका अस्तित्व है या नहीं। इसका निर्णय तर्कसे होना कठिन है। योगी इस सम्बन्धमें किसी शास्त्र या विद्वान्की व्यवस्थाकी अपेक्षा नहीं करता। वह इन बातोंको जानता है, क्योंकि उसको इनका स्वयं प्रत्यक्ष हुआ है।

योगीके लिए नानात्वका जो सङ्कोच होता है वह आत्यन्तिक होता है। समाधिसे उतरनेपर उसको फिर बाह्य जगत्की प्रतीति होती है, परन्तु इस प्रतीति और पहिलेकी प्रतीतिमें बड़ा अन्तर है। जिसने छूकर रस्सीको देख लिया है वह उसकी कुण्डलाकृतिसे नहीं डर सकता। जो शरीर बन चुका है वह यावदायु चला जायगा, कर्म भी होंगे, परन्तु नये संस्कार नहीं बनते। जो अभी समाधिकी पूरी भूमिकाओंको पार नहीं कर चुका है उसके लिए तो लोकान्तर-प्राप्तिका प्रश्न भी उठता है, परन्तु जो पूर्ण योगी है वह कहाँ जायगा ? वह तो देशकालका अतिक्रमण कर चुका है, अविद्याके बाहर निकल चुका है। शरीर छूटते ही वह निर्विकल्प समाधिमें चला जाता है। 'वह चला जाता है' यह कहना भी ठीक

नहीं है, परन्तु भाषाकी शक्ति सीमित है। ब्रह्म था, ब्रह्म है, ब्रह्म रह जाता है।

समाधिका सुषुप्ति और महाप्रलयसे बड़ा अन्तर है। एक तो उन अवस्थाओंमें नानात्वका निरसन आत्यन्तिक नहीं होता; दूसरे, नानात्वके लोपके साथ एकत्वका उदय नहीं होता। सुषुप्तिमें जीवके उपकरण जवाब दे जाते हैं। शरीरके शिथिल हो जानेसे नाड़ियोंमें प्राण-संचार नहीं हो पाता, इन्द्रियाँ बेकार हो जाती हैं, अन्तःकरणको कोई सामग्री नहीं मिलती। नानात्व विलीन नहीं होता, अविद्या कम नहीं होती, नानात्वके ऊपर मोटा पर्दा-सा पड़ जाता है। इसीसे मिलती-जुलती अवस्था महा-प्रलयमें होती है। दोनों अवस्थाओंके अन्त होनेपर जीव जहाँ पहिले था वहींसे नया जीवन आरम्भ करता है। योगीका कोई उपकरण साथ नहीं छोड़ता। जहाँतक इन्द्रियोंकी दौड़ है, पूरा काम करती हैं। भेद यह है कि इस समय वह थोड़ा काम करती हैं और भोगके लिए; तब बहुत काम करती हैं और शुद्ध ज्ञानके लिए। इन्द्रियोंके अवरुद्ध होनेपर भी योगीका चित्त बराबर काम करता है। विक्षेप बन्द होनेसे वह विषयके अन्तस्तम-तक पहुँच जाता है और उसी अवस्थामें शान्त होता है जब उसके जानने योग्य कुछ बच नहीं रहता। इसलिए योगी समाधिसे उतरनेपर नया ज्ञान और नयी शक्तिसे सम्पन्न होकर आता है।

योगका अभ्यास सदा कल्याणकारी है। जो योगभ्रष्ट होता है अर्थात् इस शरीरमें पूर्णपदतक नहीं पहुँच पाता वह भी अन्य उपासकोंसे अच्छी गति पाता है। भविष्यत् जन्ममें ऐसे ही मनुष्य ऊँचे कलाकार और प्रतिभावान् विचारक तथा सफल साधक होते हैं। पहिलेकी कमी अब पूरी हो जाती है।

योगकी पुस्तकोंमें इस बातका उल्लेख रहता है और जनश्रुति ऐसे उल्लेखका समर्थन करती है कि योगाभ्याससे कई प्रकारकी असाधारण शक्तियाँ जाग जाती हैं। इनको सिद्धि या विभूति कहते हैं। अज्ञान-बन्धनके ढीले होनेसे, चित्तकी एकाग्रता बढ़नेसे और इन्द्रियोंका शरीरकी

कैदसे छूटनेसे, शक्तियोंका प्राप्त होना, यों कहना चाहिये कि खोयी हुई शक्तियोंका पुनः मिल जाना, स्वाभाविक है। ऐसा न होना आश्चर्यकी बात होती। योगाभ्याससे सिद्धिका प्राप्त होना अनिवार्य है, परन्तु सिद्धि-पर ध्यान देना अभ्यासकी उन्नतिमें बाधक हो सकता है।

योगाधिकारमें वर्ण, जाति, पाण्डित्य, सम्प्रदाय या स्त्री-पुरुषका भेद नहीं होता। जिसमें वैराग्य है, जिसका चित्त स्वाध्याय, सत्सङ्ग, ईश्वरो-पासना और लोकसंग्रहात्मक कर्मोंके अनुष्ठानसे शुद्ध हुआ है, जिसमें अनुत्तर प्रेम और लगन है, जो इस राजविद्यामें श्रद्धा रखता है, उसके लिए इसका द्वार सदा खुला है। बस दो बातें और चाहिये। पहिली बात तप है—तामस तप नहीं, किन्तु शास्त्रचोदित तप, जो शरीर और चित्तके कषायोंको दूर करता है। दूसरी परमावश्यक वस्तु सद्‌गुरुनिष्ठा है। जो संशयोच्छेदनमें समर्थ नहीं है उस गुरुसे काम चलना कठिन है, परन्तु जो स्वयं ऊँचा अभ्यासी नहीं है वह अन्धा तो जिसकी अँगुली पकड़ेगा उसको अपने साथ डुबा देगा। जो शिष्यसे उपकारका अर्थी नहीं है और ब्रह्म-निष्ठ है वह गुरु होनेके योग्य है। यदि वह साथमें श्रोत्रिय भी हो तो सोनेमें सुगन्ध मानना चाहिये। ऐसा देशिक भाग्यसे मिलता है। वह ईश्वरवत् पूज्य है। उसकी सेवासे, उसकी तृप्तिसे, निखिलविश्वकी तृप्ति होती है। जो अपनेको उसके हाथमें सौंप देगा वह निःसन्देह सद्‌गतिका भाजन होगा। सद्‌गुरुका प्रसाद तो अमृत है ही, उसकी झिड़की भी आशीर्वादकी सामर्थ्य रखती है। ब्रह्मविद्याका निष्क्रय नहीं हो सकता। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है, धनपूर्णा ससागरा वसुन्धरा भी इसके बराबर नहीं हो सकती।

योगिजन इस विद्याको सदा गुप्त रखते आये हैं। इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं है। वह तो निधि लुटानेको तैयार हैं, परन्तु लेनेवाले नहीं मिलते। कुपात्रके हाथमें जानेसे विद्याका निरादर होता है, वह हतवीर्य हो जाती है और उस व्यक्तिको कोई लाभ नहीं पहुँचता। यह निश्चय है कि जो दीपक आजतक नहीं बुझा वह आगे भी जलता रहेगा।

सत्पात्रके लिए कुछ भी गोप्य नहीं है। वह गुरुके हृदयमें प्रवेश करके विद्या खींच लाता है। जो ऐसी योग्यता रखता है वह धन्य है। उसको विद्या सद्यः फलवती होगी। देखते-देखते आँखोंके सामनेसे अविद्याकी तमिस्रा हट जायगी और स्वरूपख्यातिका आदित्य उदय होगा।

जिस प्रकार योगाधिकारमें वर्णादिका कोई बन्धन नहीं है उसी प्रकार वयका भी कोई नियम नहीं है। शरीरसे बोझ तो ढोना नहीं है, चित्तको संयत करना है। जिस किसी वयमें वैराग्यादिका उदय हो और सद्गुरुसे भेंट हो, अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है। यदि अपना संवेग पूरा हो तो पूर्ण सफलता भी मिल सकती है। परन्तु जो मनुष्य इस कामको वृद्धावस्थाके लिए टालता है वह भूल करता है। सच तो यह है कि जो आगेको टालनेकी बात सोच सकता है वह पात्र नहीं है। सत्पात्रको तो ऐसी व्याकुलता रहती है कि एक-एक घड़ीका टलना भारी लगता है। इतना और स्मरण रखना चाहिये कि सभी अच्छे कामोंके लिए युवावस्था बड़ा अच्छा काल है। उसको खो देना भूल है।

धर्मखण्ड

पहिला अध्याय

धर्म

प्रथम खण्डके पहिले अध्यायकी ओर लौटिये। पुरुषार्थोंका विवेचन करते हुए हमने वहाँ देखा था कि धर्मका पालन करनेसे व्यक्ति और समाजको सुखेन अर्थ और कामकी निर्वृत्ति हो सकती है और जगत्के स्वरूपको यथार्थ पहिचाननेसे धर्मका पालन हो सकता है। जगत्के स्वरूपको पहिचाननेके लिए ही हमको लम्बी दार्शनिक यात्रा करनी पड़ी थी।

वह यात्रा अब समाप्त हो गयी। जगत् समझ लिया गया और ऐसा मानना चाहिये कि सच्चा जिज्ञासु केवल तर्कके सहारे न बैठा रहा होगा वरन् उसने निदिध्यासनका भी अभ्यास किया होगा। केवल तर्क या शास्त्रमूलक ज्ञान बालूकी भीत है। उसका कोई भरोसा नहीं है।

अस्तु, जिस उद्देश्यसे दर्शनका अध्ययन आरम्भ किया गया था वह पूरा हो गया। अब हमको देखना यह है कि इस अनुशीलनके पिण्डितार्थसे धर्मके विषयमें क्या प्रकाश मिलता है।

१. योगिमर्यादाधिकरण

यह बात तो हमको पहिले समझ लेनी चाहिये कि हम धर्मका कोई भी स्वरूप स्थिर करें और उसके सम्बन्धमें कोई भी नियम स्थापित करें, परन्तु जो ब्रह्मज्ञानी है उसके लिए इन बातोंकी योजनीयता नहीं हो सकती। जो द्वैतबुद्धिके ऊपर उठ चुका है उसके लिए अर्थ और कामकी काम्यता नष्ट हो चुकी है; वह यदृच्छालाभमात्रसे सन्तुष्ट रहता है। दूसरी बात यह है कि जिसके लिए मैं-परका भेद मिट चुका है उसके

लिए ऋण और परिशोधका प्रश्न नहीं उठता। उसके लिए कर्तव्याकर्तव्य, विधि-निषेधका कोई बन्धन नहीं हो सकता। धर्म-सम्बन्धी शास्त्रीय विचार उस व्यक्तिके लिए भी बेकार है जो पूर्ण योगीश्वर न होता हुआ भी ऊँची कोटिका अभ्यासी है।

इस कथनका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मज्ञानी और योगीका आचरण ऐसा होता है जिसको उच्छृङ्खल कहा जा सके। बात इतनी है कि वह किसी कामको इसलिए नहीं करते कि वह धर्म या सदाचार माना जाता है : वह जो कुछ करते हैं वही धर्म और सदाचार है। वह अपनी निर्बाध दृष्टिसे कर्मके परिणामको समझ सकते हैं और यह जान सकते हैं कि लोगोंका कल्याण वस्तुतः किस बातमें है। साधारण मनुष्यकी बुद्धि इतनी दूर नहीं जाती, वह आगेकी बात बहुत कम सोच सकता है और फिर लोकाचारका परित्याग करना उसके लिए कठिन होता है। इसलिए वह कभी-कभी महापुरुषोंके आचरणको सशङ्क दृष्टिसे देखता है।

योगिजन जानते हैं कि सामान्य मनुष्य उनके ज्ञानतक पहुँचनेमें असमर्थ होता हुआ भी उनके आचरणका अनुकरण कर सकता है। यह अनुकरण उसके लिए हानिकर हो सकता है। इसलिए वह लोग स्वयं अपने ऊपर बन्धन लगाते हैं और उस प्रकार रहते हैं जिसको कि वह देशकालका ध्यान रखते हुए लोकहितकर समझते हैं। उनके लिए कोई मर्यादा नहीं है, परन्तु वह अपनेको मर्यादाके भीतर रखते हैं ताकि मर्यादा उच्छिन्न न हो जाय। परिवर्तनशील जगत्में धर्मकी सदा एक ही मर्यादा नहीं रह सकती। धर्मसाक्षात्कर्ता योगी इस बातको जानते हैं और समय-समयपर नयी मर्यादा स्थापित करते हैं। वह जिसको धर्म कहते हैं वही धर्म है। योगी शास्त्रके पन्ने नहीं पलटता : शास्त्र योगीके वचनकी निरुक्ति करता है।

लोकानुग्रहके भावसे योगिजन अपनेको कर्मक्षेत्रमें लाते हैं और जो बन्धन लोकके लिए श्रेयस्कर समझते हैं उनको अपने लिए भी अङ्गीकार करते हैं। पुरानी मर्यादाको तोड़ना कभी-कभी आवश्यक होता है, परन्तु

उसकी जगह नयी मर्यादाका स्थापित करना सबका काम नहीं है। यदि यह काम स्वार्थ-प्रेरित लौकिक बुद्धिको ही करना पड़ा तो बड़े अनर्थकी सम्भावना हो सकती है।

२. धर्मस्वरूपाधिकरण

कर्तव्यको पहिचानना और उसका पालन करना धर्म है, परन्तु कर्तव्यको पहिचानना बहुत कठिन है और उसका पालन करना और भी कठिन है। इस सम्बन्धमें एक और प्रश्न उठता है : मान लिया जाय कि मैं कर्तव्यको पहिचानता हूँ और उसको पालन करनेकी सामर्थ्य भी रखता हूँ, परन्तु कर्तव्यकी ओर क्यों ध्यान दूँ, उसका क्यों पालन करूँ ? कर्तव्यका पालन करना सदाचार कहलाता है, इसलिए इस प्रश्नका रूप यह हुआ कि मैं क्यों सदाचारी बनूँ ? साधारणतः यह बात ठीक है कि मनुष्यके अर्थ और कामकी सिद्धि समाजमें रहकर ही ठीक-ठीक हो सकती है और सामाजिक जीवन तभी चल सकता है जब लोग सदाचारी हों। दुराचारीको अपने दुराचारसे जो थोड़ा-बहुत लाभ पहुँचता है वह भी इसीलिए कि अधिकांश मनुष्य सदाचारी हैं। यदि सब झूठ बोलने लगें, सब चोरी करने लगें, सब परदारगामी बन जायँ तो समाज उत्सन्न हो जायगा और सब लोग अर्थ और काम खो बैठेंगे। यह सब ठीक है, परन्तु यह बातें साधारण मनुष्योंके लिए ही लागू हो सकती हैं। यदि मैं बलवान् सम्राट् या अधिनायक हूँ और अपनी तलवारके बलपर जो चाहूँ ले सकता हूँ तो फिर मेरे अर्थ और कामके लिए सदाचारकी क्या अपेक्षा होगी ? लोकमत रुष्ट होकर मेरी कोई क्षति नहीं कर सकता। अतः यह विचारणीय है कि सदाचारका आधार अर्थ और कामकी प्राप्तिका उसपर अवलम्बित होना ही है या कुछ और।

सदाचारकी निरुक्ति दो प्रकार हो सकती है : अच्छा आचार और अच्छे लोगोंका आचार। पर अच्छे लोगोंकी यही तो परख है कि उनका आचरण अच्छा होता है। जो अच्छा आचरण करता है वह अच्छा है।

इसलिए उभयतः सदाचारका अर्थ अच्छा आचार ही होता है। जैसा आचरण होना चाहिये यदि वैसा होता है तो हम अच्छा शब्दका प्रयोग करते हैं। अतः सदाचार वह आचार है जो करणीय है। कर्तव्यका भी यही अर्थ है।

आचारशास्त्रपर बहुत-सी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखी गयी हैं। इनमें कर्तव्यके स्वरूपके विषयमें विभिन्न मतोंका प्रतिपादन किया गया है। नयभेदसे सभी मतोंमें कुछ-न-कुछ तथ्य है और व्यवहारमें उन सबसे ही थोड़ी-बहुत सहायता मिलती है। परन्तु सबमें कहीं-न-कहीं अड़चन पड़ती है और यह अड़चन उसी अवसरपर पड़ती है जब हमको प्रकाशकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।[१] साधारणतः हमको यह सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती कि इस समय क्या करना चाहिये। लोकाचार मार्ग दिखला देता है। शिक्षा और संस्कृति बुद्धिको ऐसे साँचेमें ढाल चुकी होती हैं कि उसको परिस्थितिविशेषमें एक ही काम ठीक जँचता है। उसीके लिए अन्तःप्रेरणा होती है। अन्तःप्रेरणाका वही स्वरूप है जो कर्तव्य शब्दके 'तव्य' प्रत्ययसे व्यक्त होता है। उसमें यह भाव नहीं होता कि लोग ऐसा करते हैं, यह भाव भी नहीं होता कि ऐसा करनेसे अमुक-अमुक लाभ होगा। उसका तो रूप होता है करना चाहिये, वरन् यह कहना ठीक होगा कि उसका रुप होता है 'करो'। कोई तर्क नहीं, हेतु नहीं, बस जैसे भीतरसे कोई अंकुश लग रहा हो कि इस मार्गपर चलो। कोई इसको ईश्वरकी प्रेरणा कह सकता है, परन्तु ईश्वरको बीचमें खींचना अनुचित है। सबको कर्तव्यकी एक-सी प्रतीति नहीं होती। ईश्वर सबके लिए एक ही प्रेरणा करता नहीं प्रतीत होता। देखनेसे विदित होता है कि अन्तःप्रेरणाका भेद कुछ तो उस शिक्षापर जो व्यक्तिने पायी है और उस संस्कृतिपर जिसमें वह पला

---

१. इन विभिन्न मतोंका विवेचन मैंने 'जीवन और दर्शन'में किया है। उसको संक्षिप्त करके परिशिष्टमें दे दिया गया है।

है, निर्भर करता है और कुछ उसके अपने स्वभाव, उसके सहज गुण, उसके व्यक्तित्वपर।

जैसा कि मैंने अभी कहा है, कर्तव्यबुद्धिका शुद्ध रूप तो है 'करो'। पीछेसे बैठकर विचार करनेसे इस भीतरी आज्ञाके पक्षमें बहुत-से हेतु ढूँढ़ लिये जाते हैं, परन्तु जिस समय कर्तव्यबुद्धिका उदय होता है उस समय यह हेतु उपस्थित नहीं होते। कर्तव्यबुद्धिका उदय होना और कामका किया जाना युगपत्प्राय होते हैं। किसीको डूबते देखकर पानीमें कूद पड़ने या आगमें जलते देखकर आगमें फाँद पड़नेमें तर्क नहीं किया जाता। जिसको कर्तव्यबुद्धि स्फुरित होती है वह काम कर डालता है, जिसको नहीं होती वह तर्क करता रह जाता है। वह भी दयालु और सज्जन होगा, साधारण व्यवहारमें लोग उसको सच्चा, ईमानदार, कृपालु पाते होंगे, परन्तु उसकी कर्तव्यबुद्धि उस समय दुर्बल थी।

यह तो ऐसे कामोंके उदाहरण थे जो सद्यःकार्य हैं। कुछ ऐसे काम होते हैं, जो कालसाध्य होते हैं, देरमें पूरे होते हैं। उनके विषयमें भी यही बात लागू है। परिस्थिति समझनेमें देर लग सकती है, परन्तु उसको समझ लेनेपर कर्तव्यबुद्धि, अन्तःप्रेरणा, तत्काल उदय होती है। यह दूसरी बात है कि समय मिल जानेसे हम उसको बहुत-से हेतुओंसे भी पुष्टि कर लेते हैं।

करणीय कामोंका यही बाह्य लिङ्ग है कि उनकी नोदक जो अन्तः-प्रेरणा होती है वह अहैतुक होती है और उसमें पर्याय—यह या वह—के लिए स्थान नहीं होता। परन्तु केवल इस लिङ्गके होनेसे काम वस्तुतः सत्, अच्छा, सदाचार नहीं हो जाता। ऐसी अन्तःप्रेरणा पागलको भी होती रहती है। इसके आवेशमें लोग हत्यातक कर डालते हैं।

करणीय कामोंका, धर्मका, एक और लिङ्ग है जो अतिव्याप्ति दोषसे मुक्त है। उसको एक शब्दमें तादात्म्य कह सकते हैं। तादात्म्यका स्थूल अर्थ यह है कि कर्ता कर्म-पात्रसे अभिन्न हो जाता है। यह अर्थ ठीक है, परन्तु इस प्रसङ्गमें अपूर्ण है, इसीलिए स्थूल कहा गया है। पति-पत्नीके

प्रेममें भी तादात्म्य हो सकता है; माता अपनी सन्तानके साथ तादात्म्यका अनुभव करती है। परन्तु इन उदाहरणोंमें जहाँ एकके साथ तादात्म्य होता है वहाँ औरोंके साथ अनात्म्यका भी साथ-साथ व्यक्त या अव्यक्त रूपसे अनुभव होता है। 'यह मेरा, मेरा ही है', 'मैं इसकी, इसकी ही हूँ', 'दूसरा कोई हम दोनोंके बीचमें नहीं आ सकता',—इस तादात्म्यका यह रूप होता है। अपने मैं-का इतना विस्तार हो जाता है कि वह दूसरा व्यक्ति उसमें सन्निविष्ट हो जाता है और फिर यह विस्तृत मैं समूचे जगत्का सामना करनेको खड़ा हो जाता है। अपने और परायेका पार्थक्य बना रहता है। इस तादात्म्यकी जड़में भोक्तृभोग्य भाव है। कर्मपात्रसे अपनी किसी वासनाकी तृप्ति होती है, उससे अपनी कोई अव्यक्त भूख मिटती है, कोई रिक्त स्थान भर-सा जाता है।

परन्तु एक तादात्म्य इससे ऊँचा होता है। उसमें एकसे तादात्म्य होता है, पर किसी दूसरेसे अनात्म्य नहीं होता। अपने-परायेका भेद मिट जाता है और अपना मैं कर्मपात्रके मैं-में सन्निविष्ट हो जाता है। किसी-को बचानेके लिए जलते घरमें कूदनेवाला अपनेको भूल जाता है, उसके लिए उस समय केवल वह आपन्न प्राणी है। वहाँ भोगका कोई प्रश्न नहीं उठता, 'यह मेरा, मैं इसका' भाव नहीं होता, 'मैं इसको बचाऊँ' या 'इसको बचाना चाहिये'—यह बात सोची नहीं जाती। उसकी वेदना अपनी वेदना हो जाती है। जो आगसे स्वयं घिर जाता है वह अपना बचाव सङ्कल्प या तर्कपूर्वक नहीं किया करता; ठीक इसी प्रकार वह मनुष्य जिसमें कर्तव्यबुद्धि उदित होती है, दूसरेको बचानेके लिए प्रतिज्ञा या तर्क नहीं करता। उस क्षणमें उसके लिए 'मैं और उस'के बीचकी दीवार गिर जाती है।

सत्कर्म, सदाचार, धर्म, का यही लक्षण है कि उसमें क्षणभरके लिए देह और वासनाके वह पर्दे जो एक जीवको दूसरे जीवसे पृथक् किये हुए हैं उठ जाते हैं, नानात्वका प्रायः लोप हो जाता है, अभेदका साक्षात्कार होता है। वह क्षणिक समाधि है। जो ऐसा कर्म करता है वह

सत्पुरुष, सदाचारी, धर्मात्मा है। अन्यत्र, सदाचार और सदाचारी, धर्म और धर्मात्मा शब्दोंका प्रयोग औपचारिक है।

अविद्याकृत नानात्वके दूर होनेसे, अपने स्वरूपमें स्थित होते जानेसे योगीको जो अपूर्व आनन्द-रूपा अनुभूति समाधिमें होती है, उसीका अनुभव सत्पुरुषको उस क्षणमें होता है जब वह धर्ममें लगा होता है। परन्तु ऐसा अनुभव बहुत देरतक नहीं रह सकता इसलिए फिर नानात्व ज्योंका त्यों फैल जाता है, वही मैं-परका भेद पूर्ववत् स्थापित हो जाता है। इसीलिए कर्मसे मोक्ष, अविद्याका आत्यन्तिक नाश, नहीं हो सकता।

जो मनुष्य अविद्याके पार पहुँच चुका है, जिसके लिए नानात्वका क्षय हो चुका है, उसकी अवस्थाको कर्मकी दृष्टिसे धर्ममेघ कहते हैं। बादल सङ्कल्प करके या परिणामोंका विचार करके नहीं बरसा करता, बरसना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी मनुष्य जो कुछ करता है वह अनायास ही धर्म होता है। उसके आचरणमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दया, सहिष्णुता, प्रसाद आदि देखकर आश्चर्य करनेका स्थल नहीं है। और हो भी क्या सकता है? जो भोग-वासनाको जीत चुका है और एकत्वानुभूतिमें निष्णात है वह किससे झूठ बोले? किसका उत्पीडन करे? किसकी सम्पत्तिका अपहरण करे? किस बातका शोक करे? ईसाने सदाचारका लक्षण यह बताया था कि दूसरेके साथ अपने जैसा व्यवहार किया जाय। यह लक्षण तबतक अपूर्ण है जबतक यह न जान लिया जाय कि अपने और परायेका भेद कल्पित है, वह दूसरा व्यक्ति भी तुम ही हो, 'दूसरेके साथ अपने जैसा व्यवहार करो'का अर्थ है 'अपने साथ अपने जैसा व्यवहार करो'।

धर्म इस दृष्टिसे सार्वभौम है कि जो काम अभेद-बुद्धि उत्पन्न करनेवाला है वह सदा, सर्वत्र और सबके लिए करणीय है। यदि वह केवल भोगका साधक होता तो सार्वभौम न होता। वास्तविक बात यह है कि धर्म सह-अनुभूतिके द्वारा जीवको अपने स्वरूपकी एक झलक दिखला देता

है। अपने स्वरूपमें स्थित होना सबको अभीष्ट होना चाहिये, परन्तु यदि किसीकी बुद्धि इस बातको स्वीकार नहीं करती तो वह मनुष्य धर्मकी सार्वभौमता स्वीकार नहीं कर सकता। धर्म उसको पागलपन प्रतीत होगा, क्योंकि भेददर्शन ही उसके जीवनकी कुञ्जी है।

३. धर्माभ्यासाधिकरण

पिछले अधिकरणमें धर्मकी तात्त्विक मीमांसा की गयी है, परन्तु व्यवहारमें उस मीमांसाका उपयोग किस प्रकार किया जाय? हमको अभेददर्शनका अवसर देनेके लिए न तो लोग पानीमें डूबते रहेंगे, न आगमें जलते रहेंगे; यह भी सम्भव है कि यदि ऐसा अवसर आ भी गया तो हमारे भीतर कर्तव्यबुद्धि उदित न हो और हम खड़े-खड़े मौखिक समवेदना दिखलाते रह जायँ।

जलने-डूबनेवाले नित्य नहीं मिलते, परन्तु दैन्य, दुःख, दौर्बल्य, अज्ञानके उदाहरण नित्य मिलते हैं। कितना भी उन्नत समाज हो, उसको अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। इस काममें सबके लिए स्थान है। सबकी शक्ति और योग्यता एक-सी नहीं होती। कोई एक ही रोगीकी सेवा कर सकता है, कोई एक ही अशिक्षितको पढ़ा सकता है, कोई देशका शासन कर सकता है, कोई पुस्तक लिख सकता है, कोई प्रवचन द्वारा लोगोंकी बुद्धिका संस्कार कर सकता है। समाजको इन सब लोगोंकी आवश्यकता है। इनमेंसे प्रत्येक काम समाजके जीवनको पुष्ट और सुखमय बनाता है। इस प्रकारके कामोंको लोकसंग्रह कहते हैं। शुद्धभावसे किया गया लोकसंग्रह व्यावहारिक धर्म है।

पूर्णतया शुद्ध तो अभेद-भाव है परन्तु यह सुकर नहीं है, फिर भी अपने कामोंमें जितना ही अभेद-भाव लाया जा सकेगा उतना ही काम धर्म कहलानेके योग्य होगा। जो धर्मका आचरण करना चाहता है उसको अपने विषयमें सतर्क रहना चाहिये। बराबर इस बातपर दृष्टि रहनी चाहिये कि अपने स्वार्थ, अपने लाभका विचार न आने पाये।

अपनी बुद्धि जितनी ही निष्काम बनायी जा सकेगी उतना ही धर्मका आचरण हो सकेगा। कर्मका पात्र जितना ही विशाल होता है, बुद्धिमें उतनी ही निष्कामता लायी जा सकती है। एककी अपेक्षा कुटुम्ब, कुटुम्बकी अपेक्षा वर्ग, वर्गकी अपेक्षा राष्ट्र, राष्ट्रकी अपेक्षा मानव-समाज, मानव-समाजकी अपेक्षा विराट् अर्थात् प्राणिमात्रकी समष्टि, विशाल है। इनमेंसे किसी भी उत्तरवर्तीकी सेवाको अपना लक्ष्य बनानेसे पूर्ववर्तियोंकी अपेक्षा बुद्धि निर्मल, निःस्वार्थ, निष्काम होती है। सेवा छोटेकी भी होगी परन्तु बड़ेकी सेवाके साधनके रूपमें।

निष्काम कर्म भोगके लिए नहीं किया जाता इसलिए वह सुख-दुःखसे परे होता है। नैष्काम्य पूरा अभेददर्शन न हो तब भी उसके निकट है, इसलिए निष्काम कर्मके करनेमें एक अपूर्व उल्लास रहता है, जिसको असफलता अभिभूत नहीं कर सकती। भोगमूलक न होनेसे निष्काम कर्म चित्तपर कुसंस्कार नहीं छोड़ता।

यह तो कर्ताका भाव हुआ। अब प्रश्न यह है कि वह कौन-से कर्म करे? ऐसे कर्मोंकी तालिका यहाँ नहीं दी जा सकती, किन्तु एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट किया सकता है जिससे धर्मचिकीर्षुको बराबर सहायता मिल सकती है।

जब कभी कर्मके सम्बन्धमें विचिकित्सा हो तो दो बातें करनी चाहिये। एक तो यह देखना चाहिये कि अपना चित्त निष्काम है, उस समस्यापर राग या द्वेषलित बुद्धिसे विचार नहीं किया जा रहा है। दूसरी बात यह सोचनेकी है कि जितने पर्याय समझमें आते हैं उनमें कौन-सा अभेद-भावको पुष्ट करनेवाला है। जो काम सौहार्द, एकताको बढ़ानेवाला है वह करणीय है।

जिन बातोंसे लोगोंकी बुद्धि अपने-अपने स्वार्थ अर्थात् अपने-अपने अर्थ और कामपर केन्द्रीभूत होती है, जो बातें लोगोंकी बुद्धिको खींचकर अपने-अपने सुखोंपर लाकर जमा देती हैं, जो बातें जीव-जीवके पार्थक्यको प्रोत्साहित करती हैं, वह ऐक्यवर्द्धक नहीं हो सकतीं। उनके आधारपर

१५

यदि कुछ एकता आ भी जायगी तो वह थोड़ी देरतक टिकेगी और समुदायविशेषतक सीमित होगी। उसकी पृष्ठभूमिमें बहुत बड़ा दौहार्द होगा और उसका परिणाम भी कलह और प्रतिहिंसारूपी होगा।

साधारण मनुष्य यह बात नहीं कह सकता कि कर्तव्यका निर्णय करनेमें उससे भूल न होगी। पहिले तो चित्तको पूर्णतया निष्पक्ष, निष्काम बनाना बहुत कठिन है, फिर जहाँ दो पर्याय तुल्यबलवाले प्रतीत होते हैं, दो अच्छे भावोंमें टक्कर होती है, वहाँ यह निश्चय करना बहुत कठिन होता है कि इनमें कौन-सा ऐक्यमूलक, पार्थक्यतनूकर, है। तात्कालिक परिणामका तो चाहे कुछ ऊहन हो भी जाय, परन्तु दीर्घकालकी बातका अनुमान बैठाना दुष्कर होता है। तीसरी बात यह है कि कोई अपनी बुद्धि और ज्ञानके ऊपर नहीं उठ सकता। शिक्षा और अनुभवसे बुद्धिकी सहज प्रतिभा चमक उठती है, परन्तु सबकी बुद्धि किसी उपायसे एक-सी नहीं बनायी जा सकती। जिसकी बुद्धि जितनी ही परिष्कृत होगी वह उतनी ही सफलता कर्तव्यनिर्णयमें पा सकेगा। भूल और तज्जनित दुष्परिणामोंके लिए तैयार रहना चाहिये, पर ऐसी सतर्कताके बाद की गयी भूल बहुत हानि नहीं कर सकती। कर्ताको कोई दुराग्रह नहीं होता इसलिए वह भूलको स्वीकार करने और सुधारनेके लिए सदा प्रस्तुत रहेगा।

सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रकार किये गये काममें कटुता नहीं होती। जो कर्मका पात्र होता है वह उस कर्मको भले ही पसन्द न करे, उसका विरोध करे, उसके कारण दुखी हो, पर वह भी कर्ताके सद्भावको माननेके लिए विवश होगा; विरोध करेगा, परन्तु नतमस्तक, लज्जित, होकर; उसके चित्तपर भी द्वेषके संस्कार अंकित न होंगे। डाक्टर नश्तर चलाता है, इससे रोगीको पीड़ा होती है; डाक्टरसे भूल हो सकती है और इस भूलके फलस्वरूप रोगीका अङ्गच्छेद हो सकता है फिर भी किसीको डाक्टरके सद्भावपर शङ्का नहीं होती। सब जानते हैं कि उसको नश्तर चलानेमें नहीं वरन् रोगीको स्वस्थ करनेमें सुख मिलता है।

चित्तको निष्काम, बुद्धिको परिष्कृत, बनाना भी यत्नसाध्य है। पूर्ण निष्कामता तो उसको ही हो सकती है जो पूर्ण योगी है। उसकी ही बुद्धि पूर्णतया परिष्कृत होगी। परन्तु जो उस पदवीको प्राप्त नहीं है, कर्म उसको भी करना है। अपना आचरण धर्मानुकूल हो इसके लिए उसको विरति और तपका अभ्यास करना चाहिये। शरीर आज है कल न रहेगा, इसकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि सब अभीष्ट इसीसे सिद्ध होते हैं, परन्तु सुखोंके पीछे दौड़ना भूल है। भोग चिरस्थायी नहीं होता और जहाँतक अपने भोगके लिए यत्न किया जाता है वहाँतक अपने और दूसरोंके बीचको दीवार मोटी की जाती है। जहाँतक वासनाका संवरण किया जाता है वहाँतक यह दीवार पतली पड़ती है। भोक्ता अधिक हैं, भोग्य कम हैं इसलिए स्पर्धा और संघर्ष होता है। चित्तको विषयोंसे हटाना विरति है और जीवन-निर्वाहकी जो पद्धति इस काममें सहायता दे वह तप है। जो मनुष्य मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षामें रत रहेगा, जो अपने स्वको बराबर बड़े स्वके साथ मिलानेका प्रयत्न करता रहेगा, समाजके दुःखकी निवृत्ति और उसके सुखकी निर्वृत्तिमें रतमान रहेगा, उसको नैष्काम्य और चित्तप्रसादकी प्राप्ति होगी और वह उस योगमार्गका अधिकारी बन सकेगा, जिसपर चलनेसे बुद्धिका परिष्कार होता है।

४. यज्ञाधिकरण

पुस्तकके पहिले अध्यायमें हमने देखा था कि जिस समाजके हम अङ्ग हैं उसमें जितने भी प्राणी हैं उन सबका हमारे ऊपर कुछ ऋण है और यदि हम इस ऋणको नहीं चुकाते तो कृतघ्नताके दोषी होते हैं। इस ऋणको चुकानेका दूसरा नाम कर्तव्यका पालन करना, धर्मका आचरण करना है।

हमारा समाज विशाल है। विराट् पुरुष वह अवयवी है जिसके हम सब अङ्ग हैं। ऐसा मानना भूल है कि हमारा सम्बन्ध केवल अपने कुटुम्ब या वर्ग या राष्ट्र या मनुष्यमात्रसे है। हमारे बहुत-से सम्बन्धी हैं

जो इस समय मनुष्य नहीं हैं। एक ओर वह प्राणी हैं जिनकी बुद्धि हमसे कम विकसित है, यहाँतक कि उनमेंसे बहुतोंको चेतन माननेमें भी हमको सङ्कोच होता है। पशु, पक्षी, मत्स्य, कीट, कृमि, जीवाणु, वनस्पति, ओषधि, यह सब भी इसी जगत्में हैं। तत्त्वतः इनमें और हममें कोई अन्तर नहीं है। इनमेंसे कुछका उपकार तो इतना बड़ा है कि हम उसको अस्वीकार कर ही नहीं सकते, कुछ ऐसे हैं जिनसे हमको क्षति पहुँचती प्रतीत होती है, शेषके विषयमें हमको अभी हानि-लाभका ज्ञान नहीं है। जहाँ जगत्में यह अविकसित प्राणी हैं वहाँ दूसरी ओर वह उत्कृष्ट जीव हैं जिनका हमको साधारणतः साक्षात्कार नहीं होता। योगी जानता है कि देवगण हैं और हमारी निरन्तर सहायता करते रहते हैं। इन सक्रिय जीवात्माओंके अतिरिक्त हमारे ऊपर अपने पूर्ववर्तियोंका भी बहुत बड़ा ऋण है। इन सब ऋणोंको चुकाना धर्म है। जो ऋणशोधका यत्न नहीं करता वह अधर्मी है।

आज जब हम दर्शन और विज्ञान, धर्म और कला, का चर्चा करते हैं तो उन लोगोंको भूल जाते हैं जिनके हम दायाद हैं। जिस संस्कृतिके बलपर हम अपने जीवनको उन्नत मानते हैं उसकी नींव जिन लोगोंने डाली थी उनमेंसे बहुतोंके नामतक विस्मृत हो गये हैं। जिनके नाम चले भी आते हैं वह हमको अपने नहीं प्रतीत होते। ऐसा नहीं लगता कि भृगु, अङ्गिरा, अथर्व, वशिष्ठ, विश्वामित्र, मनु हमारे कोई थे। हमको अपनी सभ्यतापर गर्व है, परन्तु यदि आजसे सहस्रों वर्ष पहिलेसे राजपुरुष, योद्धा, साधु और विद्वान् परिश्रम न करते रहते तो यह सभ्यता कहाँ होती? पुरूरवा, मान्धाता, रघु, ऋषभ, भरत, हरिश्चन्द्र, भोज, विक्रम, राम, कृष्ण, परशुराम, पाण्डवबन्धु, कर्ण, भीष्म, अशोक, समुद्रगुप्त, सीता, सावित्री, कणाद, गौतम, कपिल, जैमिनि, शङ्कराचार्य, व्यास, वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, बुद्ध, महावीर, चरक, पतञ्जलि, पाणिनि, बृहस्पति, कौटिल्य, भास्कर—किस-किसका नाम लें। और फिर तुलसी, सूर, कबीर, नानक, मीरा, रामदास, तुकाराम, चैतन्य, रामकृष्ण, प्रताप, शिवाजी,

गान्धी—क्या हम इनको कभी भूल सकते हैं ? यह सूची सर्वग्राही नहीं है। इनको और इन जैसी दूसरी महान् आत्माओंको भूलना कृतघ्नता है। यह भारतीय नाम हैं। इतने प्राचीन नाम चाहे न मिलें, किन्तु दूसरे देशोंमें भी ऐसे प्रातःस्मरणीय मनुष्य हो गये हैं। यह लोग चाहे जिस देशमें रहे हों, मनुष्यमात्रके लिए वन्दनीय हैं। आज हम विश्वसंस्कृति और विश्वसभ्यताकी ओर बढ़ रहे हैं। इसलिए ऐसे सभी महापुरुषोंका ऋण स्वीकार करना चाहिये। इस ऋणका परिशोध इतना ही है कि जो दीपक उन लोगोंने जलाया था, वह बुझने न पाये। उन्होंने मनुष्यको पशुओंसे ऊपर उठाया, ऐसा न हो कि हम उसे फिर पशुओंमें गिरा दें। हमारा कर्तव्य है कि मनुष्योंमें भ्रातृभाव, ऐक्य, संस्कृति और सभ्यताका विस्तार करें।

हमारे ऊपर पितृऋण भी है। हमारे पितरोंने स्वयं कष्ट सहकर हमको सुखी बनानेका यत्न किया। हम इस ऋणके बोझसे यों ही हल्के हो सकते हैं कि अपनी सन्तानको शक्यभर शिक्षित, संस्कृत, सुखी बननेका अवसर दें। माता-पिता होना बहुत बड़ा दायित्व है। जाने कितने शरीरोंमें घूमता हुआ कोई जीव हमारे घरमें जन्म लेता है। उसके इस जन्म और आगेके जन्मोंपर हमारे व्यवहारकी छाप पड़ेगी। बच्चे विनोदकी सामग्री नहीं हैं। जो गृहस्थ अपने कुलमें श्रेष्ठ पुरुष और श्रेष्ठ स्त्री उत्पन्न करता है वह पितरोंके ऋणसे मुक्त होता है।

दया और सौहार्द केवल मनुष्योंतक सीमित रखनेके गुण नहीं हैं। छोटे प्राणी हमारे सामने ठहर नहीं सकते, इसलिए उनके प्रति हमारा दायित्व और बढ़ जाता है। हमारे शरीरोंकी बनावट ऐसी है कि दूसरे जीवोंको कुछ-न-कुछ क्षति पहुँचाये बिना काम नहीं चलता। जीव जीवका अन्न है, पर यह अटल सिद्धान्त स्वेच्छाचारकी अनुमति नहीं देता। तिर्यक् शरीरियोंसे हम उतना ही ले सकते हैं जितना हमारी शरीर-यात्राके लिए अनिवार्यतया आवश्यक हो। न तो साधारण अवस्थामें आमिष भोजन क्षम्य हो सकता है, न मनोरञ्जनके लिए पशु-संहार मानवोचित कर्म

है। हम और कुछ नहीं तो इतना तो कर ही सकते हैं कि जिन प्राणियोंसे हमारी प्रत्यक्ष हानि नहीं होती उनकी स्वच्छन्दतामें बाधा न डालें।

हमारे लिए सबसे बड़ा कर्मक्षेत्र मनुष्योंके बीचमें है। इस क्षेत्रके अस्तित्वको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। सब मनुष्य एक-दूसरेके साथ बँधे हुए हैं। लोग अपने-अपने पृथक् हितोंका राग भले ही अलापें, परन्तु सच बात यह है कि सबका सुख-दुःख एक साथ है। एक देशका दुर्भिक्ष, यादवीय या संक्रामक रोग दूसरे देशोंको हिला देता है। एक देशमें प्रवर्तित विचार विषुवत्रेखाकी भाँति सारी पृथिवीको लपेट लेता है। ऐसी दशामें सबका सबपर ऋण है। इस बातको न समझनेसे ही कलह और युद्धके लिए छिद्र मिलता है।

व्यक्तिपर जो दूसरोंका देना है उसका कुछ अंश तो राज और समाज उससे बलात् वसूल कर लेते हैं, किन्तु यह अंश कुलका बहुत छोटा अंश है। हठात् किये जानेसे इसको सदाचार कहते भी नहीं। सदाचार वही आचरण हो सकता है जो स्वेच्छासे किया जाय। जो काम कर्तव्य-बुद्धिसे किया जायगा, वही सदाचार, वही धर्म होगा।

धर्मके तात्त्विक और व्यावहारिक स्वरूपके विषयमें हम इसके पहिलेके दो अधिकरणोंमें विचार कर आये हैं। जो मनुष्य धर्मका प्रेमी है, जो कर्तव्यका पालन करना चाहता है, उसको अपने जीवनको यज्ञानुष्ठान बनाना होगा।

यज्ञके तीन मुख्य अङ्ग होते हैं। उनमें पहिला अंग व्रत है। यजमानको यह सङ्कल्प करना होता है कि मैं यजनकालमें सत्यका पालन करूँगा। जीवनका महायज्ञ यावदायु चलता है इसलिए सत्यका पूरा, सदाके लिए, सङ्कल्प करना होगा। दम्भ, कपट, छद्माचार, अनृजुता—यह सब असत्यके रूप हैं। इनका परित्याग होना चाहिये। जो सत्यसे विमुख है उसकी उपासना, उसका तप, सब निष्फल है। दूसरा व्रत अहिंसा है। अहिंसाका अर्थ शस्त्र न उठाना नहीं है। शस्त्र बिना उठाये भी हिंसा की जा सकती है और शस्त्र चलाकर भी अहिंसा सुरक्षित रह

सकती है। अहिंसाका अर्थ है अद्वेष—किसीका बुरा न चाहना। दुर्गा-सप्तशतीमें देवगणने देवीकी यह प्रशंसा की है कि आपमें 'चित्ते कृपा, समरनिष्ठुरता' दोनों साथ-साथ हैं। आप आततायियोंसे जगत्‌के कल्याणके लिए लड़ती हैं, पर इसके साथ ही यह चाहती हैं कि इनका कल्याण हो। भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनसे यही कहा था कि यों भी अपने सम्बन्धियोंको मरते-कटते देखकर तुम लड़ोगे, परन्तु वह उत्तम भाव नहीं है। स्थितप्रज्ञ मनुष्य भी उत्पीड़कोंका दमन करता है, परन्तु क्रोधके आवेशमें नहीं, उनका अहित करनेके लिए नहीं, प्रत्युत कर्तव्य-बुद्धिसे, उस जगत्‌के हितके लिए जिसमें वह दुराचारी भी है।

अहिंसा नञात्मक है। कोरी अहिंसासे अकर्मण्यता आ सकती है। इसलिए सत्य और अहिंसाके साथ तीसरा व्रत दयाका होना चाहिये। समवेदना इसीका दूसरा नाम है। दयासे ही धृति और सहिष्णुता मिलती है। कर्तव्यपालन करना कभी-कभी बड़ा कड़वा प्याला पीना होता है। दया उस प्यालेको सह्य बना देती है। बच्चा अपना हित नहीं जानता। वह औषध पिलाते समय कभी-कभी मातापर लात चला देता है, दाँत काट लेता है, पर वह उसकी अज्ञताको हँसकर सह लेती है।

यज्ञका दूसरा अङ्ग आहुति है। देवताके उद्देश्यसे जो अग्निमें डाला जाय उसे आहुति कहते हैं। कर्तव्य-यज्ञमें मानव-समाज देवता है और सेवा आहुति है। अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार जो कुछ सेवा बन पड़े वह समाजको अर्पित करनी चाहिये। सेवा शब्दपर भी ध्यान देना चाहिये। लोकसंग्रहमें लगे हुए मनुष्यमें यदि यह भाव आया कि मैं लोगोंपर अमुक प्रकार उपकार कर रहा हूँ तो उसका यज्ञ विध्वस्त हो जाता है। भाव यह होना चाहिये कि यह उन लोगोंकी, जिनके निःसीम उपकारोंके बोझसे मैं आचूड़ान्त दबा हूँ, बड़ी कृपा है कि मुझे थोड़ी-सी सेवा करनेका अवकाश देकर कुछ हल्का होनेका अवसर दे रहे हैं।

यज्ञका तीसरा अङ्ग बलि है। बलि-पशुकी शक्ति यजमानमें प्रवेश कर जाती है, ऐसा माना जाता है। जीवनयज्ञमें अपना अधम 'स्व' ही

पशु है। आलस्य, स्वार्थ, ईर्ष्याका आलभन करना होगा। ऐसा करनेसे अपनी कुवासनाओंका उन्नमन होगा और सद्वासनाओंका, अपने उत्तम 'स्व'का, बल बढ़ेगा।

धर्मचिकीर्षु इस प्रकार अपने समस्त जीवनको यज्ञ बना लेता है। जो बातें उसके स्वास्थ्य और शौचको, उसकी बुद्धि और शक्तिको, बढ़ानेवाली हैं वह सब धर्म हैं, यज्ञका अङ्ग हैं; जो काम लोकमें ऐक्य और सद्भाव फैलानेवाले हैं वह धर्म हैं। मनुष्यको चाहिये कि शय्यापरसे उठनेसे लेकर फिर शय्यापर लेटनेतक जितने भी काम करता है उनपर इस दृष्टिसे विचार करे।

देवगणका हमारे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है। जिस प्रकार हम भौतिक शक्तियोंसे अपना काम निकालते हैं उसी प्रकार देवगण भौतिक शक्तियोंका उपयोग हम भूलोंकनिवासियोंके हितके लिए करते हैं। जैसा कि पहिले भी लिखा जा चुका है, वह चाहते हैं कि हम सुखी और समृद्ध रहें, हममें धर्मबुद्धि और विद्याका प्रचार बढ़े। अलक्ष्य होते हुए भी वह हमारी सहायता करते रहते हैं, परन्तु हम उनके काममें बाधा डालते हैं। अल्पशक्ति होते हुए भी हम जीव हैं; बहुशक्ति होते हुए भी वह भी जीव हैं। देवोंके ऋणसे छुटकारा इस प्रकार हो सकता है कि हम उन कामोंमें प्रवृत्त हों जो उनको प्रिय हैं। जहाँतक हम आपसमें लड़ते हैं, शोषण, कलह, अविद्याको फैलाते हैं और उनके मूलोच्छेदका प्रयत्न नहीं करते वहाँतक हम असुरशक्तियोंका हाथ बँटाते हैं।

हमने धर्मकी तात्त्विक समीक्षा की और उसके व्यावहारिक रूपकी विवेचना की। यज्ञभावसे जो काम किया जाता है वह जीव-जीवके पार्थक्यको दूर करता है और कर्ताकी आत्माभिव्यक्ति करता है, उसकी बुद्धिको भेददर्शनसे उत्तरोत्तर ऊपर उठाता है। ऐसा कर्म पवित्र है, शुक्ल है, पुण्य है, धर्म है।

यज्ञ शब्दका प्रयोग उन काम्य कर्मोंके लिए भी किया जाता है जिनमें देवगणको प्रसन्न करनेके लिए मन्त्रोंके साथ अग्निमें आहुतियाँ

डाली जाती हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मन्त्रविशेष देवता अर्थात् दैवीशक्तिविशेषको आकृष्ट करनेमें समर्थ होता है और फिर अभीष्टकी सिद्धि होती है। ऐसे यज्ञ राज्य, सम्पत्ति, सन्तान, वृष्टि, रोग-निवृत्ति जैसे उद्देश्योंसे किये जाते हैं। मन्त्रका विषय बहुत महत्त्वका है, परन्तु यहाँ अप्रासङ्गिक है। काम्य यज्ञ हमारे लिए अविषय है। इस स्थलपर इतना ही कहा जा सकता है कि धर्मसे अविरुद्ध अर्थ और काम निषिद्ध नहीं हैं। सदैव परहितकी बात सोचते रहनेमें जो असमर्थ है—और अधिकांश मनुष्य इसी कोटिमें हैं—वह अपने अर्थ और कामको भूल नहीं सकता, उनके सम्पादनके लिए यत्नशील होगा। ऐसा करना बुरा नहीं है। आपत्तिकी बात तब होती है जब धर्म भुला दिया जाता है या गौण मान लिया जाता है। धर्मसे अर्थ और कामकी भी प्राप्ति हो सकती है और शरीरपातके बाद भी सद्गति प्राप्त हो सकती है। इसीलिए धर्म अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन कहा जाता है। यह क्षमता उसी कर्ममें आ सकती है जो लोकके लिए श्रेयस्कर हो और सङ्कल्पपूर्वक अनुष्ठित हुआ हो। जो कर्म किसी लौकिक या पारलौकिक आशा या भयसे किया जाता है या लोकाचारका अनुसरणमात्र होता है वह अच्छा होते हुए भी शुद्ध नहीं है। ऐसा कर्म धर्मकी पूर्ण मर्यादातक नहीं पहुँचता।

५. ब्राह्मणाधिकरण

जो मनुष्य धर्मका स्वयं पालन करता है और दूसरोंसे पालन कराता है वह ब्राह्मण है। सब लोगोंका न तो एक-सा ज्ञान हो सकता है, न बुद्धि हो सकती है और न एक-सी प्रकृति या शक्ति हो सकती है। इसलिए कर्तव्यका बोझ भी सबके ऊपर एक-सा नहीं डाला जा सकता, सबसे एक ही प्रकारके काम करनेकी आशा नहीं की जा सकती। बहुत-से लोग ऐसे हैं जो बहुत गम्भीर स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकते, वह प्रायः लोकाचारका ही अनुसरण कर सकते हैं। जो लोग सोचनेकी

योग्यता रखते हैं उनमें भी सेवाका एक ही प्रकार सबको रुचिकर नहीं प्रतीत हो सकता। किसीकी बुद्धि शिक्षणमें, किसीकी रक्षणमें, किसीकी वाणिज्य-व्यवसायमें और किसीकी शारीरिक श्रममें लगती है। समाजके जीवनके लिए यह सभी काम आवश्यक हैं; इनमेंसे एकके भी न होनेसे सामूहिक जीवन सङ्कटमें पड़ जायगा। सभी काम करनेवाले एक-दूसरे-पर आश्रित हैं; सब समाजपर आश्रित हैं और समाज सबपर आश्रित है। एक मनुष्य जिस कामको भली भाँति कर सकता है उसको स्यात् दूसरा उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकता और वह मनुष्य दूसरे कामको उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकता। इसीलिए कहा जाता है कि सब मनुष्योंके लिए एक ही धर्म नहीं है। जो भी काम यज्ञ-बुद्धिसे किया जाय वह धर्म होगा; जो भी काम धन या मानके लिए, लोभ या भयसे किया जाय वह धर्मपदवीसे च्युत हो जाता है।

समाजके सभी अङ्ग बराबर हैं; सभी आवश्यक हैं, अपने धर्मका पालन करनेवाले सभी आदरणीय हैं, फिर भी उस मनुष्यका स्थान सबसे ऊँचा मानना चाहिये जो शिक्षा द्वारा सेवा करता है। यहाँ केवल साधारण शास्त्रीय विद्याओंकी शिक्षासे तात्पर्य नहीं है। वह भी आवश्यक हैं, उनके बिना भी मनुष्य अन्धा रह जाता है, परन्तु जो लोग अध्यात्मविद्या और धर्मकी शिक्षा देते हैं वह तो समाजमें मूर्द्धन्य हैं। ऐसे लोग तप और त्यागके पथ-प्रदर्शक और मूर्तिमान् धर्म होते हैं। उनको ही ब्राह्मण कहते हैं।

ब्राह्मणत्व किसी कुलविशेषमें जन्म लेनेसे नहीं आता। जिसको ब्राह्मण होना है वह जन्मना वैसे स्वभावसे सम्पन्न होता है। शिक्षासे यह स्वभाव निखर उठता है। परन्तु ब्राह्मणत्वका मुख्य स्रोत स्वाध्याय, तप, त्याग और निदिध्यासन है। जो इन साधनोंसे युक्त है वही धर्मका प्रवचन करनेका अधिकारी है। जिसमें यह बातें नहीं हैं वह चाहे कितना भारी भी पण्डित हो और किसी भी कुलमें उत्पन्न हुआ हो, ब्राह्मण नहीं कहला सकता। ऐसा मनुष्य ऋषिपुत्र हो तब भी वह ब्रह्मबन्धु, ब्राह्मण

नामकी निन्दा करनेवाला है। जो समाज ऐसे धर्माक्षिहीन लोगोंसे धर्मकी व्यवस्था लेता है वह निःसन्देह पतनोन्मुख है। जो व्यक्ति धर्मका उपदेष्टा बनता है यदि वह स्वयं उसका पालन नहीं करता तो वह दूसरोंसे अधिक पतित है। जिसका जितना ज्ञान है उसका उतना ही दायित्व है।

सब ब्राह्मण नहीं हो सकते, परन्तु सबको ब्राह्मणका आदर्श अपने सामने रखना चाहिये। यदि इस जन्ममें ब्राह्मणत्व न भी प्राप्त हुआ तब भी जन्मान्तरके लिए अच्छी पूँजी साथ रहेगी। जो समाज अपने ब्राह्मणोंको पहिचानना जानता है, उनका आदर करता है और उनके आदेशके अनुसार चलता है उसका कल्याण होगा।

ब्राह्मणके सामने राजा और रङ्क बराबर हैं। वह निर्भीकतासे भर्त्सना करता है, निष्पक्ष होकर धर्मका उपदेश करता है। वह दुर्बलोंका बन्धु और दुखियोंकी मूर्त सान्त्वना है। साक्षात् यज्ञात्मा ब्राह्मण जिस किसी मनुष्यसे कोई सेवा स्वीकार करता है वह पावन हो जाता है।

६. कर्तृस्वातन्त्र्याधिकरण

जितनी बातें अबतक धर्मके सम्बन्धमें कही गयी हैं उनमें यह विवक्षित है कि कर्ता कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। यदि व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है, किसी बाहरी शक्तिके सङ्केतपर काम करता है, तो फिर धर्मका उपदेश देना व्यर्थ है; अपने कर्मके लिए कोई दायी नहीं ठहराया जा सकता; पुण्यपाप, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य, स्तुतिनिन्दा, पुरस्कारदण्डके सम्बन्धमें विचार करना समय नष्ट करना है।

साधारणतः हमको ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वतन्त्र हैं। जब जैसा मनमें आता है, जैसा सङ्कल्प उठता है, वैसा करते हैं। अज्ञानके कारण भले ही अनुचित सङ्कल्प कर बैठें, परन्तु सङ्कल्पपर बन्धन नहीं होता। एक ही समय दो या अधिक पर्याय आते हैं, मैं उनमेंसे चाहे जिसको पसन्द करूँ। अन्तमें किसी एकको चुन लेता हूँ। यह मेरा निश्चय वस्तुतः स्वतन्त्र है, मेरा है।

यदि यह बात ठीक है तब तो हमारी अबतककी समीक्षाके लिए आधार है, परन्तु यह स्वतन्त्रताका प्रश्न विचारणीय है। हम उतने स्वतन्त्र नहीं हैं जितना वेसोचे-समझे अपनेको मान लेते हैं। यह तो ठीक है कि हम अपने सङ्कल्पके अनुसार काम करते हैं, परन्तु क्या हम सङ्कल्प करनेमें स्वतन्त्र हैं ? क्या जिस समय हमने कोई सङ्कल्प किया था उस समय किसी दूसरे प्रकारका सङ्कल्प करना, कोई दूसरा पर्याय चुनना, हमारे लिए सम्भव था ?

जो लोग स्थावरजङ्गम जगत्को ईश्वरकर्तृक मानते हैं वह तो उपर्युक्त प्रश्नका एक ही उत्तर दे सकते हैं। यदि मुझे ईश्वरने बनाया है, यदि मुझे उसने बुद्धि दी है, यदि मुझे उसने विशेष परिस्थितिमें डाला है, तो यह कहना कि मैं स्वतन्त्र हूँ मेरे साथ क्रूरतामय हँसी करना है। किसीको हाथ-पाँव बाँधकर पानीमें फेंक देना और फिर उससे कहना कि तुम स्वतन्त्र हो, अपने कपड़ोंको भींगा रखो या सूखा, स्वतन्त्र शब्दकी दुर्दशा करना है। परन्तु यह मत समीचीन नहीं है। हम ज्ञानखण्डमें देख चुके हैं कि ऐसा कोई ईश्वर है ही नहीं जो जीव और उसकी बुद्धिका स्रष्टा हो।

ईश्वर न सही, परिस्थितिका प्रभाव तो सङ्कल्पपर निःसन्देह पड़ता है। स्वस्थ और रोगीके, तृप्त और भूखेके, धनिक और निर्धनके, स्थिर-चित्त और चिन्ताग्रस्तके, सङ्कल्प एक-से नहीं होते। शिक्षित-अशिक्षितके सङ्कल्पमें भेद होता है, युद्ध और शान्तिकालके सङ्कल्पमें भेद होता है। बहुधा हम परिस्थितिको देखकर यह पहिलेसे ऊहन कर लेते हैं कि तत्रस्थ मनुष्य कैसा काम करेगा।

परन्तु यह अटकल कभी-कभी ठीक नहीं निकलता। कोई मनुष्य अपवाद जैसा देख पड़ता है। परिस्थिति बलवती होती है, परन्तु कर्म करनेमें मनुष्यके सहज स्वभावका भी निर्णायक भाग होता है।

सबका स्वभाव एक-सा नहीं होता। सब लोग एक-सी बुद्धि, एक-सी योग्यता, एक-सी वासनाओंके साथ जन्म नहीं लेते। हम पहिले देख चुके हैं कि पिछले अनेक जन्मोंमें प्राप्त अनुभवोंके संस्कारोंके कारण जीवोंके

चित्तों और व्यवहारोंमें भेद होता है। अपने-अपने चित्तके अनुसार परिस्थितिपर प्रतिक्रिया होती है और तदनुसार भोग होता है। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि जीव प्रारब्धके वशमें है। माना कि प्रारब्ध उसके कर्मोंका ही फल है, पर लोहेकी शृङ्खला अपनी गढ़ी हो या परायी, बन्धन तो एक-सा ही होगा। पिछले कर्मोंके अनुसार इस समयकी बुद्धि, इस बुद्धिके अनुसार इस जन्मके कर्म, इन कर्मोंके अनुसार आगेकी बुद्धि—यह अनन्त परम्परा हो गयी। इसमें न कहीं धर्मोपदेशके लिए स्थान है, न मोक्षका प्रश्न उठ सकता है।

यह आशङ्का ठीक नहीं है। जीवसे बड़ा कोई नहीं है। वह क्षुद्र शरीरमें भी जाता है, देवपद भी प्राप्त करता है, उससे भी ऊपर उठता है। सारी शक्तियाँ उसमें हैं, परन्तु अविद्याके आवरणने उसको अल्पज्ञ और अल्पशक्ति बना रखा है। उसकी दशा उस दहकते अङ्गारे जैसी है जिसपर राखकी तह जमी हुई है। इससे भी अच्छी उपमा यह है कि जीव वड़वाग्निके समान है जो जल और भूखण्डके नीचे दब गयी है। कभी-कभी वह फूट पड़ती है। उस समय आवृत करनेवाले भूस्तर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कभी किसी कलाकारकी कृति, कभी कोई प्राकृतिक दृश्य, कभी किसी दूसरे जीवकी बेबसी, कभी किसी वीतराग मनुष्यका आचरण, कभी किसी ओजस्वी प्रवक्ताका उपदेश, सोये हुए जीवको जगा देता है, उसके चित्तको आलोडित कर देता है; अन्तर्निमग्न शक्तियाँ अवबुद्ध हो उठती हैं, स्वभाव पराभूत हो जाता है। यही जीवकी स्वतन्त्रता है। थोड़ी-बहुत सदा काम करती है, जीव परिस्थिति और स्वभावका पूर्ण दास कभी भी नहीं होता। फिर भी प्रारब्ध बलवान् रहता है। किन्तु कर्ता वस्तुतः स्वतन्त्र है। उसकी इस स्वतन्त्रताके आधारपर ही धर्मका आदेश और उपदेश दिया जाता है। ज्यों-ज्यों वह धर्माचरण करता है त्यों-त्यों उसको अपनी स्वतन्त्रताका अधिकाधिक परिचय मिलता है।

दूसरा अध्याय

समाज और धर्म

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्मका पालन करें तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकें, परन्तु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्मका स्थान गौणातिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलरका फूल हो गयी है। यदि एक सुखी और सम्पन्न है तो पचास दुःखी और दरिद्र हैं। साधनोंकी कमी नहीं है, परन्तु धर्मबुद्धिके विकसित न होनेसे उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु प्रकृतिके प्राणी तो स्यात् समाजमें सभी कालोंमें रहे हैं और रहेंगे, परन्तु आजकल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगोंको अपनी प्रवृत्तिके अनुसार काम करनेका खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरोंको उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी हैं उनके मार्गमें पदे-पदे अड़चनें पड़ती हैं।

मनुष्यका सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है, परन्तु समाज किसीमें हठात् आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता। न कोई योगी बननेके लिए विवश किया जा सकता है, न ब्रह्मविवित्सुओंके लिए सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। बलात् कोई धर्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु समाजका संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने आत्मज्ञान और अभेददर्शनका आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका मूलमन्त्र प्रतिस्पर्द्धाकी जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओंके विकासका अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो तो धर्मको स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षाको अनुकूल वातावरण मिल जायगा। इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जायगी कि जिन

लोगोंकी धर्मबुद्धि अभी उद्बुद्ध नहीं है वह समाजकी बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्यने अपनेको इतने टुकड़ोंमें बाँट लिया है कि एकताको कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं उतने ही पृथक् हित हैं और इन हितोंकी सिद्धि पार्थक्यको उतना ही बढ़ाती है।

उदाहरणके लिए उस टुकड़ेको लीजिये जिसको राष्ट्र कहते हैं। हमने अपनेको राष्ट्रोंमें बाँट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपनेको स्वतन्त्र, प्रभुराजके रूपमें संव्यूढ़ देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं, एक ही संस्कृतिके उपासक हैं, एकको दूसरेसे कोई द्वेष नहीं है, फिर भी विभिन्न राष्ट्रोंके सदस्य होनेके कारण उनके हित टकराते हैं, एकको दूसरेसे लड़ना पड़ता है, एकको दूसरेके बाल-बच्चोंको भूखों मारना पड़ता है। व्यक्तिको दास बनाना बुरा समझा जाता है, परन्तु समूचे राष्ट्रको दास बनाना, समूचे राष्ट्रके जीवनको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना, समूचे राष्ट्रका शोषण करना बुरा नहीं है। बलात् दूसरेके घरका प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु बलात् दूसरे राष्ट्रपर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रों और राजोंके परस्पर व्यवहारमें सत्य, अहिंसा और और सहिष्णुताका स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी एक पाई दबा लेना बुरा समझता है वह राजपुरुषके पदसे दूसरे राष्ट्रका गला घोंट देना निन्द्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुम्बमें व्यक्ति होते हैं, समाजमें राष्ट्र इसी प्रकार रहें। कुछ बातोंमें अपना अलग जीवन भी बितायें, परन्तु सारे मानव-समाजकी एकता सतत सामने रहनी चाहिये। युद्ध और कलहका युग समाप्त होना चाहिये; जो राष्ट्र दूसरेकी ओर कुदृष्टिसे देखे वह राष्ट्र-समुदायसे बहिष्कृत और दण्डित होना चाहिये। न्याय और सत्य सामूहिक आचरणके आधार बनाये जा सकते हैं। मानव-संस्कृति एक और अविभाज्य है; योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी चाहे किसी देशके निवासी हों, मनुष्य-समाजमात्रकी विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिये। प्रकृतिने जो

भोग्य-सामग्री प्रदान की है उसे भी मनुष्यमात्रके उपभोगका साधन मानना उचित है। जबतक मनुष्य अपने देशके बाहर अजनबी समझा जायगा, जबतक वसुन्धरा बलवानोंकी सम्पत्ति समझी जायगी, जबतक किसी देशको यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशोंकी आवश्यकताकी पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तोंपर, तबतक मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो सकता।

जो नियम अन्तर्राष्ट्रीय जीवनके लिए उपयुक्त है वही राष्ट्रके भीतरके लिए भी लागू होता है। यह समाजशास्त्र, राजनीति या अर्थशास्त्रकी पुस्तक नहीं है, परन्तु दो-चार बातोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

राष्ट्रका भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिये जिसमें प्रत्येक मनुष्यको धर्माविरुद्ध अर्थ और कामकी निर्बाध प्राप्ति हो सके। यह तभी हो सकता है जब समाजका सङ्घटन धर्ममूलक हो। समयके साथ धर्मके ऊपरी रूप बदलते रहते हैं, परन्तु उसके मूलतत्त्व अटल हैं। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है वह धर्म है; जो काम अपने संकुचित 'स्व'-पर केन्द्रित रहता है वह अधर्म है। जिस समाजमें कोई जन्मना ऊँचा, कोई जन्मना नीचा माना जायगा; जिस समाजमें योग्य व्यक्तिको ऊपर उठनेका, अपनी सहजात योग्यताको विकसित करनेका अवसर न दिया जायगा और अयोग्य व्यक्ति कुलके आधारपर ऊँचे पदसे हटाया न जायगा; जिस समाजमें तप और विद्याका स्थान सर्वोपरि न होगा वह समाज अधर्मको नींवपर खड़ा है। जिस समाजमें थोड़े-से व्यक्तियोंको समाजकी धनजन-शक्तिको यथेच्छ लगानेका अधिकार होता है; जिस समाजमें शासितोंको अपने शासकोंकी आलोचना करने, और उनके कामसे असन्तुष्ट होनेपर उनको हटाने का अधिकार नहीं होता; जिस समाजमें शासकोंके ऊपर तपस्वी विद्वानों, ब्राह्मणोंका अकुंश नहीं होता; जिस समाजमें शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासनापर शासकोंका नियन्त्रण होता है, वह समाज अधर्मकी नींवपर खड़ा है। जिस समाजमें थोड़े-से

मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन हैं, जिस समाजमें भोज्य पदार्थोंके उत्पादनके मूल साधनों, अर्थात् भूमि, खनिजों और यन्त्रोंपर कुछ व्यक्तियोंका स्वत्व है; जिस समाजमें मनुष्यका शोषण वैध है; जिस समाजमें प्रतिस्पर्धियोंको नीचे गिराना ही उन्नतिका साधन है; जिस समाजमें बहुतोंकी जीविका थोड़ोंके हाथ में है, वह समाज अधर्मकी नींवपर खड़ा है। यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन कालमें आजसे कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व इनमेंसे कई बातें उचित समझी जाती थीं और बड़े-बड़े विद्वानोंने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है, धर्मका सिद्धान्त अटल है, परन्तु देश-काल-पात्रभेदसे उसके विनियोगमें भेद होता रहता है। पुराकालके ब्राह्मणोंने अपने समयके लिए चाहे जो व्यवस्था की हो, परन्तु हमको इस समयको देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गान्धीका नाम तर्कका स्थान नहीं ले सकता। बस, धर्मा-धर्मकी एक ही परख है : यह काम भेदभावको कम करता है या बढ़ाता है? लोगोंको एक-दूसरेसे मिलाता है या उनमें संघर्ष उत्पन्न करता है? जहाँ कुछ लोगोंको केवल अधिकार और कुछको केवल कर्तव्य बाँटे जायँगे, जहाँ शिक्षक, पण्डित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियों और श्रीमानोंके उपजीवी होंगे, जहाँ पुरोहितका लक्ष्य केवल यजमानसे धन प्राप्त करना होगा, जहाँ सम्पन्नोंके दरबारी व्यासपीठसे दुर्बलों और दलितोंको शान्ति और सन्तोषका पाठ पढ़ानेमें इतिकर्तव्यता समझेंगे, वहाँ कदापि समता, सद्भाव, सहयोग, एकता नहीं रह सकती। वहाँ वैषम्यकी आग प्रत्येक दुःखी हृदयमें दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रान्तिकी लपट न केवल समाजकी बुराई वरन् भलाईको भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि अन्याय, शोषण, प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवञ्चनका निरन्तर विरोध करें और मनुष्य-मनुष्यमें, प्राणी-प्राणीमें, सद्भाव और शान्ति स्थापित करनेका यत्न करें। ऐसे वातावरणमें ही ऊँची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं; ऐसी परिस्थितिमें ही धर्मका अभ्यास निर्बाध और परिपूर्ण हो सकता है;

ऐसे समाजमें ही आत्मसाक्षात्कारके इच्छुकोंको सुयोग मिलता है। समाज किसीको ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता, परन्तु मनुष्यको मनुष्यकी भाँति रहनेका अवसर दे सकता है। उसका यही धर्म है।

तीसरा अध्याय

शिक्षा

समाजका सम्यक् सञ्चालन तभी हो सकता है जब प्रत्येक नागरिक-पर इसका दायित्व हो। जो समाज अपना सारा भार थोड़े-से व्यक्तियोंके कन्धेपर डाल देता है उसको इस बातके लिए तैयार रहना चाहिये कि एक दिन उसके सारे अधिकार इन थोड़े-से व्यक्तियोंके हाथोंमें चले जायँगे। फिर उसको अपनी खोयी सम्पत्तिको वापस लेनेके लिए विकट लड़ाई करनी होगी। परन्तु नागरिक समाजका काम तभी सँभाल सकता है जब उसमें इसकी योग्यता हो और वह सामाजिक जीवनके लक्ष्यको समझता हो। यह बात शिक्षापर निर्भर करती है।

शिक्षाका अर्थ व्यापक है। साधारणतः उसको बौद्धिक व्यायामका समानार्थक मान लिया जाता है। छात्रको साहित्य, विज्ञान, इतिहास, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, जितने भी पाठ्य विषय हैं पढ़ा दिये जायँ और वह कुशल चिकित्सिक या अध्यापक या इञ्जीनियर जैसा कुछ बना दिया जाय। समाजको ऐसे लोगोंकी बराबर आवश्यकता रहती है। यदि हर मनुष्यको उसकी योग्यताके अनुसार काम और हर कामके लिए कुशल मनुष्य मिल जाय तो सभी सुखी और सम्पन्न रहें।

यह मत निराधार नहीं है। समाजको ऐसे लोगोंकी सदा आवश्यकता रहती है जो उसके अर्थ और कामका सम्पादन कर सकें। परन्तु यदि अर्थ और कामपर ही ध्यान दिया गया तो स्पर्धा ही उन्नतिका साधन हो जायगी। सबकी दृष्टि अपने ऊपर केन्द्रीभूत होगी; हितोंका संघर्ष जारी रहेगा और समाज शान्तिके लिए तरसता रह जायगा।

हित-संघर्षका कारण यही है कि सब अपने स्वार्थ, अपने अर्थ और

कामको ढूँढ़ते हैं। किसीको किसीसे द्वेष नहीं है, सबको अपनेसे राग है। एक अँधेरे कमरेमें यदि दस मनुष्य बन्द कर दिये जायँ और सब बाहर निकलनेका द्वार ढूँढ़ रहे हों तो कई बार आपसमें टकरा जायँगे। किसी-को किसीसे बैर नहीं है पर सब केवल अपने लिए द्वार ढूँढ़ रहे हैं, इसीसे टकराते हैं। एक-दूसरेसे लड़नेमें शक्तिका अपव्यय होता है। वही मनुष्य यदि यह समझ लें कि सबका एक ही उद्देश्य है, तो उनकी सम्मिलित शक्तिका उपयोग हो सके। ऐसी दशामें यदि छुटकारेका द्वार न मिला तब भी लड़कर एक-दूसरेकी विपत्ति बढ़ायी तो न जायगी। ठीक यही बात समाजमें है। हमको एक-दूसरेसे बैर नहीं है, पर अपने भोगपर आँख लगी है। सबकी यही दशा है। यदि यह बात समझमें आ जाय कि सबका हित एक ही है और वह सहयोगसे प्राप्त हो सकता है तो आपसका द्वन्द्व बन्द हो जाय। सबको सुख-समृद्धि प्राप्त हो; कमसे कम हम एक-दूसरेके दुःखको बढ़ानेके साधन न बनें।

छात्रोंकी कोमल बुद्धिमें यह बात आरम्भसे ही बैठानी चाहिये। चारों ओर सौन्दर्यमय वातावरणमें प्रकृतिच्छटा और कलापूर्ण कृतियोंके बीचमें छात्रका जीवन बीतना चाहिये। उनके सामने सफल धन-उपार्जन करनेवालों और विजेताओंको आदर्श-रूपसे न रखकर विश्वको एकताका पाठ पढ़ानेवालोंका उत्कर्ष बताना चाहिये। बचपनसे ही तप और त्यागका अभ्यास न पड़ा तो आगे चलकर कठिनाई होगी।

मनुष्य-शरीर यों ही खो देनेकी वस्तु नहीं है। अपनी वासनाओंकी तृप्ति तो पशु भी कर लेते हैं, परन्तु मनुष्यको अपने बहुज्ञ होनेका गर्व है। उसको इस गर्वके अनुरूप अपना जीवन भी बनाना चाहिये। वासनाका दमन मनुष्यकी शोभा है; अपनेको यथाशक्य दूसरोंकी सेवामें लगाना उसका आदर्श है, आत्मसाक्षात्कार उसके जीवनका प्रधान लक्ष्य है। शारीरिक बल या विद्या सांसिद्धिक बातें हैं, परन्तु इनकी प्राप्तिकी कुछ सहज सीमाएँ भी हैं। दूसरेसे विद्या या बल या वैभवमें कम होना दुःखकी बात हो परन्तु लज्जाकी बात नहीं है, परन्तु अपने धर्मके पालनका

प्रयत्न न करना, अर्थ और कामको धर्मसे श्रेष्ठ मानना, मनुष्यके लिए लाञ्छन है। यह भाव शिक्षाके द्वारा दृढ़ किया जाना चाहिये।

ऐसी शिक्षा पाया हुआ मनुष्य समाजका योग्य नागरिक होगा। सब धर्मसाक्षात्कर्ता नहीं हो सकते, परन्तु धर्म-मार्गपर चलनेकी प्रवृत्ति सबमें होनी चाहिये। कोई विरला ही ब्रह्मवेत्ता होगा, थोड़े ही योगाभ्यासी होंगे, थोड़े ही पूर्णतया निष्काम, पूर्णतया यज्ञभावसे लोकसंग्रहरत हो सकेंगे, परन्तु प्रायः सब परार्थको स्वार्थसे ऊँचा स्थान देंगे, प्रायः सब राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रीय व्यवहारमें सहयोग और सद्भावके समर्थक होंगे।

ऐसी शिक्षा देना कठिन नहीं है। अभेद, एकता, जीवनका स्वरूप है। अविद्याके कारण उसको नानात्वकी, पार्थक्यकी प्रतीति होती है, परन्तु जब कभी थोड़ी देरके लिए भी वह पार्थक्यको भुला पाता है, एकत्वकी झलक पा लेता है, तो उत्फुल्ल हो उठता है। नानात्वके बीचमें भी वह अपनेको ढूँढ़ता रहता है। इसलिए जो शिक्षा उसको एकत्वकी ओर ले जायगी वह उसको ग्राह्य होगी।

ऐसी शिक्षा देना सबका काम नहीं है। साधारण पाठ्यविषयोंके अध्यापक तो बहुत मिल सकते हैं, परन्तु विद्यार्थीको धर्मकी शिक्षा देकर दूसरा जन्म देनेकी योग्यता रखनेवाले आचार्य कम ही होते हैं। यह काम ब्रह्मबन्धुका नहीं, ब्राह्मणका है। आचार्य छात्रके लिए तो पूज्य है ही, समाजका कर्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियोंका समादर करे और उनको निष्कण्टक काम करनेका अवसर दे।

उपसंहार

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋग्वेदका यह मन्त्र बड़े सुन्दर शब्दोंमें उस कठिनाईको व्यक्त करता है जो दर्शनके अध्येता और प्रवक्ताके सामने आती है। यह जगत् कैसे हुआ, हुआ भी या नहीं हुआ, यह कौन जानता है ? कौन कह सकता है ? जहाँतक बुद्धिकी पहुँच है वहींतक ज्ञाता, ज्ञेयका भेद रहता है। शुद्ध ब्रह्म चित्तके परे है, सब भेदोंके ऊपर है। वह चेतना है, चेतन नहीं है, अतः वह इस रहस्यका ज्ञाता नहीं है। परमात्मामें बीजरूपसे सभी ज्ञान है, परन्तु वह जगत्का आदिबिन्दु है, स्वयं मायाकृत है। इसलिए वह भी उस अवस्थाका ज्ञाता नहीं हो सकता जो उसका पूर्वरूप है। कोई अपने जन्मका साक्षी नहीं हो सकता। यह पहेली बुद्धि और वाणीका विषय नहीं है, इसीलिए इसके पहिले मन्त्रमें कहा गया है : 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'—इसको कौन जानता है और कौन यहाँ कह सकता है ?

पुस्तक समाप्त हो गयी। इसको पढ़नेसे कोई और लाभ हो या न हो, इतना तो प्रकट हो ही जाना चाहिये कि दर्शनका विषय बहुत कठिन और साथ ही बहुत रोचक है, उसका जीवनकी सभी समस्याओंसे सम्बन्ध है, उसके ही प्रकाशमें सब अन्य ज्ञेय समझमें आ सकते हैं, वही उन सबको एक सूत्रमें बाँधता है। यदि उस परमतत्त्वको जाननेकी इच्छा किसीमें उत्पन्न हो जाय तो मैं अपनेको धन्य मानूँगा।

इन पृष्ठोंमें जो कुछ प्रतिपादित करनेका प्रयास किया गया है उसको समासेन यों कह सकते हैं—

ब्रह्म ही सत्य है, वह एक, अद्वय, अपरिणामी, चिद्घन है।

आत्मा और जगत् ब्रह्मसे अभिन्न हैं; सुतरां, एक-दूसरेसे अभिन्न हैं।

ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है।

जगत्‌का प्रतीयमान रूप मायाजनित है, इसलिए असत्य है; जगत्‌का वास्तविक रूप ब्रह्म है, इसलिए सत्य है।

आत्मसाक्षात्कारका एकमात्र उपाय योग है। निर्विकल्प समाधिमें अविद्याका क्षय हो जाता है।

वैराग्य, स्वाध्याय, तप, उपासना और धर्मानुष्ठानसे मनुष्यमें योगाभ्यासकी पात्रता आती है।

जो कर्म निष्काम होकर यज्ञभावसे किया जाय, जिस कर्मसे जीव जीवमें अभेदकी वृद्धि हो, वह धर्म है। धर्मसे अर्थ और कामकी भी सिद्धि होती है।

पार्थक्य, विषमता, शोषण, उत्पीड़नका निरन्तर विरोध करना और सौहार्द, सहयोग, विश्वसंस्कृति तथा ऐक्यमूलक सच्छिक्षाके लिए उद्योग करना धर्मका अङ्ग है।

जो तपस्वी और त्यागी है, जिसने समाधि द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त किया है, वही धर्मका प्रवक्ता हो सकता है। समाजको ऐसे व्यक्तियोंके आदेशपर चलना चाहिये। इसमें उसका कल्याण होगा।

बारम्बार जन्म और मरण, कर्मोंकी वर्द्धमान संस्कारराशि, दुःख और अनुपातसे, सदैव डरना चाहिये। इस अज्ञानवृक्षका मूलोच्छेद मनुष्यदेहमें ही हो सकता है। इस अमूल्य देहरत्नका उपयोग न करना अपने पाँवमें आप कुल्हाड़ी मारना है। मनुष्य-शरीरकी शोभा विषयभोग नहीं है; यह सम्पदा तप, ज्ञान और धर्मके लिए मिली है।

मनुष्यका परम पुरुषार्थ मोक्ष है।

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति ॥

इति शम्

परिशिष्ट

धर्म (सदाचार) के स्वरूपके सम्बन्धमें विभिन्न मत और उनके विषयमें शङ्काएँ

[धर्मस्वरूपाधिकरणमें पृष्ठ २२० का अधोनोट देखिये]

१. वाद—ईश्वरकी आज्ञा धर्म है।

शङ्का—ईश्वरकी सत्ताका क्या प्रमाण है? ईश्वर आज्ञा देनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र? यदि स्वतन्त्र है तो सम्भव है कभी आज्ञाका रूप बदल जाय और, जो धर्म है वह अधर्म हो जाय। यदि स्वतन्त्र नहीं है तो फिर उसका नियन्त्रण करनेवाला पदार्थ धर्मका निर्णायक हुआ। ईश्वरकी आज्ञा कैसे जानी जाय? अपनेको ईश्वराज्ञा विज्ञापित करनेवाले सब ग्रन्थ एक ही बात नहीं कहते। यदि मनुष्यकी बुद्धि यह निर्णय कर सकती है कि इन ग्रन्थोंमें कौन ग्रन्थ ईश्वरप्रेरित है तो वह धर्मके स्वरूपका भी आप ही निर्णय कर लेगी। ईश्वरकी आज्ञा क्यों मानी जाय? क्या पुरस्कारकी आशा और दण्डके भयसे किया गया काम धर्म होगा?

२. वाद—श्रुतिकी आज्ञा धर्म है।

शङ्का—ऊपर दी हुई प्रायः सब शङ्काएँ उठती हैं। दो तथाकथित श्रुतिवाक्योंमें हमको यह देखना पड़ेगा कि कौन धर्मानुकूल है, अर्थात् हमको श्रुतिकी परखके लिए धर्मकी कोई स्वतन्त्र कसौटी रखनी होगी।

३. वाद—भीतर जो कर्तव्याकर्तव्य विवेकबुद्धि है उसकी जो प्रेरणा हो वह धर्म है।

शङ्का—विभिन्न देशकालमें यह प्रेरणा विभिन्न रूपोंसे होती है। जिस कामको एक देश या एक कालके लोग भला कहते हैं उसीको दूसरे बुरा कहते हैं। जैसी शिक्षा मिलती है वैसी ही विवेकबुद्धि हो जाती है। अतः इससे धर्मकी कोई स्थिर पहिचान नहीं मिलती।

४. वाद—जिस कामका समर्थन लोकमत करता है वह धर्म है।

शङ्का—एक ही कामको विभिन्न देशों और समयोंका लोकमत एक ही दृष्टिसे नहीं देखता। जो बलवान् है और अपनी इच्छाओंकी पूर्तिके लिए समाजका आश्रित नहीं है वह लोकमतका क्यों अनुसरण करे? युद्ध या अन्य आवेशकी अवस्थाओंमें लोकमत जिन बातोंका समर्थन करता है, पीछेसे उन्हींको नापसन्द करता है। कई विचारोंका, जिनका आज समर्थन हो रहा है, एक समय विरोध हुआ था।

५. वाद—जो काम सामाजिक जीवनका पोषक है वह धर्म है।

शङ्का—सामाजिक जीवनका पोषण क्यों किया जाय? जिस कामसे सामाजिक जीवनकी पुष्टि होती है उसकी परख सामाजकी तत्कालीन पसन्द है या कुछ और?

६. वाद—जिस कर्मका उद्देश्य अच्छा हो वह धर्म है।

शङ्का—यदि देशकी समृद्धि बढ़ानेके विचारसे कोई जनसंख्याको कम करनेके लिए नवजात शिशुओंको मारने लगे तो क्या यह धर्म माना जायगा?

७. वाद—जिस कर्मका परिणाम अच्छा हो वह धर्म है।

शङ्का—किसके लिए अच्छा? यदि दूसरोंके लिए, तो मैं दूसरोंका क्यों खयाल करूँ? यदि किसीको मारनेके लिए विष दिया जाय और वह विष उस व्यक्तिके किसी रोगको अच्छा कर दे तो क्या यह विष देना धर्म कहा जायगा? अच्छा परिणाम किसे कहते हैं? अव्यवहित परिणाम देखा जाय या

व्यवहित ? एक जुआरी चोर डूब रहा है, उसको बचाना उसको अच्छा लगता है, पर बचनेपर वह लोगोंको लूटेगा और तंग करेगा। यहाँ धर्मका निर्णय कैसे हो ? यदि परिणामोंके योगसे, तो परिणाम कैसे जोड़े जायँ ? मेरे दिये पैसोंसे एकने मिठाई खायी, एकने बीड़ी पी, एकने नाटक देखा, एकने समाचारपत्र लिया। इन परिणामोंका जोड़ कैसे होगा ? किसके चित्तपर क्या परिणाम पड़ा यह कैसे जाना जायगा ?

८. वाद्—जिस कामसे अधिकतम सुख उत्पन्न हो वह धर्म है।

शङ्का—किसके लिए ? यदि दूसरोंके लिए, तो मैं उनका क्यों खयाल करूँ ? अधिक लोगोंका सुख देखा जाय या सुखकी अधिक मात्रा ? दस मनुष्योंको आधा पेट खिलाना अच्छा है या दोको भर पेट ? क्या सुख बराबर हैं ? दस मनुष्योंको मद्यपान करनेका सुख दूँ या दोको दर्शन अध्ययन करनेका ? सुखोंमें ऊँचे-नीचेकी क्या परख है ?

९. वाद्—जिस काममें आत्माभिव्यक्ति और आत्माभिवृद्धिकी अनुभूति हो वह धर्म है।

शङ्का—कुशल जेबकटको भी ऐसा अनुभव होता है। केवल अपने स्वार्थके लिए दिग्विजयपर निकले हुए सेनानीको भी शत्रुसेनाको कुचल डालनेमें वही अनुभूति हो सकती है। क्या वह धर्मात्मा है ?

१०. वाद्—हमको सामान्यतः जगत्का ज्ञान दिक्, काल और कार्य-कारण भावके व्यवधानसे होता है। चित्तके यह धर्म जगत्के वास्तविक रूपको छिपा देते हैं। जब कभी कर्तव्य-बुद्धि उदित होती है तो हमको दिगादिका अतिक्रमण करके जगत्के स्वरूपका तात्कालिक अव्यवहित ज्ञान होता है।

ऐसी बुद्धिसे जो काम किया जाता है वह धर्म है। धर्मके तीन लक्षण हैं—

(क) वह अन्तःप्रेरणाके रूपमें होता है। यह अन्तःप्रेरणा आज्ञारूपी 'ऐसा करना चाहिये' या 'ऐसा करो' होती है और अहैतुक भी होती है; उसके साथ हेतु, कारण, की भावना नहीं लगी होती।

(ख) उसमें अपने भोगके लिए कोई स्थान नहीं होता। जहाँ भोग होता है वहाँ सुख भी रहता है, परन्तु कर्तव्यके साथ सुख तो नहीं ही होता, वह काम कुछ कडुवा-सा लगता है।

(ग) हमको ऐसा प्रतीत होता है कि वह काम सब लोगोंके लिए करणीय है। चोर यह नहीं चाहता कि सब लोग चोरी करें, परन्तु सच बोलनेवाला चाहता है कि सब सच बोलें।

शङ्का—ऐसा हो सकता है कि अन्तःप्रेरणा हमारे राग-द्वेषके कारण होती हो। अपने शत्रुको देखकर भी कभी-कभी ऐसी अन्तःप्रेरणा होती है कि 'इसे मार डालो'। पागल भी अपनी अन्तःप्रेरणाके अनुसार काम करता है।

यह भी विचारणीय है कि ऐसी अन्तःप्रेरणा कहाँतक कर्ताकी शिक्षा और संस्कृतिका परिणाम है और कहाँतक उसके स्वभावपर निर्भर करती है।

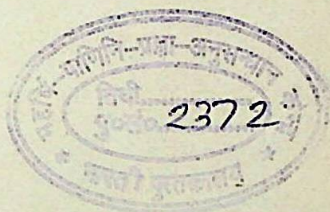
यह नहीं कहा जा सकता कि अप्रिय लगना धर्मका लक्षण है। अपने चित्तका अनुशीलन करनेसे पता लगेगा कि सच बोलना या त्याग करना उस समय अप्रिय नहीं लगता, चाहे पीछेसे भले ही कष्ट हो।

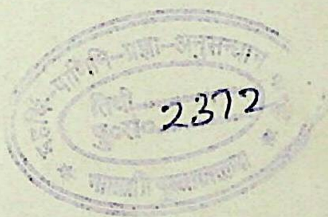
यह मत ख्यातनामा विद्वानोंके द्वारा प्रवर्तित किये गये हैं। इतने थोड़ेमें इनके विषयमें ऊहापोह नहीं हो सकता, केवल सङ्केतमात्र कर दिया गया है। 'जीवन और दर्शन'में किञ्चित् अधिक विस्तृत विचार किया गया है। मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि जिस सिद्धान्तका प्रस्तुत

पुस्तकमें प्रतिपादन किया गया है उससे इन सब शंकाओंका उत्तर मिल जाता है। धर्मका लक्षण ऐसा होना चाहिये जो ईश्वर, श्रुति, कर्ताके तात्कालिक उद्देश्य आदिपर निर्भर न हो, ताकि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवसरपर अपनी बुद्धिके अनुसार उसका उपयोग कर सके। बुद्धिदोषसे ठीक-ठीक परीक्षा करनेमें भले ही भूल हो जाय, परन्तु सिद्धान्त निरपेक्ष होना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टिसे इन सभी मतोंमें अच्छाइयाँ हैं और इन सबका हमारे मतमें अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुक्रमणिका




2372




ज्ञान